डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

साहित्य के समाजशास्त्रीय अनुशीलन की परम्परा विश्व की विविध भाषाओं के साहित्य में समादृत प्रणाली है। इसके द्वारा लेखक तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उस साहित्यिक विधा, साहित्यकार अथवा विशिष्ट युग के साहित्य का आकलन, विश्लेषण एवं समालोचन करता है। इसी परम्परा मे हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का समाजभाषाशास्त्रीय अध्ययन इस पुस्तक का अभीष्ट है। अन्तर्अनुशासनात्मक शोध की दिशा में यह एक स्तुत्य प्रयास है, जिसमें आंचलिक उपन्यासों का न केवल रूपात्मक एवं विधात्मक विश्लेषण विवेचन हुआ है, वरन् समाजशास्त्रीय एवं भाषात्मक भी। इसके लिए कथालोचन के अधीत विद्वान लेखक ने सभी आंचलिक उपन्यासों में अवगाहन किया है, परन्तु उनकी दृष्टि फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यासों पर केन्द्रित है। इसलिए कि उन्हें ही आंचलिकता की परम्परा का प्रतिष्ठापक कहा जाता है। 'मैला आंचल' से ही इस विधा को 'आंचलिक उपन्यास' की संज्ञा मिली।

इस कृति में उपन्यस्त समाज के अनुशीलन द्वारा तत्कालीन समाज एवं उसकी संस्थाओं, संरचना आदि का आकलन तो हुआ ही है, भाषाशास्त्रीय अध्ययन द्वारा आंचलिक जीवन को समग्रता में आँकने का प्रयास भी हुआ है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

(आलोचना)

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

चित्रलेखा प्रकाशन

170, अलोपी बाग, इलाहाबाद—211006

प्रथम संस्करण : 1989

मूल्य : 100·00 रुपये

प्रकाशक : चित्रलेखा प्रकाशन, 170, अलोपी बाग, इलाहाबाद—211006
मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग केन्द्र, पीलीकोठी, कीडगंज, इलाहाबाद—211003

अपनी ज्येष्ठ पुत्री मनीषा को समर्पित

क्रम

भूमिका

विषय का महत्व

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय साहित्य, विशेषत: हिन्दी के साहित्य को दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। एक ओर उसने हर विधा में जिए तथा भोगे हुए जीवन-सत्य को उजागर किया, तो दूसरी ओर देश के उपेक्षित अंचलों को सजीवता के साथ चित्रित किया। अंचलों की ओर ध्यान जाना अनुभव की दृष्टि से महत्वपूर्ण था ही, अपने देश के वास्तविक स्वरूप को जानने-पहचानने की दृष्टि से भी उल्लेख्य रहा। ''एक ओर साहित्य अनुभव की प्रामाणिकता की आवाज उठा रहा था, दूसरी ओर स्वतन्त्र भारत में उपेक्षित और महत्वहीन माने जाने वाले गाँवों और अन्यान्य जंगलों की महत्ता का उदय हो रहा था। दोनों का संगम हुआ आंचलिक कथाओं में।''[1]

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास-साहित्य में आंचलिक उपन्यास सर्वथा नवीन विधा के रूप में विकसित हुआ और दो दशक की अल्पावधि में अनेक श्रेष्ठ उपन्यास प्रकाशित हुए। इसने साहित्य को गतिशील और समृद्ध बनाया। राष्ट्र एवं समाज की सांस्कृतिक मर्यादा का अन्वेषण-विश्लेषण-विवेचन इसका मूल लक्ष्य रहा। इससे उपन्यास-शिल्प को नया सन्दर्भ मिला, अंचल विशेष की समग्र विशेषताएँ भी उद्घाटित हुईं। ''आंचलिक उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास शिल्प को नये सन्दर्भ दिये तथा गतिशील परिप्रेक्ष्य में अंचल विशेष की समग्र विशेषताओं को प्रस्तुत कर निश्चय ही एक ताजगी और नयापन दिया है।''[2] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी उपन्यास साहित्य में इस नई विधा के प्रवेश का स्वागत करते हुए लिखा है, ''इधर उपन्यास की विषय-वस्तु और लेखन-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता तथा गतिहीनता की स्थिति को देखकर कुछ लेखकों ने अपने लेखन की पुरानी परिपाटी बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण रीति-नीति, जातियों और स्थितियों के चित्रण को अपनाया।''[3]

आंचलिक उपन्यास 'रेणु' के पूर्व भी लिखे गये, परन्तु उसे आंचलिक नाम देने का प्रारम्भ उनके 'मैला आंचल' से माना जाता है। आंचलिकता बड़ा व्यापक

अभिधान है, जिसके अन्तर्गत आंचलिक जीवन से सम्बन्धित ग्राम्य जीवन की आशा-आकांक्षाएँ, उनके रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार धर्म दर्शन, रूढ़ि-अन्धविश्वास, बोली, लोकगीत आदि सभी आ जाते हैं। यह सर्वथा नवीन वस्तु नहीं, वरन् दृष्टिकोण की नवीनता अवश्य है। आधुनिक उपन्यासकार भले ही वर्तमान परिस्थिति या परिवृत्ति को अस्वीकारे, परन्तु नये स्तर पर किसी परिवृत्ति का स्वीकार या उसके साथ समन्वय की स्थापना नहीं कर सका। आंचलिकता नई विधा है— इसमें दो मत नहीं, परन्तु उसका नयापन न तो विषयवस्तु का नयापन है, न विधान का, न कथानक का, न रूपाकार का। वह मूलतः जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है।

दृष्टिकोण के इसी नयेपन का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन-विश्लेषण होना चाहिये, क्योंकि उपन्यास में समाज की प्रगति का हर पहलू प्रतिबिम्बित होता है। साहित्य जहाँ समष्टिगत चेतना का व्यापक कलरव है—युग-मंगल का सक्षम सारथी है, वहाँ उसका ही अंग उपन्यास जीवन की जटिलता और संघर्ष को रूपायित करता है। वह समाज का उसके विविध आयामों और परिपार्श्वों में चित्रण करता है। सबका केन्द्र-बिन्दु है—समाज और उसमें जीने वाला जनसमुदाय। आंचलिक उपन्यासों ने अपने सम्बन्धित अंचल की प्रत्येक गतिविधि का जीवन्त चित्रण किया है। अतएव, उन उपन्यासों में व्यक्त समाजशास्त्रीय पहलुओं के उद्घाटन, विवेचन से अध्ययन के नये क्षितिज का निर्माण होगा। विभिन्न आंचलिक उपन्यासों में प्रयुक्त भाषा पर तत्सम्बन्धी अंचल की बोलियों का प्रभाव स्पष्ट है। उससे स्थानीयता का रंग उभरता है—अंचल विशेष को निकट से परीक्षण का अवसर मिलता है। अतएव, समाजशास्त्रीय अध्ययन के साथ-साथ भाषाशास्त्रीय अध्ययन द्वारा सम्पूर्ण भारत के विभिन्न जनपदों, ग्रामों और अंचलों को समग्रता से समझने का प्रयास एवं सर्वसम्मत प्रचलित व्याकरणिक संरचना के साथ सम्बन्धित भाषा का तुलनात्मक अध्ययन शोध के नये गवाक्ष खोलता है।

पूर्ववर्ती अध्ययन का सर्वेक्षण

जब १९५४ में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' प्रकाशित हुआ और इसी से आंचलिक विधा का नामकरण हुआ तब आलोचकों का ध्यान इसकी दीर्घ परम्परा की ओर गया। इस परम्परा का विकास शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' से लेकर प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों से जोड़ा जाने लगा। दूसरी ओर स्थान-विशेष को आधार मानकर उपन्यास लिखना प्रारम्भ हो गया अथवा प्रदेश का चित्रण करने वाली प्रत्येक कृति को आंचलिक कहा गया जबकि इसके पूर्व उन्हीं कृतियों को यथार्थवादी अथवा समाजवादी कहकर काम चलाया जाता था। इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि जब कोई विधा अपने विकास की स्थिति से

गुजर रही होती है, तब उसका रूप-निर्धारण और सीमा-निर्धारण कठिन काम होता है। परन्तु आंचलिक उपन्यास इस दौर से गुजर चुका है। यद्यपि आंचलिक उपन्यास के सृजन का काल अभी बीता नहीं है (कोई प्रवृत्ति न एक बार जन्म लेती है और न सहसा मिटती ही है) तथापि आंचलिक कृतियों के विकास की सभी दिशाएं स्पष्ट हो चुकी हैं और अध्ययन-चिन्तन के द्वार उन्मुक्त हो गए हैं।

अब तक आंचलिक उपन्यासों पर स्वतन्त्र रूप से कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। श्री राधेश्याम कौशिक 'अधीर' की 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' (१९६२) में आंचलिक उपन्यासकारों और उनकी कृतियों का सामान्य और संक्षिप्त विवरण भर है। श्रीप्रकाश वाजपेई के 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' (१९६४) में भी 'अधीर' की परम्परा का पोषण है। कारण, यह सौ पृष्ठों मात्र की पुस्तक एम० ए० के लघु प्रवन्ध का परिवर्तित रूप है। राजस्थान विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत डॉ० आदर्श सक्सेना का शोध प्रबन्ध 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि' १९७१ में प्रकाशित हुआ, जिसमे आंचलिकता का स्वरूप विवेचन, हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता का विकास, आंचलिक उपन्यासों का वर्गीकरण तथा उसके शिल्प का विस्तृत एवं व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। १९७३ ई० में पूर्णदेव की पुस्तक 'रेणु का आंचलिक कथा साहित्य' प्रकाशित हुई, जिसमे रेणु के उपन्यासों की विवेचना की गई है तथा 'हिन्दी कथा साहित्य मे आंचलिक चित्रण की रेणु पूर्व स्थिति' शीर्षक के अन्तर्गत रेणु पूर्व आंचलिकता के विकास पर विहंगम दृष्टिपात किया गया है। डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त ने 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-चेतना' (१९७४) पुस्तक में ग्राम चेतना के सामाजिक आयामों की विवेचना करते हुए स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यासों की भी चर्चा की है। उनकी पुस्तक का अभीष्ट ग्राम चेतना को उजागर करना है—उसी क्रम में आंचलिकता और उससे सम्बन्धित कृतियों का भी आकलन हुआ है। १९७४ में ही डॉ० विवेकीराय ने 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन' में 'आंचलिक शिल्प का विकास' अध्याय के अन्तर्गत आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि का विकास तथा स्वातंत्र्योत्तर शिल्प विधि पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। १९७५ ई० में डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त ने पुनः एक छोटी पुस्तक (पृ० ११२) 'आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प', प्रकाशित की, जिसमें दस लेखकों के दस आंचलिक उपन्यासों की अपेक्षाकृत विस्तृत समीक्षा है। परन्तु यह छोटी पुस्तक उन दस लेखकों की प्रतिनिधि कृति को जाँचने-परखने के लिए बड़ी उपयोगिनी है। १९७६ में डॉ० कुमारी नगीना जैन का स्वीकृत शोध प्रबंध (पीएच० डी० उपाधि हेतु आगरा विश्वविद्यालय) 'आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास' प्रकाशित हुआ, जिसमें आंचलिक उपन्यासों की परम्परा का उल्लेख करते हुए प्रमुख आंचलिक उपन्यासकारों की कृतियों का विवेचन-विश्लेषण हुआ। हिन्दी के आंचलिक

उपन्यासों के साथ अन्य प्रांतीय भाषाओं के आंचलिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया। १९७८ ई० में डॉ० ह० के० कड़वे की पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता' प्रकाशित हुई, जिसमें हिन्दी की आंचलिकता पर विभिन्न विदेशी भाषाओं में प्रयुक्त आंचलिकता का प्रभाव दिखाकर उसके विविध आयामों को बड़ी बारीकी के साथ स्पष्ट किया गया है। डॉ० इन्दुप्रकाश पांडेय ने १९७९ ई० में 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन सत्य' पुस्तक में आंचलिक उपन्यासों की परम्परा और प्रवृत्ति की विवेचना करते हुए उसमें व्यक्त जीवन-सत्य का उद्घाटन किया है। उनकी एक पुस्तक 'रीजनलिज्म इन हिन्दी नावेल' १९७४ में प्रकाशित हुई। 'स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास' (सुभाषिनी शर्मा), 'नागार्जुन का जीवन और साहित्य' (डॉ० प्रकाशचन्द्र भट्ट), 'हिन्दी में आंचलिक उपन्यास' (मधुकर गंगाधर), 'पिछले दशक की देन' (डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय), 'आंचलिक उपन्यास : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि' (विश्वनाथ तिवारी), 'आंचलिकता और आधुनिक परिवेश' (डॉ० शिवप्रसाद सिंह), 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' (डॉ० ज्ञान अस्थाना), 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि' (डॉ० जवाहर सिंह) आदि पुस्तकों में आंचलिक उपन्यासों के वस्तुविन्यास, प्रवृत्तियों, विशेषताओं, शिल्पविधि आदि विविध आयामों पर सम्यक् रूप से विवेचन किया गया। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के समाजशास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय विवेचन की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। अध्ययन-विश्लेषण का यह क्षेत्र सर्वथा अछूता एवं नवीन है—इसीलिए इस विषय की ओर मैं प्रवृत्त हुआ।

विषय का क्षेत्र और सीमा

उपन्यास जीवन के समानांतर चलने वाली विधा है। अतः जीवन-परिवर्तन उपन्यास में प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक बात है। हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की रचना इतिहास की प्रकृत मांग कही जायेगी। आंचलिकता ने औपन्यासिक जगत में नवीनता और जीवंतता का संचार किया। क्षेत्रीयता को भी कथ्य के रूप में देखकर उन सभी उपन्यासों को आंचलिक कहा जाने लगा, जो किसी प्रदेश या अंचल विशेष के चित्रण से सम्बन्धित हैं। आंचलिक उपन्यासों पर विचार करते हुए प्रायः सभी आलोचकों का ध्यान उसके कला पक्ष और रूप-विन्यास का अध्ययन रहा। उपन्यासकारों ने भी आंचलिकता को स्वीकार करते समय अंचल के भौगोलिक परिवेश के चित्रण पर अधिक बल दिया या अंचल की संस्कृति की व्याख्या अपने स्वीकृत मूल्यों के आधार पर की। इन सबके पीछे समाज का चित्रण है—उसकी आशा-आकांक्षाओं, सीमाओं-दुर्बलताओं का बहुरंगी चित्र है, जिनका समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन इस शोध का विषय है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक विशेष और अपरिहार्य अंग है भाषाशास्त्रीय

अध्ययन । कारण, किसी की भाषा में उसका पूरा समाज, परिवेश और आवेष्टन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ढंग से व्यक्त होता है। अतएव, बिना भाषाशास्त्रीय अध्ययन के समाजशास्त्रीय अध्ययन अधूरा किंवा अपूर्ण रहता है। दूसरी बात यह विचारणीय है कि किसी अंचल विशेष की पहचान वहाँ की प्रयुक्त भाषा और बोली से होती है— केवल स्थानीयता या आंचलिकता के वर्णन से नहीं। सर्वसम्मत व्याकरणिक नियमों की दृष्टि से आंचलिक भाषा में कैसे कैसे परिवर्तन एवं विचलन दृष्टिगत होते हैं— इसका अध्ययन मेरा अभीष्ट है। इस प्रकार सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य में आंचलिक कहे जाने वाले उपन्यासों का सम्यक् अध्ययन, विवेचन होगा, परन्तु फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यासों का ही समाजभाषाशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकेगा। इसलिए कि रेणु ही सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास के जन्मदाता, अग्रणी कहे जाते हैं। रेणु पूर्व भी आंचलिक उपन्यास लिखे गये, पर आंचलिकता कहकर किसी का ध्यान उस ओर नहीं गया। आंचलिक उपन्यासों के पूरे सन्दर्भ में रेणु के आंचलिक उपन्यासों का समाजभाषाशास्त्रीय अध्ययन इस शोध का लक्ष्य है।

आंचलिक उपन्यास का सैद्धांतिक विवेचन

हिन्दी भाषा में देश के एक प्रांत-भाग के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'अंचल' शब्द मूलतः संस्कृत शब्द 'अञ्चल' है। यह पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'अञ्च' धातु में 'अलच्' प्रत्यय के योग से बना है तथा व्याकरणिक दृष्टि से योग रूढ़ है। 'अञ्च' धातु पाणिनीय धातु के प्रसिद्ध दस गणों में से प्रथम 'भ्वादि' गण में प्रयुक्त है तथा उभयपदी है। 'अलच्' प्रत्यय 'कृदंत-प्रत्यय' के एक भाग 'उणादि' प्रत्ययों में उपलब्ध होता है। यद्यपि सम्पूर्ण 'उणादि' प्रकरण में कहीं भी इस प्रकार का विशेष विधान नहीं है जिसके आधार पर 'अञ्च' धातु में 'अलच्' प्रत्यय का योग कर 'अञ्चल' शब्द की व्युत्पत्ति की जा सके तथापि पाणिनीय व्याकरण में एक सूत्र है-'मङ्गेरलच्'।[४] यहाँ 'मङ्ग' धातु में 'अलच्' प्रत्यय का योग कर 'मङ्गल' शब्द का निर्माण किया गया है। इसी शब्द के साम्य पर 'अञ्चल', 'चञ्चल' आदि शब्द बने हैं।

'हलायुध कोश'[५] मे कोशकार ने 'अञ्चल' शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार की है—

> 'अञ्चल : पु० (अञ्चति प्रांत भागं गच्छति। अञ्च+अलच्)
>
> वस्त्र प्रांत भागः। आंचल इति भाषा।'
>
> 'ऊः: कुरङ्ग का दृशश्चञ्चल चेलाञ्चलो भाति'
>
> इति साहित्य दर्पणे।
>
> 'कर्पास वादरं प्रोक्तं वस्त्रयान्तोमतेञ्चलः।'

'पद्मचंद्रकोश'[६] में भी कोशकार ने 'अंचल' शब्द का अर्थ वस्त्र का छोर, कोन का भाग, कपड़े का कोना, पल्ला ही लिया है।

'अञ्च' धातु का अर्थ है 'गति' या 'पूजा' और 'अलच्' उणादि प्रत्यय है, अतः इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है परन्तु पूर्ण शब्द 'अंचल' का अर्थ होता है—जो गमन करता है, जिसमें गति है। इस आधार पर साड़ी का छोर या प्रांत भाग, अंचल कहलाने लगा। यह शब्द योगरूढ़ है परन्तु इसका लाक्षणिक प्रयोग पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत होता है। इसी आधार पर यह शब्द केवल वस्त्र के प्रांत-भाग के लिए प्रयुक्त न होकर अन्य वस्तुओं के प्रांत-भाग या छोर के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—'दृगंचलै पश्यति केवल मनाक।[७]

'अंचल' शब्द से आंचलिक विशेषण 'अंचल' शब्द में तद्धित 'ठञ' प्रत्यय के योग से बनता है। पाणिनीय सूत्र[८] 'ग्रामजन पदैक दैशात अजठञो'। ४। ३। ७ के अनुसार इस प्रकार निर्मित होने वाले शब्द का अर्थ होता है—'किसी देश या प्रांत-भाग से सम्बन्धित वस्तु विशेष।'

इसी आधार पर अन्य आलोचकों ने अपनी-अपनी परिभाषाएँ दी हैं। "आंचलिक उपन्यास में लेखक देश के किसी विशेष भू-भाग पर ध्यान केन्द्रित करके उसके जीवन को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी अनन्य विशेषताओं, विशिष्ट व्यक्तित्व, रीति परम्पराओं तथा जीवन-विधा के प्रति सचेष्ट व आकृष्ट हो जाता है।"[९] कोशों में भी ऐसी ही परिभाषाएँ दी गई हैं।

"कुछ लोगों की यह प्रवृत्ति-विशेष, जिसके अन्तर्गत उनकी कृतियों की पृष्ठ-भूमि में राष्ट्र का कोई अंचल विशेष रहता है, जिसका विस्तृत वर्णन, उसके निवासियों के जीवन और व्यवसाय-व्यवहार आदि के समेत उसमें समाविष्ट रहता है।"[१०]

"कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश-विशेष का यथातथ्य और बिंबात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है तो उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है।"[११]

श्री धनंजय वर्मा ने आंचलिक उपन्यासों की अनिवार्य शर्त स्थानीय रंगों का उभार माना है। उनके अनुसार "उपन्यासों मे लोक रंगों को उभारकर किसी अंचल विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास कहा जायेगा।"[१२]

डॉ० रामदरश मिश्र ने इसे अंचल और जनपद के जीवन से सम्बन्धित माना है—"आंचलिक उपन्यास अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है, उसका सम्बन्ध जनपद से होता है। ऐसा नहीं, वह जनपद की ही कथा है।"[१३]

अंग्रेजी साहित्य में 'रीजनल नावेल' (आंचलिक उपन्यास) हिन्दी से बहुत पहले ही उपलब्ध थे। उनके विचार हिन्दी के आलोचकों के विचारों के समानार्थी हैं। विभिन्न विचारों और परिभाषाओं से आंचलिक उपन्यास का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

"Maria Edgeworth gave fiction a local habitation and a name....She invented in otherwords the regional novel, in which the very nature of the novelist's characters is conditioned, received its bias and expression from the fact that they live in a country side differentiated by traditional way of life from other country side"[१४]

एन्थनी सोर्स ने भी ऐसी ही परिभाषा दी है--"Again there are writers whose aim is not to represent the social life of a particular period as a whole but to point a specific locality, or place with its peculiarities of speech, habits, dress and manners.[१५]

ब्रिटेनिका इन्साइक्लोपीडिया की पंक्तियाँ उद्धृत करना वांछनीय होगा—"आंचलिक उपन्यास एक गम्भीर शैली है जो मेरिया एड्जवर्थ के 'आइरिश प्राविंशियल लाइफ' और बालजाक के 'ला कामेड्हिुमैनिए' में क्षेत्रीय जीवन के दृश्यों के विवरण से कितनी ही दिशाओं में विकसित हुई है। उदाहरणार्थ—दक्षिणी जीवन पर अमेरिकी उपन्यास और ग्रामीण, शहरी तथा महानगरीय समाज की अनेक महान् कथा कृतियाँ — यथा जार्ज इलियट का 'मिडिल मार्च', सिनक्लेयर लुइ का 'मेन स्ट्रीट्स' तथा बालजाक का 'ले पैरे बोरिओ'।"[१६]

डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स में इसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है। "The tendency of some writers to set Their works in a particular locality, presented in some detail as affecting the lives and fortunes of the inhabitants.[१७]

अर्थात् लेखक की अपनी कृति को अंचल विशेष की आधारभूमि पर निर्मित करने तथा वहाँ के निवासियों के जीवन और प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय स्वीकारते हैं कि शुद्ध आंचलिक उपन्यासों के निर्माण में हार्डी एवं रूसी उपन्यासों के ऋण को स्वीकृत किया जा सकता है क्योंकि उन्हीं उपन्यासों से हमारे लेखकों का ध्यान अपने पिछड़े जन-जीवन के चित्रण की ओर गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने विदेशी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की। (हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - कान्ति वर्मा, प्राक्कथन)

श्री अज्ञेय का विचार है कि अंग्रेजी उपन्यासों द्वारा रूसी, फ्रांसीसी उपन्यास साहित्य का प्रभाव हिंदी उपन्यास की गतिविधियों पर पड़ा है। वे कहते हैं—"आधुनिक उपन्यास की चर्चा करते समय विषय को मुख्यतया अंग्रेजी उपन्यास तक ही सीमित रखना विश्व-साहित्य में उपन्यास के विकास को एकांगी रूप देना है और स्वयं अंग्रेजी उपन्यास को भी अधूरा देखना है क्योंकि, विशेषतया उत्तरकाल में, वह

दूसरी भाषाओं के साहित्यों और साहित्यिक आन्दोलनों से विशेष रूप से प्रभावित होता रहा है। फिर भी, जहाँ तक हिन्दी उपन्यास का प्रश्न है उसकी गतिविधि बहुत कुछ अँग्रेजी उपन्यासों के समानांतर रही है और दूसरे साहित्यों का, यथा रूसी और फ्रांसीसी साहित्यों का प्रभाव उसने अँग्रेजों के माध्यम से ही ग्रहण किया।" (हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य—अज्ञेय, पृ० ७२)

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय उपन्यास साहित्य पर पाश्चात्य भाषाओं के साहित्य से केवल अँग्रेजी साहित्य का ही नहीं, बल्कि इसके माध्यम से रूसी और फ्रांसीसी साहित्यों का प्रभाव भी पड़ा है। अतएव, भारतीय उपन्यास का सच्चा स्वरूप समझने के लिए अंग्रेजी, अमेरिकन के साथ-साथ रूसी एवं फ्रांसीसी उपन्यास साहित्य का भी संक्षेप में विचार करना चाहिए। डॉ० कांति वर्मा इस मत का समर्थन करती हैं—"यों तो स्वतन्त्रता से पूर्व भी हिन्दी उपन्यास पर गोर्की, हार्डी, चेखव, दोस्तोवस्की, टॉलसटाय, अनातोले फ्रांस, पर्लबक आदि अनेक उपन्यास-कारों का प्रभाव पड़ा है। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद यह प्रभाव कान्ति वर्मा के अनुसार गहन और तीव्र हो गया। इसकी व्यापकता बढ़ी। इन्होंने जेम्स जॉयस, वर्जिनिया वुल्फ तथा लारेंस की चेतना प्रकट शैली का प्रभाव नवीन आंचलिक उपन्यासों पर परिलक्षित किया है।

आंचलिकता की प्रवृत्ति के दर्शन अमेरिकी आंचलिक उपन्यासों में होते हैं। वहाँ इस प्रवृत्ति का शक्तिशाली, सुगठित एवं व्यक्त व्यापक रूप देखा जा सकता है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह के मतानुसार अमरीकी साहित्य में कम से कम दो हजार विशिष्ट आंचलिक कृतियाँ रची गईं। (कल्पना, मार्च ५६) इस आन्दोलन का अधिक प्रचार उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में देखा जा सकता है। कारण, उत्तर की अपेक्षा दक्षिण के लोग कृषि-प्रधान तथा निग्रो बहुसंख्यक हैं। नगरीय तथा औद्योगिक जीवन की प्रतिक्रियास्वरूप आंचलिकता की यह प्रवृत्ति विकसित हुई है। इस आन्दोलन को नवक्षितिज आन्दोलन (New Frontiers Movement) भी कहा गया है।

थामस हार्डी ने भी स्वीकार किया है कि उन्होंने जितने उपन्यास लिखे उसमें चित्रित जीवन स्थानीय रंग लिए हुए है, वे किसी प्रकार की क्षेत्रीय परिभाषा की माँग करते हैं ताकि उनके दर्शाए दृश्य में ऐक्य की अनुभूति हो। उनका स्पष्ट कहना है—

"The series of novels I projected, being mainly of the kind called 'local' they seemed to require a territoirial definition of some sort to lend unity to their scene finding that the area of a simple country did not afford a canvas large enough for this purpose. I disinterred the old one. It was in the chapter of Far

From the Madding crowd' that I first ventured to adopt the word 'Wessex' form the pages of early English History & give it fictitious significance, as the existing name of the district, once included in the extinct kingdom." (Thomas Hardy : Far From the Madding Crowd, 1874, Introduction)

परिचित अंचल विशेष को कथा का आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास आंचलिक कहा जायेगा। मेरे ख्याल से वही आंचलिक उपन्यास अधिक सफल सिद्ध हो सकता है, जिसमें कथा बुनने के लिए किसी ऐसे अंचल को चुना गया हो, जिसकी विशेषताओं से लोग कम परिचित हों।[१८]

आंचलिकता की बहुत सारी परिभाषाएँ दी जा सकती हैं, जिनका आधार हिन्दी या अँग्रेजी के आलोचना ग्रंथ हैं पर मिखाइल शोलोखोव के 'धीरे बहे दोन' और 'मिसीसिपी नदी की कहानी'[१९] पढ़कर यह धारणा अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होती है कि 'अंचल' शब्द के उच्चारण से जिस क्षेत्र का बोध होता है, वह शहर के कोलाहल, भाग-दौड़, आपाधापी से दूर निश्चय कोई गाँव या देहात है या ऐसे उपेक्षित भूखण्ड हैं, जिनकी भूमि और जहाँ के लोगों का जीवन सर्वथा उपेक्षित और अपरिचित है। डॉ० रांगेय राघव ने भी इस मत की पुष्टि की है—"....पर असली भारत गाँव में है, जो अब भी मध्यकालीन विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियन्त्रित हैं। मैंने उनको स्पष्ट करने का यत्न किया है।"[२०] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आंचलिक उपन्यासों में निश्चय ही किसी एक अपरिचित एवं उपेक्षित ग्राम या भूखण्ड की आशा-आकांक्षाएँ, विशेषताएँ-दुर्बलताएँ बड़ी ईमानदारी से चित्रित होती हैं। उस अंचल विशेष के प्रति आत्मीयता आंचलिक उपन्यासकार के लिए पहली और आखिरी शर्त है।

आंचलिकता तथा स्थानीय रंग में अन्तर

अंचल को उसकी समग्रता और सम्पूर्णता में व्यक्त करने के लिए उस अंचल की भौगोलिक संस्कृति के वातावरण में होने वाले मानवीय कार्य-कलापों को यथा-चित्र घटना के रूप में ग्रहण किया जाता है। ये घटनाएँ स्वभाव कल्पित और दैनिक भी हो सकती हैं। इन घटनाओं के आधार पर उन्हें ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विकास की कसौटी पर रखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण बनाना पड़ता है। प्रत्येक अंचल की निजी विशेषताएँ हैं—उसकी भौगोलिक स्थिति, धरती, क्षेत्र-विस्तार एवं प्राकृतिक साधन पृथक्-पृथक् हैं। उसमें विकासमान मानव-जीवन की साधना का काल, धर्म, जाति और इतिहास भी भिन्न है। फलतः उसकी आर्थिक सामाजिक प्रणाली भी अलग-अलग है। अंचल के व्यक्तित्व के बनने और उभरने से उत्पन्न स्थिति एक

विशिष्ट सत्ता का कारण बनती है। प्रमुखता उस धरती की है, उसके धड़कन और स्पन्दन की है जो उसके कण-कण में प्रवाहित है। वस्तुत: भौगोलिक संस्कृति, ऐतिहासिक परम्परा और वैज्ञानिक माध्यम मिलकर ही 'अंचल' को नायकत्व प्रदान करते हैं। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने भी इस मत की पुष्टि की है—"गाँव कोई आदमी है कि उसका कुछ होता रहेगा। अरे भाई यह तो खेमा है। कभी उखड़ता है, कभी गड़ता है। कभी बुरे दिन आते हैं। कभी अच्छे दिन आते हैं। कभी बिगड़ता है, कभी सँवरता है। असली चीज तो धरती है। आप क्या समझते हैं कि अब दुनिया को धरती से कोई मतलब न रहा? धरती ही सब कुछ देती है, विपिन बाबू! उसके बिना आदमी का गुजर नहीं...।"[२१] इस नायक के व्यक्तित्व के अन्वेषण, उसे मूर्त रूप देने के लिए उस क्षेत्र विशेष की प्राकृतिक बनावट, क्षेत्रफल, खेत, सीमाओं, नदी, पहाड़, मैदान, पशु-पक्षी, मिट्टी पानी आदि का चित्रण किया जाता है। इस भूखण्ड का उल्लेख, चित्रांकन और वर्णन-विश्लेषण पृष्ठभूमि मात्र तैयार करने के लिए नहीं होता। विशुद्ध आंचलिकता की परिधि और परिभाषा में ये चित्र ग्राह्य नहीं हैं, भले ही इससे आंचलिकता का आभास मिले। 'लोकल कलर' या स्थानीय रंग और आंचलिकता में सूक्ष्म और गहन अन्तर है। पहले के लिए लेखक किसी अंचल विशेष की प्राकृतिक बनावट या सामाजिक स्थिति, परिवेश या भाषा बोली को अपने कथानक की यथार्थपरक पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये इस प्रकार प्रयोग करता है कि एक ओर यह अपनी प्रामाणिकता का आभास भर दे पाये, दूसरी ओर कथा-प्रवाह में रस के संचार के लिए उद्दीपन विभाव का कार्य कर सके। यहाँ क्षेत्रीयता को ग्रहण करने का उद्देश्य कारयित्री प्रतिमा का उद्घाटन नहीं वरन् किसी अन्य उद्देश्य (उपन्यास उद्देश्य) को मूर्त करना और उसे विश्वसनीय बनाना है। "वातावरण को अधिक सजीव और यथार्थ बनाने और पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए, कथा के विकास-क्रम में परिस्थिति के अनुकूल यथास्थान आंचलिक और स्थानीय रंगों, रीति-रिवाज, भाषा आदि का पुट दे दिया जाता है।"[२२] यह चित्रण आंचलिकता के अन्तर्गत परिगणनीय नहीं है अन्यथा प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा आदि के उपन्यासों को भी आंचलिक मानना पड़ेगा। ध्यातव्य है कि इन्हें आंचलिक उपन्यासकार मानने के लिए खींचतान बराबर चलती रहती है। दोनों में मूल अन्तर उद्देश्य, प्रधानता, परम्परा और प्रभाव का माना जा सकता है। आंचलिक उपन्यास मे आंचलिकता प्रमुख तत्व है, जबकि स्थानीय रंग के अर्थ में आंचलिकता का ग्रहण सामान्य तत्व के रूप में किया जाता है। "आंचलिक उपन्यासों के प्रचलन के पूर्व भी यथार्थवाद का पुट देने के लिए किसी अंचल विशेष की भाषा, रीति-रिवाज आदि का प्रयोग उपन्यासकार किया करते थे; किन्तु यह वर्णन और इस प्रकार के उपन्यास आंचलिक उपन्यासों से स्पष्टत: भिन्न हैं। प्रथम प्रकार के उपन्यासों में

क्रमशः आंचलिकता सामान्य तत्व होती है, जबकि दूसरे प्रकार के उपन्यासों में आंचलिकता ही प्रमुख तत्व होती है।[२३]

जिन आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल विशेष की कथा का पटफलक बनाकर उसके रूप रंग का प्रयोग केवल रंगत भर देने के लिए होता है, अर्थात् मूल तत्व के रूप में न होकर साज-सज्जा के रूप में होता है, उन्हें 'स्थानीय रंगत' वाले उपन्यास कहते हैं।[२४] स्थानीय रंग प्रादेशिकता से भिन्न होता है। प्रादेशिकता में गहराई होती है, तो स्थानीय रंग में विस्तार। इसमें प्राकृतिक तथा सामाजिक पृष्ठ-भूमि की विस्तृत सूचना देना कलाकार का उद्देश्य होता है। 'आक्सफोर्ड कम्पैनियन टु अमेरिकन लिटरेचर' के अनुसार स्थानीय रंग शब्द-युग्म कथा साहित्य या काव्य के साथ प्रयुक्त होता है और उसके 'सेटिंग' का महत्व-बोधक होता है। यह 'सेटिंग' एक प्रदेश अथवा क्षेत्र के उन रीति-रिवाजों, बोलियों, वेश-भूषा, प्रकृति अथवा अन्य ऐसी विशिष्टताओं से सम्बद्ध होता है जिन पर सांस्कृतिक मानकों का प्रभाव न पड़ा सका हो। प्रारम्भिक अमरीकी साहित्य स्थानीयता प्रकट करता है। परन्तु स्थानीय रंग आन्दोलन ने संयुक्त-राज्य में गृहयुद्ध के उपरान्त विशेष महत्व प्राप्त कर लिया। सम्भवतः इसीलिए कि वह विगत युग की तड़क-भड़क को प्रतिबिम्बित करना चाहता था अथवा नव निर्मित संयुक्त राज्य के भिन्न-भिन्न खण्डों का एक-दूसरे की तुलना में अन्तर बताना चाहता था।[२५]

स्थानीय रंग प्रादेशिकता से भिन्न होता है ऐसा श्री सीताराम चतुर्वेदी भी मानते हैं। इसमें नए और अपरिचित दृश्य विधान किए जाते हैं या किसी परिवर्तनो-न्मुख या ह्रासोन्मुख स्थान रूप का विवरण सुरक्षित किया जाता है। प्रदेशवादी उनके जीवन पर प्रभाव डालने वाली स्थितियों के चित्रण द्वारा तदनुसार संस्कृति तथा चरित्र के विभिन्न साँचे उपस्थित करते हैं, किन्तु स्थानीय रंगकार किसी ग्राम दृश्य के प्रति पर्यटक की दृष्टि अपनाता है। स्थानीय रंग का अर्थ हुआ किसी कथा के मूल तत्व के रूप में नहीं, वरन् सजावट के रूप में उस कथा के लिए दृश्य, भाषा, देश, आचार-विचार और व्यवहार का सटीक विस्तृत वर्णन देना।

स्थानीय रंग से मिलती-जुलती एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान जाता है वह है आंचलिक संस्पर्श। इस सम्बन्ध में डॉ० बेचन का मत है—"यह आंचलिक संस्पर्श हम वहाँ देखते हैं, जहाँ लेखक का मुख्य उद्देश्य कुछ दूसरा ही होता है और उसकी पूर्ति के लिए वह आंचलिक विशिष्टताओं का चित्रण करता है... प्रधान उद्देश्य नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उठते उभरते हुए नए मानव, आर्थिक, सामाजिक संघर्ष एवं जीवन का चित्रण करना है। ऐसे उपन्यासों की सृष्टि का श्रेय नागार्जुन एवं रेणु जैसे कलाकारों को देना चाहिए।"[२६] आंचलिक संस्पर्श समाजवादी मान्यताओं

को आकर्षक और मोहक बनाने का साधन मात्र कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि आंचलिक संस्पर्श में आंचलिकता के समान किसी निश्चित भूभाग का विशिष्ट चित्रण संभव नहीं होता बल्कि इसमें लेखक उन स्थलों की विशिष्टताओं की हल्की झलक देते हैं जो उनकी रचनाओं में आए हैं। मूलत: उसका उद्देश्य किसी अंचल विशेष के जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होता बल्कि यह यथार्थ निरूपण की एक प्रणाली है जिसके द्वारा कथाकार देशकाल व वातावरण का प्रभावशाली रूप उपस्थित कर कथा को अधिक अर्थपूर्ण, चरित्र-चित्रण को अधिक स्वाभाविक, शैली को अधिक चित्रोपम तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ को रोचकता देता है। आंचलिक संस्पर्श आंचलिकता एवं स्थानीय रंग देने की प्रवृत्ति के बीच की स्थिति कही जा सकती है। इसमें न आंचलिकता वाली गहराई है और न स्थानीय रंग का उथलापन। आंचलिक संस्पर्श कोई प्रवृत्ति विशेष नहीं है। कथाकार अनजाने ही कथा में आंचलिक संस्पर्श दे देता है परन्तु सचेतन रूप से विशिष्ट उद्देश्य के लिए यदि ऐसा किया जाए, तो वह एक प्रवृत्ति बन सकता है। फिर भी वह आंचलिकता, प्रादेशिकता एवं स्थानीय रंग के समान प्रवृत्ति नहीं बन सकता।

स्थानीय रंग वाले उपन्यासों की तुलना में आंचलिक उपन्यासों में अंचल की भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक परम्परा को मूर्त रूप देने वाले दृश्यों, स्थितियों आदि का प्रयोग केवल रुचि-वैचित्र्य या प्रयोग जैसी स्थिति नहीं, आंचलिक चित्रण की अनिवार्य आवश्यकता है, जिसमें अंचल के जीवन को उसकी सम्पूर्णता और समग्रता में व्यक्त करने का अपरिहार्य आग्रह है। यह न तो शिल्पगत चातुर्य की माँग है और न किसी जीवन-दर्शन को व्यक्त करने की चेष्टा, वरन् आंचलिक-चित्रण की अनिवार्य जीवन-स्थिति है, अभेद्य अंग है। वह अंचल की जीवंतता को सहज ही मुखरित ही नहीं करता, उसे सहज संवेद्य, जाग्रत तथा अनुभूति-परक बनाता है।

आंचलिकता का प्रयोग प्रचलन के रूप में पहले-पहल नहीं हुआ, वरन् सर्जना की अनिवार्य माँग की रूप में उसका जन्म हुआ। अंचल विशेष के जीवन की गहनता में प्रविष्ट कर उसकी आंतरिक संवेदना, स्पंदन एवं यथार्थ को उद्घाटित करते हुए अंचल की कहानी कहना इसका उद्देश्य है, अंचल से ली गई कहानी भर कहना नहीं। इसे एक ही प्रकार के परिवेश में क्षेत्र-विशेष के जीवन-सत्य का उद्घाटन एवं उसके अन्तर या एकरूपता का निदर्शन करना है। अनेकता में एकता के दर्शन करने वाला विस्तृत भारत देश अंचलों के निर्माण एवं विकास के लिए अभी भी उर्वर आधार प्रदान करता है। जो कुछ भी हो, साहित्य में हिन्दी का अंचल शब्द पश्चिम के प्रदेश का अर्थवाहक शब्द 'रिजन' के पर्याय के रूप में प्रचलित और स्वीकृत है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का इतिहास

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के इतिहास के अध्ययन के लिए यूरोप में रोमांटिक आंदोलन के जन्म के कारणों एवं उसके विकास की स्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है। यूरोप में रोमांटिक आंदोलन का सूत्रपात पूर्ववर्ती सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक परिस्थिति के प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। साहित्य में यह क्लासिकल प्रवृत्ति का विरोधी आंदोलन था। अतः १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस जागृति के फलस्वरूप उन प्राचीन लेखकों की ओर पुनः ध्यान गया, जिन्हें 'क्लासिज्म' ने उपेक्षित किया था। जिज्ञासा की नवीन प्रवृत्ति जन्मी और प्राचीनता के प्रति प्रेम ने हॉब्स एवं लॉक की दार्शनिकता का आश्रय लेकर ऐतिहासिक प्रवृत्ति को जन्म दिया। ह्यूम, राबर्टसन एवं गिब्बन इन प्रवृत्ति को पोषित करने वालों में थे। फलतः यथार्थवादी दृष्टिकोण विकसित हो चला। रिचर्डसन एवं फिल्डिंग ने वास्तविकता के गहनतम रूपों को अपने उपन्यासों में व्यक्त किया। बर्मस, काउपर तथा क्रैब ने मानवता के प्रति अपार सहानुभूति प्रकट की। १८वीं शताब्दी में यह विचारधारा गहराती गई और सरल जीवन का आदर्शीकरण किया गया। यह अनुभव किया जाने लगा कि उसी व्यक्ति में उच्च एवं पवित्र भावों का उदय हो सकता है, जो नृशंस एवं परम्परावादी समाज के कुप्रभावों से मुक्त हैं। इस विचारधारा का प्रवर्तक फ्रांसीसी क्रांति का जनक रूसो था। मानव की प्रारम्भिक धारणाएँ अच्छी होती हैं, क्योंकि वह प्राकृतिक होती हैं—इस पर उसे दृढ़ विश्वास था। प्रकृति का अंचल त्यागने पर मनुष्य विलासी, पाखंडी और दुष्ट हो जाता है। इसीलिए मानव संस्थाओं के कुप्रभावों से बचने के लिए प्रकृति की ओर लौट चलना चाहिए। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में ही पूर्णता की साधना हो सकती है, मनुष्य अपने लिए वांछित सब कुछ सीख सकता है। गाँवों एवं दूरदराज अंचल में बसी जनजातियों की निकटता ने प्रकृति प्रेम की धारा प्रवाहित की। वर्ड्सवर्थ के प्रकृति प्रेम की धारा में अवगाहन कर उस युग की कलाकारिता निखर आई। जीवन की व्यस्तता और भाग-दौड़ से खिन्न होकर वर्ड्सवर्थ ने प्रगतिशील जीवन पर कठोर प्रहार किए।[२७] प्रकृति के आदर्शीकरण में उनका अन्यतम योगदान रहा। उनके अनुसार प्रकृति के संसर्ग से प्राप्त एक अनुभूति भी सम्पूर्ण जीवन की नैतिकता का पाठ पढ़ा सकती है।[२८] प्रकृति की गोद में स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने के लिए वे असभ्य पैगन जाति में जन्म लेना भी सहन कर सकते थे। फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने रोमांटिक आंदोलन को प्रोत्साहन दिया और उसकी प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ आंचलिक साहित्य की ओर प्रवृत्ति देखी जाने लगी। रोमांटिक कलाकार सामान्य व्यक्ति के प्रभावों अथवा अवगुणों की ओर से दृष्टि नहीं फेर लेता। इसीलिए वह उसके अंधविश्वासों, परम्पराओं, मान्यताओं आदि का साहित्य के माध्यम से व्यक्त करता है। सामान्य

मानव का कार्य-क्षेत्र प्रकृति का उन्मुक्त प्रांगण है, जो उसके सम्पूर्ण जीवन को नियमित और मर्यादित करती है। इसी कारण प्रकृति और वातावरण की छाप आंचलिकता की विशेषता है।

पाश्चात्य साहित्य में प्रादेशिक किंवा आंचलिक उपन्यासों का प्रारम्भ १८०० से माना जा सकता है, जब मेरिया एजवर्थ का 'कैसेल रेक्रेंट' प्रकाशित हुआ। परन्तु हिन्दी के उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति का विकास बहुत बाद में हुआ। फिर भी "इनकी प्रगति आश्चर्यजनक ही कही जाएगी। हमारे यहाँ आंचलिकता के पोषक तत्वों का अस्तित्व बहुत पहले से प्रचुर मात्रा में रहा है। परन्तु उपन्यास में उसकी अभिव्यंजना बहुत बाद में हुई और जब हुई, तब काफी सघनता के साथ हुई। एक दशक के अल्प समय में इतनी बड़ी सिद्धि साधारण बात नहीं।"[२९]

आंचलिकता शब्द हिन्दी में सन् १९५२-५३ के आस-पास प्रयुक्त होने लगा और यह धीरे-धीरे लोकप्रिय होकर एक साहित्यिक आंदोलन बन गया। यह शब्द मूलतः कथा साहित्य की एक समसामयिक धारा के लिए प्रयुक्त किया गया था। किन्तु इसका प्रभाव उसी तक सीमित नहीं रहा। रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन ने आंचलिकता को एक ठोस आधार प्रदान किया। पूर्णदेव लिखते हैं—"आंचलिक उपन्यास हिन्दी में नवीन औपन्यासिक प्रगति के प्रतीक हैं। ऐसे उपन्यासों का श्रेय नागार्जुन के 'बलचनमा' और रेणु के 'मैला आंचल' को दिया जा सकता है।"[३०]

डा० विवेकी राय भी स्वीकार करते हैं—"स्वातंत्र्योत्तर कथा-शिल्प का पूर्व कथा-शिल्प से भिन्नत्व स्पष्ट करने के लिए 'आंचलिक' संज्ञा और तदनुरूप सृजन के प्रवर्तक फणीश्वरनाथ रेणु हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है।"[३१] डा० प्रताप नारायण टंडन कथा साहित्य में इस शिल्प का प्रारम्भ आचार्य शिवपूजन सहाय की कृति 'देहाती दुनिया' (१९२६) से मानते हैं। डा० सत्यपाल चुघ अवध प्रांत के ग्रामीण अंचल के जीवन, उनकी सामाजिक रूढ़ियों, विकृतियों, संकीर्णताओं और विशिष्ट वृत्तियों के चित्रण से सम्पन्न होने के कारण निराला की कृति 'बिल्लेसुर बकरिहा' में आंचलिकता का प्राचीन रूप देखते हैं। डा० बदरीदास आंचलिकता की प्रवृत्ति के विकास को चार-पाँच दशक और पीछे खींच ले जाते हैं। आंचलिक उपन्यास को प्रादेशिक उपन्यास की संज्ञा देकर उसकी एक विशाल प्राचीन परम्परा का उल्लेख उन्होंने किया है। वह इस प्रकार है—

(१) भुवनेश्वर मिश्र—घराऊ घटना (१८९३), बलवन्त भूमिहार (१९०१)
(२) जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—वसन्त मालती (१८९९), मुंगेर जिले का मलयपुर अंचल, मल्लाहों का जीवन, लोकभाषा, लोकरीतियाँ
(३) हरिऔध—अधखिला फूल (१९०७) गोरखपुर जिले का एक गांव
(४) गोपालराम गहमरी—भोजपुरी ठगी

(५) रामचीज सिंह—वनविहंगिनी (१९०९) संताल परगना आदिवासी क्षेत्र, कोल कुमारियों का जीवन-संघर्ष

(६) ब्रजनन्दन सहाय—अरण्य बाला—विन्ध्याचल के एक पहाड़ी गाँव का चित्रण

(७) मन्नन द्विवेदी—'रामलाल' (१९१४) गोरखपुर की बाँसगाँव तहसील का एक गाँव

डा० बद्रीदास ने 'रामलाल' को उक्त सबमें सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास घोषित किया है, क्योंकि इसमें एक अंचल विशेष के जमींदार, महाजन, पटवारी, डाकिया, साधु, पंडित आदि सबकी वर्गगत और वैयक्तिक विशेषताएँ अंकित हैं। इसके अतिरिक्त आल्हा, भजन, त्योहार, मेला, ऋतुरंगीनी, लोकगीत, वैवाहिक रीति-रिवाज आदि का चित्रण रिपोर्ताज की शैली पर किया गया है।[३२] इससे यह सिद्ध है कि आंचलिकता का अनाम विकास अपनी समस्त संभावनाओं के साथ उपन्यास साहित्य के विकास के साथ ही हिन्दी साहित्य में आरम्भ हो गया था। रेणु आदि ने इसका अभिनवीकरण अथवा आधुनिकीकरण मात्र किया है।[३३] उस संक्षिप्त सूची में कृषि क्षेत्र, आदिवासी क्षेत्र और पर्वतीय क्षेत्र की आंचलिकता आदि सभी आंचलिक शिल्प रूपों का विकासबीज परिलक्षित हो रहा है। इस शिल्प की प्रमुख विशेषता अंचल विशेष का ग्राम-जीवन रही। "हिन्दी उपन्यासों में मुख्यत: वे ही उपन्यास आंचलिक माने गए, जो मुख्यत: ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित रहे।"[३४] चाहे अंचल विशेष का ठेठ ग्रामीण जीवन हो अथवा आदिवासी क्षेत्र का चित्रण हो—दोनों ही दृष्टियों से आंचलिक उपन्यासों के प्रारम्भिक विकास की उक्त रूपरेखाजन्य प्रवृत्ति अत्यन्त प्रभविष्णु प्रतीत होती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी काल के आरम्भ में उक्त रचनाएँ (१८९३ एवं १९१४ के बीच) आती हैं। उनमें शिल्प के तराश एवं भंगिमा के चुटीलेपन की अपेक्षा नहीं की जा सकती और न उन्हें आज के पारिभाषित आंचलिक उपन्यास की कोटि में विधिवत परिगणित ही किया जा सकता है।[३५] इन्हें शिल्प वृत्तियों का पूर्वरूप कहा जा सकता है। इनमें स्थानीय रंग का वह तत्व विद्यमान है, जो किसी उपन्यास को आंचलिक बनाने वाले तत्वों में प्रमुख है। यों तो व्यापक अर्थ में स्थानीय रंग का चित्रण देकर किसी उपन्यास को आंचलिक कह देने की चलन समीक्षा क्षेत्र में आ गई है परन्तु ध्यातव्य है "जिस क्षेत्र या काल की कथावस्तु होती है उसी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि किए बिना कोई भी उपन्यासकार सफल नहीं हो सकता। उस व्यापक अर्थ में सभी उपन्यास आंचलिक माने जाएँगे। प्रेमचन्द, वृन्दावन लाल वर्मा, शरत्, के० एम० मुन्शी सभी के उपन्यास आंचलिक हैं। पाठक वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में अपने को मध्य प्रदेश में पाते हैं, तो शरत् के उपन्यास उन्हें बंगाल में पहुँचा देते हैं और मुन्शी के उपन्यास गुजरात में। क्षेत्रीय

वातावरण की शक्ल होने पर भी हम इन सब उपन्यासों को आंचलिक नहीं मानते हैं।"[३६]

वैसे प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन को बड़ी निकटता से देखा, पहचाना और उसी को अपने उपन्यासों का आधार बनाया। उनके उपन्यास ग्रामीण जीवन की बड़ी आत्मीय और प्राणमयी झाँकियाँ देने वाले हैं। उनके बाद हिन्दी उपन्यास अनेक दृष्टियों से भिन्न हो गया। एक समग्र एवं विराट चित्रपट के स्थान पर सीमित सीमाएँ अपनाई गईं। मानवतावादी और राष्ट्रीय भाव-भूमि को तिलांजलि देकर व्यक्तिवादी एवं सैद्धांतिक भूमि पर लेखकों का कार्य प्रारम्भ हुआ। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहा जा सकता है—"कविता यथार्थवाद की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़ भी सकता है, किन्तु उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थवाद प्राण है।" प्रेमचन्द में इस यथार्थवाद का विकास स्वीकार किया जाना चाहिये। उनके उपन्यास जीवन के यथार्थ के संवाहक हैं। भारतीय समाज के अंतरंग और बहिरंग परिवेश हमारे समक्ष साकार करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। ग्रामीण समाज का यथार्थ चित्रण सर्वप्रथम उन्हीं के हाथों सम्पन्न हुआ। इतना सब होने पर भी प्रेमचंद को आंचलिक उपन्यासकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी अपनी मूल्य दृष्टि है और वे भारतीय जीवन की अपेक्षाकृत अधिक स्थायी प्रवृत्तियों को चुनने और अभिव्यक्त करने के पक्षपाती हैं। उनकी कृतियों में होने वाले चित्रण किसी तथ्य को प्रमाणित कर स्थापना को जोरदार बनाने, किसी मूल्य दृष्टि का समर्थन करने, किसी वातावरण की सृष्टि तथा कथा में छौंक देने के लिए किए गये हैं। वे प्रत्येक वस्तु को समाज-सापेक्ष दृष्टि से देखने के पक्षपाती थे। उन्होंने ग्राम-जीवन को कभी निरपेक्ष दृष्टि से नहीं देखा। गाँव का चित्रण उनका साध्य नहीं था, साधन भर था। किन्तु आंचलिक उपन्यासों में ग्राम (अंचल) का चित्रण साधन न होकर साध्य होता है। यदि उन्हें साधन भी मान लिया जाए, तो वे लेखक को किसी मूल्य दृष्टि को स्थापित करने के साधन न होकर अंचल विशेष को उसकी पूर्ण समग्रता में अनावृत्त कर यथातथ्य के रूप में रखने के साधन होते हैं। यही भेदक तत्व अनेक समानताओं के बावजूद प्रेमचंद के उपन्यास को रेणु के उपन्यास से भिन्न करता है।[३७]

हिन्दी आंचलिक उपन्यासों के क्रम-विकास में कुछ तत्व आंचलिकता का आभास प्रस्तुत करने वाले हैं। प्रेमचंद और वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में आंचलिकता का आभास मिलता है। प्रेमचंद मूलतः समाज सुधारक थे। समाज की स्थितियों के यथार्थपरक वर्णन करने के कारण पात्रों के चित्रण एवं ग्राम्य जीवन की सजीव झाँकियों में आंचलिक उपन्यास की विशेषताएँ आ गई हैं। वृन्दावनलाल वर्मा में भी इस विशेषता के दर्शन हुए हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार होने के कारण उनके

ऐतिहासिक कथा-प्रधान उपन्यासों में अंचल पृष्ठभूमि मात्र है। वे बुन्देलखण्ड के जन-जीवन की रीति-नीति, रिवाज, परम्पराओं, उत्सवों, प्रकृति का विवरणपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक विशेष क्षेत्र एवं पात्रों का सवाल है, वहाँ उनमें आंचलिकता का छिटपुट लक्षण मिलता है। छिटपुट आंचलिक भाषा का प्रयोग भी उल्लेखनीय है। यह आंचलिक उपन्यासों की परम्परा की प्रारम्भिक स्थिति कही जा सकती है, जहाँ केवल 'यथार्थ की छौंक'[२०] के लिए उपन्यास में अंचल से सम्बन्धित वातावरण की सृष्टि की गई है। आंचलिक चित्रण के मध्य की स्थिति के दर्शन उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यासों में किए जा सकते हैं। भट्ट जी ने एक विशेष वर्ग मछुओं का जीवन चित्र प्रस्तुत किया है। रांगेय राघव ने व्रज के अंचल के नटों को चित्रित किया है। नागर जी ने (बूंद और समुद्र) लखनऊ चौक के मध्य वर्ग की एक विशेष बोलचाल और गतिविधि को अंकित किया है। राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने बस्तर के गोंडों और देवेन्द्र सत्यार्थी ने आदिवासियों और असम के लोक जीवन को उपस्थित किया है। सत्यार्थी जी में आंचलिक रंग अधिक निखर आया है। परन्तु ये सभी लेखक मूलतः नागरिक हैं और ग्रामीण आंचलिकता की गहनता में प्रविष्ट नहीं कर सके हैं। अतएव, ग्रामीण आंचलिकता के वास्तविक चित्र इनमें सम्पूर्ण रूप से नहीं उभर पाए हैं। ये चित्रण द्रष्टा के हैं, भोक्ता के नहीं। अतएव बाह्य दृष्टि से आंचलिकता भले ही परिलक्षित हो, इनकी आत्मा आंचलिक नहीं है। आंचलिक उपन्यासों के विकास में रेणु और नागार्जुन के नाम लिए जा सकते हैं। इन दोनों ने बिहार प्रदेश का ग्रामीण अंचल अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

डॉ० शिव प्रसाद सिंह ने बताया है कि आंचलिकता के सशक्त आंदोलन के रूप में सबसे प्रभावशाली रूप अमरीकी साहित्य में दिखाई पड़ता है, जहाँ 'न्यू फ्रन्टियर्स मूवमेंट' के झंडे के नीचे विदेशी प्रभावापन्न नागर-आधुनिकता उद्योगीकरण आदि के विरोध में इसे अपनी धरती और लोक संस्कृति से जोड़ने के साथ क्षेत्रीय जीवन की विशेषताओं को उभार कर व्यापक प्रसार दिया गया है। विशेषकर योरोपीय संस्कृति के प्रति अंध-श्रद्धा भाव को ध्वस्त करना उनका उद्देश्य है।[३१] अंग्रेजी में मेरिया एजवर्थ (१७६७–१८४९) और हिन्दी में फणीश्वरनाथ रेणु (१९५४) ने सर्वप्रथम अपने उपन्यासों के लिए आंचलिक नाम दिया।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का भी मत है—''यथार्थवाद के नए क्षितिज खोजने के प्रयत्न के रूप में रेणु लिखित 'मैला आँचल' का बहुत बड़ा महत्व है। इसके द्वारा प्रस्तुत किए गये यथार्थवाद को आंचलिक यथार्थवाद की संज्ञा दी जाने लगी है।

इसे आंचलिक यथार्थवाद इसलिए कहते हैं कि इसमें एक अंचल के संपूर्ण जीवन का संश्लिष्ट और यथार्थ रूप प्रस्तुत किया गया है।"[४०]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रेणु के पूर्ववर्ती उपन्यासों में आंचलिक चित्रण उपन्यास के एक तत्व के रूप में हुआ है और इस तत्व का उपयोग कथा में विश्वसनीयता और मानवीय रंग लाने के लिए किया गया है। प्रेमचंद से लेकर नागार्जुन तक क्रमश: आंचलिक चित्रण अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक विवरणधर्मी, यथार्थ और प्रमुख होता गया है। "लेकिन आंचलिक उपन्यास जैसी स्वतंत्र विधा का जन्म और स्वीकरण रेणु के 'मैला आँचल' (१९५४) के प्रकाशन के बाद हुआ है"[४१] इसमें संदेह नहीं कि आंचलिक उपन्यास जैसी स्वतंत्र संज्ञा का सबसे पहला प्रयोग रेणु ने 'मैला आँचल' की भूमिका में किया है। प्रेमचंद से लेकर नागार्जुन तक के प्रमुख उपन्यासों की प्रवृत्तियों के विवेचन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

हिन्दी उपन्यास के इतिहास के क्रमिक विकास का अध्ययन करने से निष्कर्ष निकलता है कि आंचलिकता का विकास अकस्मात् और जादुई ढंग से न होकर वर्षों की साधना का फल है। एक सुस्पष्ट ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में उसका उदय हुआ है। इस नवीन विधा के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसके बाद उसमें बीजांकुरण हुआ और जीवन संघर्ष के रूप में जो सामाजिक आर्थिक परिवर्तन की हवा वहाँ तक आई; वह उसे और पल्लवित पुष्पित करती गई।[४२]

स्पष्ट है कि आंचलिकता और आंचलिक उपन्यासों के विकास एवं उसे एक निश्चित नाम देने में रेणु का स्थान सर्वोपरि है। यथार्थवाद के अन्वेषण, आख्यान की दिशा में 'मैला आँचल' एक स्तुत्य प्रयास कहा जा सकता है। इसने परवर्ती आंचलिक उपन्यासों का भी दिशा-निर्देशन किया।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकार और उनकी कृतियाँ

यहाँ आंचलिक उपन्यासकारों के जीवन-वृत्त से साक्षात्कार करना हमारा अभिप्रेत नहीं, बल्कि प्रमुख आंचलिक उपन्यासकारों की कृतियों का सामान्य परिचय भर देना अभीष्ट है। इसलिए कि जीवन वृत्त की अपेक्षा कृतियाँ महत्वपूर्ण होती हैं और उन्हीं कृतियों को आधारफलक बनाकर आगे के अध्यायों में अध्ययन, अनुशीलन किया जा सकेगा।

शिवपूजन सहाय

'देहाती दुनिया' को आंचलिक उपन्यास परम्परा की प्रथम कृति कहा जा सकता है। यद्यपि आंचलिकता की कसौटी पर यह खरी नहीं उतरती, तथापि इसके लक्षण आंचलिकता का कलेवर तैयार करने में प्रमुख घटक रहे हैं। उनकी यह एकमात्र औपन्यासिक कृति है, जिसका रचनाकाल सन् १९२५ है।

जनपदीय आंदोलन से जुड़े होने के कारण उनमें देहातों के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक है। कृति के आरम्भ में अंकित है—'ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र', जिससे उसकी कहानी के कथ्य का सहज ही पता चल जाता है। उन्होंने इसकी भूमिका में उन ठेठ देहाती मित्रों की चर्चा की है, जिनके मनोरंजनार्थ यह लिखा गया।

सहाय जी ने अपने ही जनपद (भोजपुर) के एक अंचल का चित्रण किया है। उनका कथन ध्यातव्य है—"मैं ऐसे ठेठ देहात का रहने वाला हूँ, जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं, अज्ञानता का घोर अन्धकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य। वहीं पर मैंने स्वयं जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों इसमें अंकित कर दिया है।"[४३]

उपन्यास की सम्पूर्ण कथा को ग्यारह परिच्छेदों में बाँटकर उन्हें ग्यारह शीर्षक दिए गए हैं, यथा— १. माता का अंचल, २. बुधिया का भाग्य, ३. ननिहाल का दाना-पानी, ४. दारोगाजी का चोर महल, ५. गोवर्धन का कच्चा चिट्ठा, ६. चारों धाम, ७. रंग में भंग, ८. पांडे जी का प्रपंच, ९. मँहगे चने, १०. ब्रह्म पिशाच का देवघर, ११. नमक का बदला।

इन ग्यारह चित्रों के द्वारा सहायजी ने रामसहर के वासियों के विभिन्न स्तर के लोगों का स्वाभाविक चित्रण किया है। एक ओर जमींदार मालिक सरबजीत सिंह के पुत्र रामटहल सिंह और बुधिया हैं, दूसरी ओर गोबरधन, महादेई, पशुपति पांडे, सुगिया, बतसिया, फुलगेनिया, मनबहाल सिंह, बैजू, चिरकुट, भोलानाथ, मूसन तिवारी, मास्टर दारोगा आदि पात्र हैं। ये सम्पूर्ण ग्रामीण परिवेश के अंग हैं। पूरा रामसहर अंचल चित्रित हो पाया है, पर उनकी जनपदीय विशेषताएँ उन्हें किसी विशेष स्थान या क्षेत्रीयता से सम्बद्ध नहीं कर पातीं। कुछ चित्रों में आंचलिकता के लक्षण स्पष्ट हैं, पर अधिकांश चित्र (माता का पुत्र के प्रति वात्सल्य, पिता की पुत्र के भविष्य के लिए जागरुकता, जमींदार के अत्याचार, छोटी जाति की औरतों के साथ उनके यौन सम्बन्ध आदि) वैसे हैं, जिन्हें भारत के किसी भी अंचल में देखा जा सकता है।

इसने आगे आने वाले आंचलिक उपन्यासों की पीठिका तैयार की, भले ही इसमें शुद्ध आंचलिकता की स्थापना न हो पाई। कई कहानियों को एक साथ जोड़ने का अन्त तक निर्वाह न हो पाया है। इसे कथाकार की असफलता कहा जा सकता है फिर भी देहाती कहावतों, आस्थाओं, विश्वासों, ढोंगों, मुहावरों[४४] आदि के प्रयोग अंचल के वातावण को सजीव करने में सफल हुए हैं। भाषा उनकी उतनी ठेठ नहीं जैसा वे बनाना चाहते थे। 'एकदम अपढ़ गँवार भी बिना किसी की सहायता के

उसका एक-एक शब्द समझ ले।'[४५] इस अभाव को 'हमारा गाँव'[४६] उपन्यास लिखकर पूरा करने का स्वप्न उनके मन में ही रह गया।

नागार्जुन

नागार्जुन हिन्दी के ख्याति-प्राप्त प्रगतिशील आंचलिक उपन्यासकार हैं। आंचलिकता और प्रगतिशीलता साथ-साथ ग्रहण करने के कारण उनकी अलग ही पहचान है। श्री मधुरेश का कहना है—"उन प्रगतिशील हिन्दी कथाकारों में नागार्जुन का महत्व सर्वोपरि है, जिन्होंने जनता के इस संघर्ष को अपने देश की माटी से जोड़ने की कोशिश की और सामान्य लोगों के सामान्य दुखदर्द को उनकी अनुभूतियों पर खुद को आरोपित किए बिना सीधी सरल लेकिन प्रभावशाली भाषा में व्यक्त किया। उनकी इस सफलता का प्रमुख और किसी हद तक एकमात्र कारण यह है कि अपने पात्रों और उनके परिवेश से नागार्जुन का परिचय सहज किताबी और सतही नहीं है।'[४७]

नागार्जुन के उपन्यासों में पहली बार इस विधा के दर्शन होते हैं, जिसे आंचलिकता कहा जाता है। इस दृष्टि से उन्हें हिंदी में आंचलिक उपन्यास का आदि उन्नायक[४८] कहा जाता है।[४९]

इनके उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' (१९४९) और 'बलचनमा' (१९५२) का बोध (उपन्यास कला के मूल में) समाजवादी है और आधुनिकता-बोध के दूसरे पहलू को उजागर करता है।[५०] आधुनिकता की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिंतन से प्रेरित जान पड़ती है। समष्टि सत्य के आधार पर आधुनिकता की चुनौती का स्वीकार और तदनुसार देहाती जीवन का चित्रण और मूल्यांकन उपन्यासकार का अभीष्ट है। कथानक मिथिलांचल से संबद्ध है। पश्चिम की नकल के आधार पर इसे आंचलिक उपन्यास का नाम दिया गया है। इनकी मूल दृष्टि सामाजिक है। इसलिए इसे सामाजिक उपन्यास कहा जाता, तो उपयुक्त होता।

नागार्जुन ने इन दोनों उपन्यासों में मिथिला के जीवन को समाजवादी जीवन-दृष्टि से आँका है। यह संवेदना के स्तर पर भोगे गए दर्द की अभिव्यक्ति है। इसीलिए इस 'सुजलां सुफलां मलयज शीतलां, शस्यश्यामलाम्' धरती के जीवन और परिवेश का चित्रण सहज और स्वाभाविक बन पड़ा है।

रतिनाथ के चरित्र में लेखक का निजी जीवन झलकने लगता है। रतिनाथ के पिता की अकिंचनता, बचपन में माँ के स्नेह से वंचित होना, काशी एवं कलकत्ता से परीक्षाओं में उत्तीर्णता, पराश्रित छात्र-जीवन और धनाभाव के कारण हीन-भाव की ग्रंथि का विकास लेखक के वैयक्तिक अनुभवों पर आधारित है। उपन्यास के केन्द्र में रतिनाथ की चाची गौरी का निजी व्यक्तित्व है। वह मौत से आक्रांत होकर भी महा-

युद्ध में रूस को विजय-कामना करता है। यह नितांत अस्वाभाविक एवं अप्रासंगिक है, परन्तु इससे लेखकीय प्रतिबद्धता का पता चलता है। 'नागार्जुन यदि अपनी दृष्टि को 'वाद' के फेरे से मुक्त करके लिखते तो शायद अधिक हृदयस्पर्शी चित्र और चरित्र देने में समर्थ होते।'[५१]

'ताराचरण' की दृष्टि भी समाजवादी है। गौरी के विरोध में दमयंती को रखा गया है, जो सामाजिक रूढ़ियों और अपनी कुटिल बुद्धि के बल पर गाँव में नारी-समाज का संचालन करती है। गौरी अपने देवर उमानाथ की वासना की शिकार हुई। किन्तु उसके सारे लांछन सहकर भी न दरिद्र ब्राह्मण की कुलीनता का त्याग किया और न उस व्यक्ति का नाम मुँह पर आने दिया, जो 'भादों की अमावस रात में एक घनी और अंधेरी छाया की तरह 'उसके बिस्तर की तरह' आया और उसके उदर में अपना अंश रख गया। परन्तु कभी उसने होठों पर उसका नाम नहीं आने दिया।

इस उपन्यास में मिथिलांचल की कुछ जीवंत छवियाँ चित्रित हुई हैं। प्रमुखतः कथा ब्राह्मण समाज की है। उस समाज में कुलीनता के कारण, विधवा विवाह वर्जित है, अभिशाप के कारण नहीं। 'किसी भी युग में स्त्री को अमृत पीने का सुयोग नहीं मिला। पुरुष को अमृत पिलाकर स्वयं विषपान ही करती आई है।'[५२] पैसे के लिए अपनी सतान लड़की बूढ़े, खूसट के हाथ बेचने एवं अमीर-गरीब का चित्रण करके अंचल के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्ष उद्‌घाटित हुए हैं। गाँव के गरीब दो वर्गों में विभक्त हैं बामन और गैरबामन।[५३] किसान-जमींदार का संघर्ष बखूबी चित्रित हुआ है। इस कृति में शिल्प और भाषा यथार्थवादी अधिक है।

बलचनमा (१९५२)

उनकी दूसरी औपन्यासिक कृति 'बलचनमा' से यह स्पष्ट हो जाता है कि नागार्जुन ही शायद हिंदी में अकेले उपन्यासकार हैं जिन्होंने आधुनिकता की चुनौती को समाजवादी बोध सहज और अनायास रूप में स्वीकार है और यह बोध उनके पोर-पोर में समाया हुआ है।[५४] प्रेमचन्द का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थ की देन है और नागार्जुन की जीवन-दृष्टि समाजवादी यथार्थ से प्रेरित है।[५५] होरी और बलचनमा दोनों किसान हैं। ग्रामीण संस्कृति के ध्वंस की सूचना होरी देता है और उसके भावी निर्माण की बलचनमा। उसका व्यक्तित्व मिथिलांचल में विकास पाता है। होरी भूमि के अधिकार से वंचित है, तो बलचनमा भूमिहीन किसान से आगे बढ़कर उस पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। किसानों को सगठित कर अपने अधिकारों की ओर उन्मुख करना नई चेतना का संकेतक है।

पूँजीवादी व्यवस्था के द्वारा लादी गई जमींदारी प्रथा से उत्पन्न श्रम की गुलामी की सीमांत व्याख्या और शोषक विलास कथ्य का आधार है। 'अनादिकाल से

आती हुई मनु-याज्ञवल्क्य अनुमोदित हिन्दू वर्ग-व्यवस्था के अवशेष समाज की प्रस्तुत कथा मिथिला के समाज का दर्पण है। वहाँ ब्याह, श्राद्ध, उत्सव, शोक, झगड़े, गीत जीवन का प्रत्येक व्यापार अपनी ऐतिहासिक व्याख्या के साथ उपस्थित किया गया है। समाज के परिवर्तन की मुख्य धाराओं, शिक्षा व राजनीति का यथार्थ अध्ययन इसे आंचलिकता की पूर्णता की ओर ले जाता है।'[५६]

प्रतिदिन अमीरों (जमींदार, मालिक) द्वारा गरीबों पर हुए जुल्म, अत्याचार, शोषण को लेखक ने औचित्य की वाणी दी है।'' अर्थ-व्यवस्था के असतुलित धरातल पर खड़े सामाजिक ढांचे की अमानुषिकता नागार्जुन की यथार्थपरक पकड़ में इस रूप में उजागर होती है कि सहृदय की संवेदना उभरकर 'बलचनमाओं' की पीड़ा से तादात्म्य करती है तथा चौधरियों की काली करतूतों के प्रति घृणा और इस सड़ी व्यवस्था के प्रति विद्रोह जगाती है।''[५७]

नागार्जुन का प्रगतिशील स्वर हर कहीं मुखरित हैं। फिर भी एक अभावग्रस्त व्यक्ति के जीवन को नागार्जुन ने गहरी संवेदना से पकड़ा है। यदि वहाँ अभाव प्रबल है तो उनकी ही कोख से छोटे-छोटे सुख भी जन्म लेते हैं—'पुआल की सजावट पर बोरी बिछी हुई थी। दुल्हन दुबककर एक ओर हो गई थी और सोने का बहाना किए हुए थी।.......जो सोने का नाटक रचे हुए थी। उससे नहीं रहा गया, खिलखिलाकर हँस पड़ी......सुग्गा तुम ही हो, ठोड़ी उठाकर उसके मुँह को अपनी तरफ करके बोला.........मैं भी इसी नाम से तुम्हें पुकारूँगा।'[५८]

बलचनमा वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना है और इसमें मैथिल परिवेश के जीवन की छोटी-से-छोटी घटना का चित्रण इस अंचल को जीवंत बना देता है। इससे इस अंचल के रहन-सहन, रीति-नीति, संस्कृति, धर्म, भाषा, लोकगीत आदि का सुंदर ज्ञान होता है। तद्भव शब्दावली की प्रचुरता से अंचल को प्रस्तुत करने में सफलता मिली है।

नई पौध (१९५३)

इस उपन्यास में मैथिल समाज का चित्रण है। मिथिला के सौराठ में वरों के मेले का जीवंत वर्णन इसमें मिलता है। खोखाई झा अपनी पितृहीन नतिनी बेसेसरी के लिए इस मेले में वर ठीक करने जाता है। उसका नाम 'बेटी बेचवा' के नाम से प्रसिद्ध है। अब तक छः रूपवती कन्याओं के लिए अयोग्य वर ढूँढ़कर वह काफी रुपये बना चुका है। इस बार अपनी नतिनी के लिए नौ सौ रुपए में साठ वर्ष का बूढ़ा वर ठीक करता है। गाँव की नई पीढ़ी (प्रगतिशील युवक उर्फ नई पौध) इसका विरोध करती है। फलतः वाचस्पति नामक एक प्रगतिशील युवक विसेसरी से विवाह कर लेता है। इस प्रकार नागार्जुन ने मिथिला के जीवन की सड़ी गली प्रथा, स्वार्थवृत्ति

तथा पुरानी पीढ़ी की शोषक वासना का नग्न चित्रण किया है। नई पौध की नई चेतना की सम्भावना को उकेरा गया है। पुराने मूल्य और नए मूल्य में संघर्ष दिखाकर नई पौध की विजय कामना व्यक्त की गई है।

यद्यपि इसमें प्रगतिशील विचारों का बाहुल्य है, तथापि सोराठ के जीवन और परिवेश को चित्रित कर आंचलिक संस्पर्श दिया गया है।

बाबा बटेसरनाथ (१९५४)

एक के बाद एक पीढ़ी काल के गाल में समाती गई, पर काल को धता बताने वाला, अमरवृक्ष की तरह साक्षी रहने वाला यह बटवृक्ष ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। इसे गांव (रूपउली) के लोग श्रद्धा, प्रेम से बाबा बटेसर नाथ कहते हैं। एक दिन वह मनुष्य की भाषा में जैकिसन को बताता है कि किस प्रकार उसे पच्चीस रुपये में बेंचने का निर्णय लिया गया और वह लोकोपकार के लिए मरने को तैयार है। 'जीने के लिए जीना, जीना नहीं है, परोपकार के लिए जीना ही जीना है। अगर मेरी मृत्यु जन-साधारण के लिए लाभप्रद हो तो नहीं चाहिए मुझको यह जीवन। परन्तु दो एक स्वार्थी धूर्त्त व्यक्तिगत हानि-लाभ की दृष्टि से मुझे देखते हैं, मै कदापि नहीं चाहूँगा कि उनका मनोरथ पूर्ण हो......नहीं बेटा, बिल्कुल नहीं।' अक्षयवट भी धरती पर ही हुआ करता है। जब तक लोग मुझे चाहेंगे, तब तक मैं अक्षयबट हूँ।'[५९] एक ओर अवतारी पुरुष के रूप में बाबा बटेसरनाथ का वक्तव्य, जिसमें भूत, वर्तमान, भविष्य समाहित है, दूसरी ओर जैकिसन और जीवन का मिलकर मोर्चा बनाना, इस अन्याय का विरोध करना, जनवादी, नौजवान संघ की जिला कमिटि के अध्यक्ष बाबू श्याम सुंदर वकील के द्वारा सहायता करना आदि सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं। इसमें उस क्रांति के लिए किसान को तैयार किया गया है जिससे पूंजीवाद नष्ट होगा।[६०] दोनों प्रकार की बातों में कोई मेल नहीं है।

जैकिसन की व्याकुलता के प्रसंग में यह स्वप्न और उसमें बाबा का प्रकट होना और उसके बाद बाबा की भाषा, उसके स्वर, उनकी लंबी कथाकारिता आदि कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं छोड़ पाते वरन् ये सारे कथा-प्रसंगों को विद्रूप बना देते हैं। नागार्जुन इस कथानक को पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करते, तो यह अधिक यथार्थवादी दृष्टि होती।

कृति के संपूर्ण आंदोलन का परिणाम है--'स्वाधीनता, शांति और प्रगति।' कुल मिलाकर साम्यवाद की स्थापना। उपन्यासांत भी इसी के साथ होता है।

इसमें आंचलिक परिवेश एक हद तक रूपायित हुआ है। परन्तु इसके साथ नागार्जुन का ध्यान जिस वैचारिक क्रांति के सूत्रपात की ओर था, उसने उनके शिल्प कौशल को पनपने का पूरा अवकाश नहीं दिया। वृक्ष का मानवीकरण और

उसका मनुष्य की भाषा में बोलना उपन्यास-क्षेत्र में रूप-शिल्प की दृष्टि से नया प्रयोग है। वैसे तो जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'गो' की सुंदरिया गाय भी अपने पालन-कर्त्ता ग्वाले को मनुष्य की भाषा में अपनी व्यथा कथा कहती है।

वरुण के बेटे (१९५७)

बिहार का एक अंचल दरभंगा। उसके आसपास के क्षेत्रों में बसे मछुआरों के जीवन पर आधारित कथा हैं 'वरुण के बेटे' की। दिन भर खटकर, जीवन को होमकर भी उनकी माली हालत अच्छी नहीं है। उनकी दयनीय स्थिति का चित्र उल्लेखनीय है—"पुआल बिछे थे कोने में। उन पर फटी-पुरानी बोरी बिछी थी। एक जवान लड़की और नंग-धड़ंग बच्चे बेतरतीब सोए पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी-गूदड़ी के दो-तीन छोटे-बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहाँ-तहाँ से ढँक रहे थे। दूसरे कोने में चूल्हा-चौका। तीसरे में अनाज रखने के लिए कड़े और कुठेल। चौथा कोना खाली। छप्पर के बाँसों से दसियों छींके लटक रहे थे। मछलियाँ पकड़ने और फँसाने के औजार भीतर की खूँटियों से टँगे थे...... गाँज, रापी, सहत, सरैला, किस्म-किस्म के डंडे। जालों की कढ़ाई-बुनाई में काम आने वाले छोटे-बड़े सूए शलाखें। जालों के अधूरे टुकड़े, घर गिरस्थी की बाकी दसियों चीजें यानी खुनखुन का समूचा संसार ही मानो तेरह फुट लंबे और नौ फुट चौड़े घर में अटा पड़ा था। मीने बीस साल पुरानी.. ...।[४१] यही परीवेश खुनखुन की तरह इस बस्ती में रहने वाले सभी मछुओं का है।

गरोखर (बिहार) जिला दरभंगा। चारों तरफ के भिंड। किनारों के बड़े-बड़े कछार। बीच का पानी वाला हिस्सा कुल मिलाकर पचास एकड़ जमीन छेंके हुए है। यह है इलाके का प्रख्यात जलाशय। इसके डेढ़ दो फर्लांग पर मलाही गोंढ़ियारी बाँसों का पतला-सा एक जंगल और पुराने जमाने की उजाड़-सी अमराई। यह है वरुण के बेटों की बस्ती, जिसमें पल रही है एक संघर्षपूर्ण जिंदगी। मछली पकड़ना और दरभंगा स्टेशन से चढ़कर बिहार के अन्यान्य इलाकों में उसे बेचना उनका व्यवसाय है।

जमींदारी उन्मूलन के बाद गोरखर को बेचने के प्रश्न को लेकर मछुआरों में हलचल आई। मोहन माँझी ने आंदोलन का नेतृत्व सँभाला। वह आशावादी है। बड़े-बड़े स्वप्न देखता है ग्रामांचल के जीर्णोद्धार का। तीन स्थलों के द्वारा लेखक इस कृति को सामाजिक पुनर्निर्माण और सक्रियता का धरातल दे सका है (क) खुनखुन द्वारा मगर का शिकार (ख) गरोखर 'गढ़पोखर' को लेकर सतधरा के जमींदारों से संघर्ष (ग) बाढ़ पीड़ितों के सहायतार्थ किया गया कार्य।

संघर्ष की सारी मानवीय कहानी सफलता के साथ चित्रित है, साथ ही मछुआरों के जीवन का प्रामाणिक चित्रण भी है।

दुखमोचन (१९५७)

इस कृति में टमका कोइली गाँव के आंचलिक चित्रण के साथ-साथ सार्वदेशिक स्थिति का संकेत भी है। इस गाँव की गुटबंदी पूरे भारत के गाँवों की गुटबंदियों का प्रतिनिधित्व करती है। इसकी मूल समस्याएँ हैं—वर्ग वैषम्य, सामाजिक असमानता, शोषण, अन्याय, उत्पादन पर अनधिकार तथा पूँजी का दोषपूर्ण वितरण। लेखक ने इसे समाजवादी चेतना के अनुरूप अंकित करने का प्रयास किया है। औपन्यासिक दृष्टि से भले ही लेखक को इसमें सफलता नहीं मिली हो, तथापि दुःखमोचन ऐसा निस्वार्थ एवं कर्मठ नेता पाना बड़ी उपलब्धि है। पाँच हजार की आबादी वाले उस गाँव में सागर की माँ का शव उठाने वाला दुखमोचन ही है। वह नित्या बाबू से सीधे संघर्ष करता है और उनकी परम्परावादिता के खिलाफ मोर्चा बनाता है। शील, सौजन्य का धनी दुखमोचन एक साहसी नेता है। उसकी लालसा है—'भाइयो मेरी लालसा थी कि कभी बोधू चाचा को राष्ट्रीय पताका उत्तोलित करते देखूँ।'[६८]

इसमें आंचलिकता का धुंधला सा स्पर्श है। भाषा प्रसंगानुकूल यथार्थवादी है।

फणीश्वरनाथ रेणु

प्रेमचन्द को जितनी ख्याति 'सेवासदन' से मिली थी, उतनी ही ख्याति रेणु को मिली 'मैला आँचल' से। इनके उपन्यास आंचलिक हैं और रेणु अंचल के यथार्थ और आत्मीयता से गहराई के साथ जुड़े हैं। इसलिए उनमें उनकी दृष्टि संतुलित है और व्यंग्य बड़ा धारदार। स्थानीय रंगों के प्रयोग में वह सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और कलागत ईमानदारी का परिचय देते हैं। फलतः उनका यथार्थवाद स्वाभाविक है। इसके लिए उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। वह मानवतावादी हैं और उनके पात्रों में इसका सहज और स्वाभाविक प्रतिफलन देखा जा सकता है। रेणु चरित्रों, पात्रों पर कभी आरोपित नहीं होते और न प्रेमचन्द की तरह यथार्थवादी पात्रों में आदर्शवाद का जबरन आरोप ही करते हैं। चरित्रों में जो आदर्श आया है, वह उसके स्वाभाविक विकास में सन्निहित है, कहीं आरोपित नहीं। ' रेणु ने अपने पात्रों को जो आदर्शोन्मुख स्वरूप प्रदान किया है, वह उनके चरित्र के विकास-क्रम में ही सन्निहित है, उसे विशफुलनेस की दिशा द्वारा ऐसा नहीं किया गया है, जैसा प्रेमचंद करते थे। यही रेणु और प्रेमचन्द के पात्रों में अन्तर है। आदर्श के लिए दोनों ही रचे गये हैं, एक का आदर्शवाद आरोपित है, दूसरे का आदर्शवाद चरित्र संयोजन में ही सन्निहित है और यथार्थवाद के मुख से अभिव्यक्त हुआ है।''[६९] यथार्थ जीवन-चित्रण में उसका दृष्टिकोण तटस्थ है।

कल्पना से भी यथार्थ को पकड़ लेने की क्षमता एवं परानुभूति प्रवेश क्षमता ने उसे यथार्थ की गहरी पकड़ दी। वस्तुतः रेणु दूसरों की अनुभूति में प्रवेश पाने की,

दूसरों के आशय को तुरत समझ लेने की (झटिति पराशयवेदिनो ही विज्ञाः) और कल्पना से भी यथार्थ को पकड़ लेने की प्रचुर क्षमता रखते थे। यह उनकी परानुभूति प्रवेश क्षमता और पराशयवेदिता का ही फल था कि वह पटना के 'काफी हाउस' के शहरी गोल में प्रतिदिन घंटों बैठने के अभ्यासी होकर भी ग्रामीण जीवन के ताजा यथार्थ पर साधिकार बातचीत कर लेते थे और स्वयं सुस्वादु भोजन, सुपाच्य मिष्ठान्न, अच्छे पेय और 'सुगन्ध शृङ्गार' जैसी कीमती अगरबत्ती के प्रेमी होकर भी उस अनपढ़ अर्द्ध नग्न ग्रामीण जन की पीड़ा की बेतहाशा बातें कर पाते थे, जिसके पेट की अँतड़ियाँ अक्सर भूख से ऐंठती रहती हैं।''[६४]

रेणु ही वह अकेला व्यक्ति है, जिसने कर्मयोगी के रूप में सारे कटु और विषम अनुभवों को झेला है और जिन्दगी के कटुतम अनुभवों को आशीर्वाद स्वरूप अपने माथे पर धारण किया है।[६५] वह जगत का हलाहल पीकर अमृत लुटाने वाला कथाकार है। सर्वहारा के जीवन के इस कथा गायक के संस्कार बालजक की तरह सामन्ती हैं। सामन्ती संस्कार रहते हुए भी बालजक ने सामंतवाद के विरोध में लिखा। उस पद्धति, व्यवस्था पर मारक व्यंग्य प्रहार किया। परन्तु रेणु ने 'परती परिकथा' में अपना सारा ममत्व सामंतवादी चिन्तन को दे दिया।

उनके नेह छोह की डोर, भाव-चेतना की घुंडी सब दिन उनके गाँवों से बँधी रही। गाँवों से उनका गहरा लगाव केवल उपन्यासों के कारण नहीं है। उनकी कई छोटी-मोटी मर्मस्पर्शी कहानियों में भी वैसा ही लगाव है।

बीसवीं शती के तृतीय चतुर्थ दशक में स्वतन्त्रता आंदोलन, कृषि संस्कृति की टूटती हुई मीनार, वंशानुगत व्यवसाय में अनास्था, शहर के प्रति आकर्षण इत्यादि ने गाँव के रूप, अंतःप्रकृति और मानसिक परिवेश में परिवर्तन लाना शुरू किया। इसलिए इस संक्रमण काल में अपनी पुरातन अकृत्रिमता और सुदीर्घ साहचर्य के कारण गांव या देहात ने पूरे देश के कथाकारों को आकृष्ट किया था।'[६६] इसी काल में 'गणदेवता' (बँगला), 'गोदान', 'देहाती दुनियाँ' (हिन्दी) सोरठा तारा वहेता पानी' (गुजराती) एवं 'धरती की ओर' (कन्नड़-शिवराम कारंत) आदि आंचलिक तथा ग्रामभित्तिक कथाकृतियाँ प्रकाश में आईं। रेणु इसी धारा की 'तुंगतरंग'[६७] बनकर आए और स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी होकर चले गए।

रेणु की सबसे बड़ी विशेषता भाषा की बुनावट और भावात्मकता है। भाषा की सूक्ष्म अर्थवत्ता और काव्यात्मकता उनके सारे कथ्य को ढँक लेती है। डॉ० कुमार विमल के अनुसार—''भाषा के व्याकरणसम्मत संस्कार से नातिपरिचित आंचलिक लेखक के रूप में रेणु की शैली में विपथनशीलता आई और उसी विपथनशीलता ने

रेणु की भाषा शैली को विशिष्ट बना दिया।"[६८] सहृदय पाठक उनकी भाषा-शैली-गत शिल्पकारी से विमुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

मैला आँचल (१९५४)

इसके मूल में आंचलिकता है जिसकी महत्वपूर्ण स्वीकृति प्रेमचन्द के कथा साहित्य में ही हो गई थी, किन्तु 'मैला आँचल' के पूर्व तक कोई ऐसी व्यवस्थित रचना प्रकाश में नहीं आ सकी थी, जिसका मूलकथ्य अंचल हो। कथ्य, कथा, कथन और कथा-माध्यम (भाषा) की दृष्टि से यह कृति आद्यन्त आंचलिक है। इस कृति के कारण रेणु चोटी के उपन्यासकारों में परिगणनीय हो गए।

यह उपन्यास अन्य आंचलिक उपन्यासों से भिन्न है यथा 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'बूंद और समुद्र', 'कब तक पुकारूँ', 'बया का घोंसला और साँप', 'अलग-अलग वैतरणी' आदि से। इसकी विशिष्टता मिथिला के निरन्तर बदलते आज के गांव की तस्वीर में आँकी जा सकती है, जो सदियों से सोते-सोते अब जागने लगा है। भारतीय देहात के मर्म का इतना सरस और भाव-प्रवण चित्रण हिन्दी में सम्भवतः पहले कभी नहीं हुआ। गत महायुद्ध, तज्जन्य प्रभाव, स्वाधीनता आन्दोलन आदि ने भारतीय जीवन को भीतर तक झकझोर दिया है। इस उथल-पुथल के कारण जीवन के अनगिनत नए-नए पर्त उघरकर सामने आ गये हैं। 'मैला आँचल' में देहातों में हुए इस आलोड़न एवं विक्षोभ को साफ-साफ देखा जा सकता है।[६९]

एक उपन्यासकार का कवि होना भाता है, उसकी काव्यदृष्टि मुग्ध करती है, पर उसकी अतिशयता आरोपित लगती है, सायास, यत्नसाधिता, बालदेव, कालीचरन, लछमी, सेवादास महंत, बावनदास, डॉ० प्रशान्त कुमार, कमला तहसीलदार आदि में मानवता के स्वर सम होने का और राजनीतिक दलों के नारे विषम होने का आभास देते हैं। लगता है कि रेणु ने आधुनिकता की चुनौती को नवस्वच्छंदतावाद के धरातल पर स्वीकार किया है।[७०]

इसे लेखक के वर्णन शैली की सशक्तता कहा जाए कि उसने मेरीगंज को पूरे भारत के गाँवों का प्रतीक मानकर चित्रित किया है। जमींदारों का शोषण, आर्थिक वैषम्य, पुराने-नए मूल्यों की टकराहट और असमानता, जमींदारी-उन्मूलन तथा भूमि की समस्या, राजनीति, धर्म तथा समाज सबके निर्माण और विध्वंस की टकराहट इस उपन्यास में मेरीगंज के माध्यम से इतने विशाल चित्रफलक पर अभिव्यक्त हुए हैं कि वह एक काल-विशेष का सजीव एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित करने मे सफल हो जाता है।[७१]

लेखक केवल ग्रामीण समस्याओं में नहीं उलझा है, बल्कि गांव की अन्तरात्मा में अवगाहन किया है। ग्रामीण पात्रों को इतनी मानवीयता, सहृदयता तथा काव्य-मयता के साथ प्रेमचंद के बाद पहली बार रेणु ने नए सन्दर्भों मे प्रस्तुत किया है।

रेणु होरी, मृणाल और शेखर ऐसा समाज का जीवंत प्रतीक बनने योग्य पात्र इसलिए नही दे पाए कि वे नाना समस्याओं और परिस्थितियों में उलझे रहे यों बामनदास एवं प्रशांत में इसकी अशेष सम्भावनाएँ थीं।

इसमें उपन्यास के नए मुहावरे को खोजने का सफल चेष्टा है, जिसका परिपाक इसकी प्रयोगशील रचना-प्रक्रिया में मिल जाता है। वस्तुत: यह आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है। डॉ० इंद्रनाथ मदान इस कृति की भाषा पर सटीक टिप्पणी देते हैं—'इसकी भाषा लोकजीवन, लोक-संस्कृति और संगीत के धुन से युक्त है। इसमें सन्देह नहीं कि इस धुन में रेणु का कवि उभरकर सामने आता है और वह उपन्यासकार पर हावी हो जाता है।'[७२] परन्तु यह दोष तत्सम्बन्धी अंचल को उसकी पूरी समग्रता मे उभारने के कारण उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता।

परती परिकथा (१९५७)

इसकी कथा का मूलसूत्र भी लगभग 'मैला आँचल' जैसा है। पात्रों के नाम एवं कर्मों में परिवर्तन भर है, वरना मूल पृष्ठभूमि वही है। इस कृति के अनेक यथार्थवादी पात्रों के माध्यम से पुन: ग्रामीण जीवन का सजीव और यथार्थ चित्रण मिलता है। 'मैला आँचल' मे रेणु जिस आंचलिक दृष्टि का प्रारम्भ कर आए है, 'परती परिकथा' के लिए यह सशक्त पृष्ठभूमि का काम करती है। यहाँ उनकी यथार्थ दृष्टि अपने पिछले उपन्यास की अपेक्षा अधिक संतुलित तथा निरपेक्ष है। उसकी चयन दृष्टि में भी अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक प्रौढ़ता आई है।

स्वातत्र्योत्तर भारत के संक्रमणकालीन गाँव का प्रतिनिधि है परानपुर। परानपुर भीतर से टूट रहा है। बाहरी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक दबाव उसके आंतरिक जीवन को सक्रमित कर रहे हैं। इस परिवर्तित होते हुये दृश्य को रेणु विराट् फलक पर सूक्ष्म दृष्टि और सहृदयता के साथ चित्रित कर सके हैं। 'परती भूमि की यह दुखभरी कहानी कोसी नदी की क्रुद्ध उच्छृङ्खलता से जीवन्त है। नए प्रशासन की नई-नई योजनाओं के अधीन गाँव का नक्शा बदल रहा है।'[७३] नई सामाजिक और राजनैतिक जीवन भूमि को केन्द्र मान सारा गाँव उसके चारों ओर घूम रहा है। 'जान पड़ता है कि कोसी अंचल की कुछ वर्षों की सारी जीवन-गति उपन्यास में उठाकर रख दी गई है।'[७४]

'मैला आँचल' का विकास 'परती परिकथा' नहीं, वरन् इसका सामाजिक परिवेश अधिक व्यापक है। राष्ट्रीय आंदोलन का ज्वार उतरने के बाद जिस वातावरण में परानपुर का ग्राम्य जीवन चित्रित किया गया है, उनम अनेक अंतर्विरोधी तत्व विद्यमान हैं। वे विभिन्न वर्गों और राजनीतिक दलों में एक तनाव सा उत्पन्न करने है। इस तनाव के जो बीज 'मैला-आंचल' में राष्ट्रीय-आंदोलन की उच्छल

प्राणधारा तले दबे से रह गए थे, वे 'परती परिकथा' में स्पष्ट और विकसित रूप में प्रकट हुए हैं।[७५]

मध्यवर्गीय किसान, खेतिहर जमींदार तथा कृषक, श्रमिक का सामंतवादी उच्च मध्यवर्ग से संघर्ष, बदलते हुये गाँव की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियाँ (उसमें जितन और ताजमनी की प्रेमकहानी), लैंड-सर्वे, कोसी प्रोजेक्ट, सर्वोदय इत्यादि आन्दोलन, वैयक्तिक स्वार्थों की टकराहट, राजनीतिक दलों की अवसरवादिता, उच्चादर्शों के पीछे दबी क्षुद्र ओछी लिप्साएँ, बड़ी सूक्ष्मता एवं जीवंतता के साथ चित्रित हैं। इसमें रेणु को सफलता मिली है।

'परती परिकथा' की सबसे बड़ी शक्ति यही है कि सतही तौर से जहाँ बिखराव या विशृङ्खलता दिखाई देती है, उसके पीछे परानपुर की समस्त विशेषताएँ और असंगतियाँ, प्रत्येक छोटे-से-छोटे प्राणी का सुख-दुःख, जीते-जागते, लड़ते-झगड़ते मनुष्यों की गाथा के दर्शन होते हैं।[७६]

उपन्यास में वातावरण की सृष्टि के लिए जहाँ कोसी योजना का इतिहास, विवरण, परानपुर के जलसे-जुलूस, स्त्रियों की गाली-गलौज, पंचायत के दृश्य, यात्रा, नाटक, कीर्तन, लोकगीत[७७] आदि का प्रयोग किया है, वहाँ विभिन्न स्वरों और नाद समूहों का व्यवहार भी किया है, जो अंचल को उसकी संपूर्णता में व्यक्त करते हैं। काव्यात्मकता एवं भावात्मकता दोनों में यह 'मैला आँचल' से आगे है। भावों के अनुरूप इस कृति में भाषा का प्रयोग रेणु की क्षमता का प्रमाण है कि उसमें प्रादेशिक शब्दों में इतनी सामर्थ्य भरने की शक्ति है।

दीर्घतपा

यह रेणु का तीसरा आंचलिक उपन्यास है। इसकी भूमिका ही इस बात का प्रमाण देती है—"यह उपन्यास ''''नहीं, आंचलिक नहीं ''''हाँ, आंचलिक ही '''' किंतु '''' अर्थात् यह उपन्यास, उपन्यास है।" समाजसेवी संस्थाओं में प्रतिष्ठित बाँकीपुर का विमेंस वेलफेयर बोर्ड ही इस कृति का कथांचल है। इसके साथ एक वर्किंग विमेंस होस्टल भी चलाया जाता है। उसकी स्थिति इस प्रकार है— जिधर ट्रेनी लड़कियाँ रहती हैं, उसे यहाँ 'पिछवाड़ा' कहा जाता है। इधर होस्टल की महिलाओं ने इस हिस्से का नाम 'दाईकित्ता' चला दिया है। 'दाई कित्ता' के बाद दीवार है। दीवार के उस पार है मेटरनिटी सेन्टर, शिल्प केन्द्र।'[७८] सभी संस्थाओं का संचालन वेलफेयर बोर्ड द्वारा होता है।

'दीर्घतपा' एक ऐसी नारी की कहानी है जो दीर्घकाल से तपस्या को अपना लक्ष्य बनाकर अपने को समर्पित करती रही है। देश की स्वतन्त्रता के नाम पर वह सब कुछ सहन कर गई। 'बेला बाँके बिहारीलाल के दोस्तों के पाकेट, क्रांतिकारी दल के आवर्त्त से उभर कर लहरों पर तैरती बनारस की गलियों और काल कोठरियों से

निकलकर गंगा में पाप धोकर, जीवन पर जिसका विश्वास जमा था।'[७६] वही है बेला।

किन्तु बाँके की कायरता का फल इसे मिला। अपना सर्वस्व बलिदान कर भी इसके पास-बुक में पंद्रह रुपये पचास पैसे जमा है। वह जीवन की विषम परिस्थितियों से घबराती नहीं है— सामना करती है। जीवन को ही अन्त में विसर्जित कर देती है।

यह कृति नारी जीवन के यथार्थ चित्र की अविकृत दर्पण है। यह जिस अंचल से सम्बद्ध है, वहाँ के लगभग सभी विषय उजागर हुए हैं— श्री सुन्दरी की साधना (जिसमें काम वर्ज्य न होकर आचरणीय एवं उपयोगी है), स्वतन्त्रता संग्राम की उथल-पुथल और १९४७ के देश-विभाजन के बाद पश्चिमी सभ्यता के अभिशाप स्वरूप चारित्रिक गिरावट, तिकड़म, छल-प्रपंच, सुरा-सुन्दरी में लिप्तता, भोगवादी वृत्ति का आधिक्य आदि।

कामुकता का सर्वाधिक विकृत रूप समलिंगी कामाचार भी लेखक की पैनी नजर से अछूता नहीं रहा है। होस्टल की सेक्रेटरी श्रीमती आनन्द कामुकता के महाजाल में ऐसी फँसी हैं कि उसका बाहर निकलना असंभव-सा प्रतीत होता है। वह अपनी हीन और गर्हित वृत्ति के कारण निकृष्ट-से-निकृष्ट कार्य करने में भी नहीं हिचकती।

रमला बैनर्जी के रूप में रेणु ने नारी की उदात्त सेवावृत्ति के द्वारा उस अंचल की नारी-समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। होस्टल के वातावरण में जाति-पाँति के स्वाभाविक चित्र उभरे हैं। स्त्रियों के पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा का सूक्ष्मता से अंकन हुआ है। पूंजीपतियों की मनोवृत्ति का उद्घाटन यथार्थ के कुरूप चेहरे को उजागर करके रख देता है।[८०]

उपन्यास के पात्रों के सारे क्रिया-कलाप विमेंस होस्टल के माध्यम से बाँकीपुर अंचल को उसकी समग्रता में चित्रित करने की ओर उन्मुख हैं। इसकी भाषा पहले के उपन्यासों की तरह है। स्थानीय शब्दों का प्रयोग गाँव से आई औरतों द्वारा होता है। इस अंचल में अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जो बाँकीपुर अंचल की देन है। लेखक ने स्थानीय शब्दों को ज्यों-का-त्यों रहने दिया है, कोई अनुवाद नहीं किया है। उनका तर्क है—"मैंने इस उपन्यास में जानबूझ कर ऐसे किसी शब्द का अर्थ नहीं दिया ताकि इसी बात पर फिर एक बार आंचलिक और आंचलिक लेखन पर बहस हो जाए....।"[८१] इससे रेणु की आंचलिकता को गति मिलती है।

जुलूस

इसका कथानक गोडियार गाँव की नवीननगर कालोनी पर केन्द्रित है। लेखक को लगता है कि एक विशाल जुलूस चल रहा है, जिसका सोते-जागते, खाते-पीते वह

एक अंग है। विराट की सत्ता का आस्वादन लेने के लिए ही वह उसके साथ होता है।

यह पूर्वी बंगाल से आए शरणार्थियों की कथा है, जो एक बार उखड़ कर कहीं जम नहीं पाते। इनकी वेदना को स्वर देने वाला है, हल्दी चिरैयाँ 'काकस्य परिवेदना। स्पष्ट। हू, फ, हूँ।'[८२]

सन् १९४७ के देश-विभाजन के परिणामस्वरूप विस्थापित हुए और परम्परा से पूर्णिया जिले के गोड़ियर गाँव में बसने वाले लोगों के संक्रमण की कथा है इस कृति में। जिस तरह 'झूठा सच' में यशपाल ने एक विशाल कनवेस पर 'वतन और देश की समस्या' को आँका है, उसी प्रकार रेणु ने जुमापुर गाँव (वर्तमान बंगाल) से विस्थापित लोगों की समस्याओं को विराट फलक पर चित्रित किया है। नवीन नगर कालोनी का सार-परिवेश उसी दुर्भाग्य का शिकार है, जो गाँवों की पृथक् राजनीतियाँ बनाता है। उसे विभिन्न कुरीतियों से जकड़े रहता है।

इस उपन्यास की घटनाएँ इतनी स्वाभाविक लगती हैं कि कुछ गढ़ा या कल्पित नहीं लगता। घटनाओं का बाहुल्य यहाँ भी है, पर उसका सम्यक् निर्वाह हुआ है। तालेवर गोढ़ी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के बावजूद पवित्रा का चरित्र उभरा है। लेखक ने 'पूर्वदीप्ति शैली' (फ्लैश बैक) में उसका चरित्रांकन किया है। उसकी पीड़ा को औचित्य की वाणी दी है।[८३]

इस उपन्यास में मंत्र-तंत्र जादू आदि की चर्चा से लेकर कैम्प में रहने वाली शरणार्थी युवतियों के प्रति मनचलों के व्यवहार तथा स्त्रियों के सौदे तक की घटनाएँ सँजोई गई हैं। यथार्थ चित्रण के प्रवाह में कहीं-कहीं रेणु वर्जित प्रदेशों तक चले जाते हैं।

इस कृति में रेणु को लगता है कि अंचल की अधिकांश समस्याएँ राष्ट्र-प्रेम तथा विश्व-बंधुत्व की भावना से सुलझाई जा सकती हैं। पवित्रा को इसी का दुःख है कि लोगों को अपने गाँव की मिट्टी से मोह क्यों नहीं है।

स्वर समूहों और नाद समूहों का प्रयोग रेणु की शैली की विशेषता है। वातावरण निर्माण के लिए देहाती कहावतों, गीतों और शब्दों का आंचलिक प्रयोग, तद्भव रूप भी अन्य उपन्यासों के समान हैं। जुलूस की आंचलिकता भाषा और शैली तक है। वही अपने प्रखर प्रभाव से शैली भी रंग देती है।

उदय शंकर भट्ट

इनका मूल स्वर व्यक्ति की स्वतन्त्रता, विशेषकर नारी-स्वतन्त्रता है। नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण है और उनकी स्वतन्त्रता का स्वर उनकी रचनाओं में सशक्तता के साथ मुखरित है। यथार्थवादी चित्रण इनकी विशेषता है।

लेखन के क्षेत्र में इनके कलागत ईमानदारी और संतुलित दृष्टिकोण के कारण हिन्दी उपन्यास को नई दिशा मिली है। इनके उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ और प्रगतिशील दृष्टिकोण का समन्वय मिलता है।[८४] साथ ही उसमें छायावादी भावबोध भी मिलता है। कारण, उनके कवि का उपन्यासकार पर छा जाना। फलतः उनके उपन्यास का अभीष्ट एक सीमा तक सुधारवादी हो उठता है। कथानक रोचक एवं सीधा-सादा, पर औत्सुक्य लिए है। जीवन के यथार्थ से पात्रों का चयन हुआ है। शिल्प की दृष्टि से उन्हें सफलता मिली है।

इनकी गणना आंचलिक उपन्यासकारों में की जाती है, जिसके उदाहरण है — 'सागर लहरें और मनुष्य' एवं 'लोक परलोक'।

सागर लहरें और मनुष्य (१९५५)

इसमें बम्बई के पश्चिमी तट के मच्छीमारों के गाँव बरसोवा के जीवन का चित्रण है। यह सागर की लहरों के साथ जाने वाले मनुष्यों की कथा है। 'तूफानों में उमड़ते, समुद्र की लहरों में साँस लेते मनुष्यों की कहानी है, जहाँ घोंघों, मछलियों और बेशुमार जंतुओं की तरह हवाएँ बोलती हैं, बादल गरज कर ललकारते हैं, बिजलियाँ लहरों से शृङ्गार करती हैं।' इस उपन्यास में लेखक ने समुद्र को वाणी दी है। लहरों में बातें की हैं और दी हैं सदियों से खोई मछलीमारों की आतमा पहचानने की आँखें।[८५]

इस कृति में आंचलिक प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में व्यक्तिमूलक जीवन-दर्शन का स्वर मुखरित है। इसमें सागर, लहरों और मनुष्य के प्रतिनिधि मच्छमारों को उतनी प्रमुखता नहीं मिली है, जितनी रत्ना, माणिक और डा० पांडुरंग को। रत्ना की महत्वाकांक्षाएँ, कल्पनाएँ, स्वप्न उसे बरसोवा के नीरस, घुटे और पिछड़े हुए जीवन से विरक्त कर बम्बई के चमक-दमक भरे जीवन की ओर आकृष्ट करती हैं और यही उसके पतन का कारण भी है। माणिक से प्रवंचित होकर सेठ की नौकरी। इज्जत प्रतिष्ठा बचाने के लिए संघर्ष। घीरुवाला से छले जाने पर अस्पताल में पहुँचना। संघर्षों का अंतहीन सिलसिला।

उपन्यासारंभ में सामुद्रिक वातावरण, मछलीमारों के क्रिया-व्यापार, समुद्र से उनकी आत्मीयता आदि के सघन एवं संश्लिष्ट चित्र हैं, परन्तु चरित्र-विन्यास का प्रयास उसे आंचलिकता के पूर्ण परिपाक से रोकता है। वह न तो बरसोवा के जीवन के साथ न्याय कर पाता है और न रत्ना के आंतरिक तूफान को औचित्य की वाणी दे पाता है।[८६]

श्री धनंजय वर्मा 'सारे औपन्यासिक उपकरणों के बावजूद' एक 'स्वतन्त्र जीवन-रचना न कहकर इसे जीवन की दिलचस्प और रंगीन छाया··· फिल्म रील

करते हैं ।[८७] उनका अभिमत ध्यातव्य है—'प्रकृति के लिहाज से इस उपन्यास ने उपन्यास की कोई नई जमीन नहीं तोड़ी है, बल्कि वह हिन्दी के कई उपन्यासों की परम्परा में ही है । वह एक जीवन-यात्रा का इतिहास है…स्वयं जीवन-यात्रा नहीं । … चरित्रों और घटनाओं को एक खास ढंग से उभारने, उन्हें खास रंग और कोण देने के लिए …और यह हस्तक्षेप इतना प्रबल है कि स्थितियों और व्यक्तियों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व, सत्ता और जीवन रह ही नहीं गया है ।'[८८]

बम्बइया, गुजराती, मराठी, हिन्दी मिश्रित भाषा का प्रयोग सहज और प्रभावशाली है । स्थानीयता के पुट में रोचकता और प्रामाणिकता उत्पन्न करने का प्रयास किया है । पात्र की मानसिकता उभारने वाले संवाद हैं – सुन्दर, स्वाभाविक— '….जैसे हमने मालिक कू हर लियाय । आखा दिन काम करना कमर टूट जाताय तो रात कूं खिलाता-पिलाता जरा नींद आ गया तो इसने समजा हम बदमाश हो गयाय ।'[८९] मुहावरों के जीवंत प्रयोग, साहित्यिक काव्यात्मकता के प्रयोग प्रभावशाली हैं । इसके गीत भी स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल सटीक हैं । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है 'सागर लहरें और मनुष्य ।'

लोक परलोक (१९५८)

इसी कृति का अंचल है तीर्थग्राम पदमपुरी । समस्या है सामाजिक—पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से गाँवों में आई विकृति, पारस्परिक फूट, वैमनस्य, असन्तोष । धार्मिक आडम्बरों के पीछे अनैतिकता, लोभवृत्ति और पाखंड पनप रहे हैं । इनका अत्यन्त यथार्थपरक चित्रण हुआ है—'लोक परलोक' में । इसमें चरित्रों के स्वतन्त्र विकास की ओर लेखक का ध्यान उतना नहीं है, जितना सम्पूर्ण अंचल को उभारने में ।

गाँव की दशा दयनीय है । वहाँ पंचायत है, पर कुत्सित राजनीति है । 'गाँव की खूबी यह है कि कोई किसी का भला नहीं चाहता ।'[८९] फलतः गाँव में न सडकें हैं, न रोशनी । 'एक तरह से इस गाँव का सारा वातावरण अधकचरा, ज्ञान और अज्ञान की कड़ी पर झूल रहा है ।'[९०]

चमेली के द्वारा लेखक समाज में होने वाली नारी-दुर्दशा के विविध आयामों को वाणी देता है । चमेली यथार्थवाद की कोख से जन्मी है । 'लोग मुझे अपना शिकार समझते हैं…मुझे भोगने को तैयार हैं ।' यही साधुवेश की आड़ लेकर डाके डलवाती है । सब प्रकार के पापकर्म में डूबी रहती है । इस अति पर पहुँच कर उसे लगता है कि वह देह नुचवा रही है । वेश्यावृत्ति कर रही है । यहीं से उसके पश्चात्ताप व प्रायश्चित का उदय होता है, जो दूसरे अति परलोक की ओर उन्मुख करते हैं । फिर

वह गंगा तट पर संयम, आचार-विचार से पूरा जीवन बिता कर परलोक को प्राप्त होती है।

सामान्य हिन्दी और ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है—'आँखों में धूल झोंकते हैं साले। यात्रियों का माल चरते हैं सो ऊपर से। उनकी औरतों को घूरते हैं सो घाते में....।'[८१] तथा 'जामें बुरी बात काये नाम का वे दत्तदुद्ध, गंजे, हम साप कैते।... हम नांय होति काऊ बाप-फाप की इज्जत ....।'[८२]

शिल्प अन्यतम है। कथानक पात्र-निरूपण एवं शैली में आंचलिकता का स्वर भाषा की अपेक्षा अधिक मुखर है।

रांगेय राघव

बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं रांगेय राघव। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। पूंजीवाद, शोषण एवं बुर्जुआ मनोवृत्ति का तीव्र विरोध उनमें व्याप्त है। वर्ग-विषमता, सामाजिक विकृतियों, मानवीय कुरूपता और अत्याचारों पर उन्होंने मारक व्यंग्य प्रहार किया है। उन्होंने मानव और उसके यथार्थ को देखा है तथा तदनुकूल चित्रण भी किया है।

वे उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु नहीं समझते, वरन् क्रांति का हथियार मानते हैं। इसी से सामाजिक विकृतियों का उन्मूलन हो सकता है। सामाजिक यथार्थवाद की घोर पक्षधरता के कारण वे सैद्धांतिक वक्तव्य और आरोपित मूल्यों की शिथिलता से अपने को नहीं बचा पाए हैं।

फलतः न प्रगतिशीलता सशक्त रूप से उभर पाई है, न पात्रों में प्रगतिशील स्वाभाविकता का निर्माण ही हो पाया है। इसलिए कथाविकास में पात्रों का विकास कृत्रिम और क्षीण हो गया है।

इनके बहुत से उपन्यास हैं, जिनमें आंचलिक हैं 'कब तक पुकारूँ' और 'काका' : यहाँ 'कब तक पुकारूँ' का सामान्य परिचय दिया जाता है।

'कब तक पुकारूँ' (१९५७-१९५८)

राजस्थान और ब्रज के सीमांत पर बसे 'बैर' नामक ग्राम में बसने वाले खानाबदोश जरायमपेशा नटों का जीवन इस कृति का प्रतिपाद्य है। नटों के जीवन को समग्रता में अंकित करने के लिए लेखक ने उस भूभाग की अन्य जातियों को भी लिया है। 'नटों के जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को उभारने के लिए लेखक ने परिवेश के रूप में या तनाव तथा संघर्ष पैदा करने वाली प्रतिकथा के रूप में उस भू-भाग की अन्य जातियों के लोगों को भी लिया है।'[८३] इससे इसमें अनावश्यक विस्तार आया है। कौतूहल एवं औत्सुक्य बनाए रखने के लिए देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी एवं ऐयारी उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट है।[८४]

उपन्यासकार का कवि भी इसमें छलकता है और उपन्यासकार पर हावी होने की गवाही देता है।[८४] यह अन्य उपन्यासों में भी उपलब्ध है, जहाँ उपन्यासकार अपने कवि को पूरी स्वतंत्रता देकर अपने उपन्यासों पर कविता की लय को आरोपित होने से बचा नहीं पाता, यथा—'शेखर : एक जीवनी', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'चित्रलेखा', 'मैला आंचल' और 'सूरज का सातवां घोड़ा'।

यह उपन्यास आंचलिकता से मंडित है। इसलिए कि रेणु के 'मैला आंचल' (१६५४) से आंचलिकता का एक निश्चित स्वरूप सामने आ गया था। १६५८ में इसकी रचना हुई। अतएव, इसमें आंचलिकता की प्रवृत्ति का प्रभाव स्वाभाविक है।

इसके कथानक की संरचना चार पीढ़ियों के जीवन पर आधारित है ताकि समाजशास्त्रीय दृष्टि से ऐतिहासिकता का बोध कराया जा सके। इसमें मध्यकालीन जीवन का सजीव चित्रण लेखक की खोज का परिणाम है।[८६]

इसके केन्द्र में तीन पात्र हैं—सुखराम, प्यारो और कजरी। प्यारी का चरित्र विचित्र विडम्बनाओं से भरा है—'नाता जोड़ना और बात है, मन की होकर रहना और बात है।'

नटों के रस्म रिवाज, विश्वास-अन्धविश्वास, लोकगीत और उनकी संस्कृति का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण परिवेश के चित्रण को सजीव बनाते हैं।

ये शिल्पगत प्रयोगों में भी विशिष्टता रखते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ पैनी सूझ चिन्तन और लौकिकानुभूति की गरिमा सम्यक रूप में व्यक्त हुई है।[८७] यद्यपि इसमें कथा-रचना में शैथिल्य और नाटकीय तत्व विद्यमान है, तथापि यह उपन्यास ग्रामीण-अंचल की अभिव्यक्ति में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

देवेन्द्र सत्यार्थी

लोक-जीवन के प्रति इनका स्वभावतः प्रेम रहा है। ये 'जनपदीय आन्दोलन' के प्रभावशाली कार्य-कर्त्ताओं में रहे हैं, जिनका ध्यान ग्रामगीत की ताजगी, सरलता और सजीवता की ओर गया है।[८८] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने २२-८-४३ को देवेन्द्रनाथ सत्यार्थी को लिखे गये एक पत्र में उनके लोक-संस्कृति के प्रति प्रेम की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'......आप इसी प्रकार के एक विश्वास मित्र हैं, जिनका हृदय सार्वजनिक सद्भाव से उमगता रहता है......आप जैसे सौ सत्यार्थी हों, तब कहीं जनपदों में व्याप्त सामग्री की शतसहस्रो संहिता को कुछ-कुछ एकत्रित कर सकेंगे।'[८९]

'मधुकर' में छपे श्री सत्यार्थी, डॉ० अग्रवाल, श्री चतुर्वेदी जी आदि के पत्रों में इस प्रकार के विवरण उपलब्ध हैं। सत्यार्थी हैं लोक-गीतों के अनन्य उपासक। देश भर में भ्रमण कर उन्होंने लोक-गीतों का जो संग्रह किया है, वह संस्कृति का

अक्षय भण्डार है। काका कालेलकर का कहना है—'श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भारत के लोक-गीतों के अनन्य उपासक रहे हैं। उनकी प्रवृत्ति और उनकी निष्ठा की ओर महात्माजी ने मेरा ध्यान खींचा था। अपनी समृद्ध दाढ़ी के साथ फकीराना ढंग से उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया है, और भारत के हर प्रान्त के लोकगीत उन्होंने इकट्ठे किए हैं। उनका यह संग्रह एक सागर के जैसा है।'[१००] यह कथन उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों पर सम्यक प्रकाश डालता है।

इन्होंने हिन्दी के अतिरिक्त पंजाबी, उर्दू तथा अंग्रेजी भाषा में विविध विषयक साहित्य लिखा है। लोकतत्व की प्रधानता वाले इनके उपन्यास हैं— ब्रह्मपुत्र, दूधगाछ, रथ के पहिये। 'ब्रह्मपुत्र' आँचलिक परम्परा की एक सशक्त रचना है। इसीलिए इसका उल्लेख वांछनीय है।

ब्रह्मपुत्र (१९५६)

श्री भट्ट ने सागर की लहरों से खेलते मनुष्यों का चित्रण किया है, तो सत्यार्थी ने असम प्रदेश के नदी पुत्रों के लोक-जीवन का पुराण प्रस्तुत किया है। लेखक के मन में ब्रह्मपुत्र 'सौ वर्ष तक सोने वाली राजकुमारी'[१०१] की तरह प्रसुप्त पड़ा था। १९५७ के भूकंप और ब्रह्मपुत्र के जल से बाढ़ की भीषण विभीषिका से उत्पन्न त्रास ने उन्हें 'ब्रह्मपुत्र' लिखने की प्रेरणा दी।

ब्रह्मपुत्र के किनारे बसा है दिसांगमुख गाँव। ब्रह्मपुत्र को उस पर बार-बार क्रोध आता है और उसे सब बार पीछे हटना पड़ता है। वह बार-बार आबाद होता है और फिर बर्बाद होने के लिए विवश भी। लेखक उसे देवता मानता है और उसके दयालु होने का उल्लेख करता है—'ब्रह्मपुत्र बहुत दयावान भी है और बहुत क्रोधी भी।'[१०२]

इस अंचल के निवासियों का सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन व्यक्त हुआ है इस कृति में। स्वाधीनता के पूर्व की इस कथा में अंग्रेजी-सत्ता के दमन की दर्दनाक कहानी है, फिर भी गांव में जागरण है और उनमें अनन्त जिजीविषा। इसका प्रमाण है उसका ब्रह्मपुत्र से बराबर लड़ते रहना। 'ब्रह्मपुत्र में बाढ़ आती रहेगी····· जब तक दिसांगमुख बसता रहेगा।·······ब्रह्मपुत्र से पीठ दिखाकर भागना तो उन्होंने सीखा नहीं·······ब्रह्मपुत्र हमें सताए फिर भी वह हमारा मित्र है। उसके साथ हमारा लेन-देन है, हमारा भुगतान होता रहता है।'[१०३]

इस उपन्यास में कथावस्तु उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना महत्वपूर्ण है दिसांग-मुख अंचल निवासियों की समस्याएं। भाषा के सम्बन्ध में लेखक का कथन ही पर्याप्त सिद्ध होता है—'तो क्या इसे भाषा में नहीं लिखा जाना चाहिए था, जिसके माध्यम से सारा देश हमारी जन्म-भूमि के इस महान वरदान से परिचित हो सके।

हिन्दी में तो, क्या बंगला, क्या असमिया हमें सभी भाषाओं का मुहावरा लाना चाहिये, उनकी सुगन्ध, उनकी लोच, उनका रस उनमें वैसा का वैसा लाने की आवश्यकता है।'[१०४] इस कथन से कृति की भाषा-शिल्प पर प्रकाश पड़ता है। यह आंचलिक परम्परा की एक सशक्त कड़ी है।

राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'

ये स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में इनके दो उपन्यास महत्वपूर्ण हैं—'सूरज किरण की छांव' और 'जंगल के फूल'। ये विशेष उद्देश्य को लेकर चलने वाले रचनाकार हैं। उनके अनुसार साहित्यकार अपने परिवेश की उपलब्धि को लेकर चलता है। भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में उनके लिए आया है अंचल। शहरी जीवन न किसी संस्कृति को प्रभावित कर सकता है, और न किसी संस्कृति को जन्म ही दे सकता है। ग्राम ही संस्कृति के उद्गम स्थल हैं। अतएव, ग्रामांचल पर लिखा गया उपन्यास राष्ट्र का सांस्कृतिक उपादान है। सामजिक चेतना के साथ प्रगतिशील दृष्टिकोण का यथार्थ-परक समन्वय उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। उनकी विशेषताएँ हैं— स्वाभाविकता, सजीवता और रोचकता। यही उनकी सफलता के कारण भी हैं।

जंगल के फूल (१९६०)

लेखक की स्वीकारोक्ति है 'बस्तर के जनजीवन पर यह मेरा दूसरा आंचलिक उपन्यास है।'[१०५] सूरज किरण की छाँव, १९५८ की भी यही पृष्ठभूमि है।' बस्तर मध्यप्रदेश राज्य के दक्षिण में स्थित क्षेत्रफल के हिसाब से भारत का सबसे बड़ा जिला है……सघन वनों, घाटियों और नदी-नालों से भरी यहाँ की हरी-भरी धरती के ७५ प्रतिशत से भी अधिक निवासी आदिवासी हैं और आज भी अपनी आदिम सभ्यता में हैं।'[१०६] वे अपनी मान्यताओं, रीतियों और संस्कृति में जकड़े हैं। बाहर की सभ्यता उन तक पहुँची ही नहीं। उनके अपने प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर का 'अछूता कौमार्य', पूर्ववत सुरक्षित है, जैसे स्वतंत्रता के पूर्व था।

सुलक और महुआ घोटुलों के गदर का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसकी संगठन शक्ति ने 'लालमिर्च और आम की डाल' घर-घर भेजकर अधिकार हनन और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। 'यह जमीन हमारी है। यह जंगल हमारे हैं।' सारी धरती हमारी है। जिस लिंगो ने यह धरती बनाई, उसी ने हमें बनाया है।'[१०७]

प्रगतिवादी चेतना के साथ आदिवासियों के विद्रोह का चित्रण है। गोड़-जाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का यथार्थ चित्र सजीव हो उठा है। सुलक, झालर सिंह, गाथता, महुआ जैसे पात्रों में उस अंचल की समस्त विशेषताएँ सजीव, सवाक् हो उठी हैं। विश्व कल्याण एवं नव-जागृति का स्वर इस कृति की विशेषता है।

'तू गाँव का गायता है। तूने अपना धर्म निबाहा है। गाँव भर सुखी रहे.......
सब हँसते रहें, खेलते रहें।...... '[१०८]

आंचलिक शब्दों का सतर्कतापूर्वक प्रयोग, भाषा को दुहराना एवं अस्पष्टता के आवरण से निकलना कृति की सफलता का रहस्य है। शब्दों के लोक प्रचलित रूपों, मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग बड़ा अच्छा बन पड़ा है— 'क्या नाम है तेरा ! क्या देह है तेरी। म...हु...आ। देखकर जी में पानी आता है। एक बूंद मिल जाय तो डोंगुर में सरंग उतर आए...।'[१०९]

इसकी भाषा में काव्यात्मकता और भावात्मकता दोनों है। नाद शब्दों के प्रयोग से भाषा प्रभावशाली हो जाती है। यह कृति वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर और सफल आंचलिक उपन्यास है।

रामदरश मिश्र

पानी के प्राचीर (१९६१) गोरखपुर जिले की दो नदियों से घिरे हुए एक पिछड़े भू-भाग की कहानी आलोच्य उपन्यास में कही गई है। भूमिका में ही लेखक ने कृति का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। स्थानीय जीवन के समस्त सत्यों और पक्षों को चित्रित कर इस भू-भाग के संश्लिष्ट व्यक्तित्व को उभारना ही इसका लक्ष्य है। किन्तु इस भू-भाग के संश्लिष्ट व्यक्तित्व के माध्यम से राष्ट्र और युग की चेतना ध्वनित है। इसीलिए कथानक एक-दिशा-प्रवाही नहीं है, वह अनेक कोणों से उभरती जीवन-कथाओं की संश्लिष्ट बुनावट है।'[११०]

उपन्यास की मुख्य कथाधारा सत् और असत् के संघर्ष को अभिव्यक्त करती है, जिसके साथ सामाजिक और आर्थिक संघर्ष भी जुड़े हैं। पांडेयपुरवा गाँव का जन-जीवन, उसका समस्याएँ, लोक-मान्यताएँ, अन्धविश्वास, परम्पराएँ, लोकगीत इसमें प्रभावशाली ढंग से चित्रित हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ से जुड़कर पांडेयपुरवा ग्राम मेरीगंज की प्रतिस्पर्धा में खड़ा हो गया है।

यह अंचल प्राकृतिक प्रकोपों का शिकार है, वहाँ के पूंजीपतियों, जमींदारों और पुलिस के शोषण का भी शिकार है।[१११] गाँव में फूट और रंजिश इतनी है कि कोई किसी को देख नहीं सकता[११२] उनके संस्कार भूत, चुड़ैल, सोखा, पंडित, जाति-पाँति आदि उसके पिछड़ेपन के उत्तरदायी हैं।[११३] परन्तु नीरू, संध्या और मीलचन्द नई चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं और आशावादी सन्देश के साथ उपन्यास समाप्त होता है—पानी की दीवारें टूटेंगी, बाहर से नई रोशनी आएगी, खेतों में नए सपने खिलेंगे.......।[११४]

यद्यपि उपन्यास में साहित्यिक हिन्दी है, परन्तु लोक-गीतों और लोकभाषा का प्रयोग बड़ा ही सृजनात्मक हुआ है। भाषा को आंचलिकता से युक्त किया है

पूरबी शब्दों तथा मुहावरों के विस्तृत प्रयोग ने ।'......पाकड़ में टूसे आ गए हैं जो कहीं-कहीं लाल-लाल कोमल हथेलियों की तरह पसर गए हैं । आम्र मंजरियों की गंध भकाभक उड़ गई है ।' लोकगीतों की संयोजना मिश्र की भाषा को अत्यन्त मधुर बनाती है। एक उदाहरण ध्यातव्य है—'सेजिया से सैंया रूसि गइलें हो कइलीर ।'[११४]

इसे आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी कहा जा सकता है ।

शैलेश मटियानी

शैलेश मटियानी के तीन उपन्यास कुमायूं के अंचल से प्रभावित हैं—चिट्ठी रसैन १९६१, हौलदार १९६० एवं चौथी मुट्ठी १९६२ । उनकी आंचलिकता भाषा-शैली में अधिक है जो अन्य औपन्यासिक तत्वों पर अपनी छाप छोड़ता है ।

'हौलदार' डूंगर सिंह की जीवन-कथा है । वह हवलदार बनने की इच्छा से फौज में जाता है और ट्रेनिंग लेते समय अपनी ही गोली से लँगड़ा होकर छः महीने के भीतर गांव लौटने के लिए विवश होता है । शारीरिक अक्षमता के कारण उसकी इच्छाएँ कुण्ठाएँ बन जाती हैं । हीनभावनाजन्य मनःस्थितियों का विभिन्न कोणों से खींचा गया मनोवैज्ञानिक चित्र इस कृति की विशेषता है । यह व्यक्ति की कथा है । इसीलिए इसमें अंचल के सांस्कृतिक व्यक्तित्व की संश्लिष्टता का अभाव है ।

'चिट्ठी रसैन' मोहन सिंह की विधवा रमौती और पीताम्बर चिट्ठी रसैन के अवैध प्रेम की कथा है । पीताम्बर द्वारा छली जाकर परनार नदी की धारा में बही जा रही थी रमौती कि हौलदार नत्थू सिंह ने अपने छोटे भाई की पत्नी को अपनी बेटी जूली की तरह छाती से लगा लिया । शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास 'हौलदार' से आगे है ।

'चौथी मुट्ठी' पूर्व दीप्ति शैली में लिखा गया एक लघु उपन्यास है । इसका कथानक भी कुमायूं है । रतन सिंह डोंगरी की पुत्रवधू कौशिला और फोटोग्राफर ब्रजेन्द्र सिंह की पत्नी मोमिला मस्तानी की कथाएँ इस कृति को कलेवर देती हैं । ये दोनों ही स्त्रियां गोलूल देवता के दरबार में गईं और वहां उनकी मति पलट गई ।

लेखक की सफलता आंचलिक भाषा की सुन्दर और प्रभावशाली अभिव्यक्ति में है । कुमायूं के अत्यन्त सुन्दर शब्द-चित्र वहाँ की भाषा में उतरे हैं । आंचलिक शब्दों के 'बुरुशफूल' यहाँ खिलाये गये हैं । आंचलिक भाषा के तीन रूप यहाँ द्रष्टव्य हैं—

(क) अति आंचलिक भाषा, जिसमें स्त्रियों की बोली देखी जा सकती है—
'एक ढलि दिदी थोड़ा डाँटती-फटकारती है तो क्या हो गया, जो

बी'[११६]... या इस सवाल का जवाब तुम्हें क्या होने पर मिलेगा, जब घाघरे में पहली पाल के बेल-बूटे जैसे निकलेंगे ।

(ख) हिन्दी-मिश्रित आंचलिक भाषा जैसी अधिकतर पुरुष बोलते हैं जैसे 'ऐसी बरसात में भीगे पिनातू के पत्ते जैसी तर बातें... आखिरी बखत में तुम भी रंग में आ रहे हो अब ।'[११७]

(ग) अँग्रेजी मिश्रित आंचलिक भाषा जैसी फौजी या गांव के पढ़े-लिखे लोग बोलते हैं—'चार दिन मिलीटरी के फैमली क्वाटर में मेरे साथ रह आती तो फिर कोई पाता इसके उसके सलीकों को...[११८]

उनकी भाषा प्रेम-प्रसंगों, भावुकतापूर्ण स्थितियों आदि के वर्णनों में खूब रमी है । लोकगीतों एवं ध्वनिरूपों का प्रयोग भी अनुभूति की तीव्रता का द्योतक है । इनको भाषा के आंचलिक प्रयोग में उल्लेखनीय सफलता मिली है ।

शिवप्रसाद सिंह

अलग-अलग बैंतरणी में उन्होंने एक खास सजीव ग्रामीण परिवेश और करैता की ठनक पहचानने के बहाने समूचे भारतीय जीवन की तब्दीलियों, विसंगतियों, कठोर सच्चाइयों और प्रतिक्रियाओं से सीधा साक्षात्कार करने का प्रयास किया है । चीजों और स्थितियों को ठीक सामने लाने में कभी-कभी उनकी भावुक अतिरंजना भी आड़े जरूर आती है, और जब तब उनका सुपरिचित साहित्यिक कौशल भी ऊब उत्पन्न करता है । परन्तु इसमें दो मत नहीं कि इस साक्षात्कार की प्रक्रिया में अपने ढंग की गतिमयता और पूर्णता भी है ।[११९] आज के भारतीय जीवन की स्थितियों के इतने विपुल चित्र और चरित्र एक अरसे के बाद (इतने बेबाक और जीवन्तरूप में) अन्यत्र विरल है । लेखक ने 'तटचर्चा' में स्वीकार किया है—'नाचिरागि मौजा' और करैता का ठनकना मेरे लिए नई चीजें नहीं है । जाने कितने गाँव नाचिरागी मौजों में बदल गये । आज वहाँ झाड़-झंखाड़ के बीच करैत ठनकते हैं । लेकिन किसान है कि उसमें से भी 'वारिस के सगुन उचार लेता है । मैं बार-बार सोचता हूँ कि ये चीजें नाचिरागी क्यों हुए... ?'[१२०]

इसमें आधुनिक भारत के नये उभरते गाँव की नई प्रवृत्तियाँ, व्यक्ति, समाज और ग्राम जीवन के टूटने का सुन्दर विवरण है । लोकभाषा का प्रयोग इसकी निजी विशेषता है ।

कृति का प्रारम्भ होता है—चुनाव की प्रतिद्वन्द्विता, सारे गाँव का अनेक पार्टियों में बँटना, पुलिस आदि के अत्याचार में बँधे सुरजू सिंह, जैपाल, सुखदेव, हरिया, सरिया, खलील मियाँ, देवी चौधरी, बुझारथ आदि के परिप्रेक्ष्य में स्वातन्त्र्योत्तर भारत के गाँव की उभरती हुई नई तस्वीर से । इसमें देवनाथ और विपिन जैसे स्वप्नजीवी युवक घुट-घुटकर मर जाते हैं । 'विपिन चुप रह गया ।......

पूरब तरफ सिपिया नाला है। उधर पश्चिमी छोर पर पेड़ों की पाँत में खोया गाँव का हाँसिया ' करैता का सीवान, कहीं हरियाली नहीं, कहीं जल नहीं ···।''[121]

लेखक ने कितने ही सजीव चरित्रों को सृष्टि में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है। मास्टर शशिकांत, खलील, बिपिन, देवनाथ, सरूप भगत, पटहनिया भाभी, जगत मिसिर आदि पात्र सारे कथानक को सजीवता प्रदान करते हैं।

इस कृति की महत्वपूर्ण उपलब्धि है भाषा। ग्रामांचल के पात्रों की भाषा के प्राणतत्व को पहचानकर खड़ी बोली में भोजपुरिया का पुट देकर और बनारसीपन के लटकों के साथ भाषा को बड़ा स्वाभाविक बना दिया गया है। कृति भोजपुरी संस्कृति की दर्पण है।

अमृतलाल नागर

इनके दो उपन्यास आंचलिक परम्परा में परिगणनीय हैं—सेठ बाँकेमल एवं 'बूँद और समुद्र'।

'सेठ बांकेमल' (१९५५) में सेठ बाँकेमल एवं घनिष्ठ मित्र चौबे की कहानी है। इन दो आश्रयहीन बेरोजगार व्यक्तियों के जीविकोपार्जन के लिये लगाये गये बुद्धि-कौशल का हास्य-व्यंग्य शैली में बड़ा जीवन्त चित्रण बन पड़ा है। नये और पुराने के संघर्ष पर भी व्यंग्य है—'प्रेम से कहीं पेट भरे है भैया···इसी हमारे भारत-वर्ष में औरतें सती होवें थीं····[122] और ''क्या किया किस बेचारी लड़की ने जो अपने भाई के ब्या में हाजर नहीं हो सके। जिसका जेठ विलायत हो आया है इसी से ··· पंच जो सुसरा मुनपाल्टी का चेरमैन बना घूमे है, इसी का लौंडा मुसलमानी रखैल पाल रह्या है····।''[123]

इस उपन्यास की विशेषता है—हास्य और व्यंग्य (जिसमें उनका संवेदनशील व्यक्तित्व व्याप्त है), समाज की प्राचीन और दकियानूसी धारणाओं, अन्धविश्वासों और प्रथाओं के प्रति विद्रोह और सन्तुलित एवं तटस्थ दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए व्यष्टि और समष्टि का समन्वय।

सोलह अत्यन्त आकर्षक, व्यंग्यपूर्ण शीर्षकों के द्वारा नागर जी ने अपनी चुल-बुली भाषा और फड़कते अन्दाज में सेठ बाँकेमल की 'जोस जवानी' की 'तरकेट' कहानी लिखी है। आगरे की आंचलिक भाषा के प्रयोग के कारण इसे आंचलिकता की कोटि में रखा गया अन्यथा यह हास्य-व्यंग्य प्रधान है।

बूँद और समुद्र (१९५६)

उपन्यासकार का कहना है—'उपन्यास के क्षेत्र के रूप में मैंने लखनऊ की ग्रामीण संस्कृति और उसमें भी खास तौर पर चौक को ही उठाया है।' इसमें लखनऊ की ग्रामीण संस्कृति, बोली और समस्याओं का व्यापक एवं जीवन्त चित्रण हुआ है।

यह उपन्यास भी व्यष्टि और समष्टि (बूंद और समुद्र) के पारस्परिक विरोध को मिटाने का प्रयास है।

इसमें बिखराव का दोष स्पष्ट है। कारण, लेखक किसी वर्णन में स्वयं इतना रस लेने लगता है कि पाठक की जिज्ञासा से अधिक बताकर उसे ऊबाऊ बना देता है। डॉ० रामविलास शर्मा की टिप्पणी सटीक है—"अपने विवरणों मे वह (नागर) स्पष्ट ही इतना रस लेने लगते हैं कि अक्सर आपके जानने की इच्छा से बहुत अधिक बता देते हैं। अगर वह चाहते तो मथुरा, वृन्दावन, बिहार के विवरणों पर महीपाल के आयुर्चिन्तन और बाबा रामजी की बहसों पर थोड़ा अंकुश लगा सकते थे। इससे कथानक कुछ गँठ जाता।"[१२४]

आधी शताब्दी निश्चित रूप से इस उपन्यास में बोलती मिलेगी। ताई का चरित्र निःसंकोच रूप से भारतीय उपन्यास की एक विशेष उपलब्धि माना जा सकता है। 'जैहे बनि-बिगर न सागरता सागर की, बूंदता बिलैहे बूंद विवश विचारी की' की व्यक्तिवादी मान्यताओं को एक नई, सामाजिक परिभाषा, जिस प्रभाव और परिवेश में मिली है, उसके पीछे गम्भीर चिन्तन और मानसिक श्रम हैं। उनकी अद्वितीय प्रतिभा के कारण ही व्यक्ति और समाज के अछूते क्षणों और कोणों को वाणी मिली है।[१२५]

इस उपन्यास में आंचलिकता की कारण है इसकी भाषा। भाषा परिवेश और पात्र दोनों के अनुरूप अत्यन्त स्वाभाविक और स्थानीय बोली और लहजे का पुट लिए है। यथार्थ की प्रामाणिकता के लिए यह सुन्दर लेखकीय प्रयास है।

इस उपन्यास में मध्यवर्ग की मनःस्थितियाँ, जीवन-परिवेश, संघर्ष हैं, जो मानव समाज को महान उद्देश्य की ओर उन्मुख करता है।

शिव प्रसाद रुद्र

बहती गंगा (१९५२) इसमें बनारस की स्थानीय विशेषताओं को सतरह भिन्न कथाओं के द्वारा चित्रित किया गया है, जिसमें ऐतिहासिकता का समावेश है। परन्तु इस पर आंचलिकता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। ऊपर से स्वतन्त्र दीखने वाली इन कहानियों में आन्तरिक एकसूत्रता है।[१२६] नलवारिया दाताराम, शिवनाथ बहादुर सिंह, नागर मंगत भिक्षु, गौरी चित्रकार अमीरन आदि की कथाएँ खण्डचित्रों के रूप में परस्परान्युसूत होकर आंचलिक शैली में व्यक्त हुई हैं।

कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण, भाषा-शैली सभी पर गहरा आंचलिक प्रभाव पड़ा है, जो ऐतिहासिक कथानक वाले उपन्यास की समूची प्रवृत्ति को बदल देता है। गंगा के प्रवाह में सातत्य है, अक्षुण्णता है, व्यापकता है। इसी अनुभव के आधार पर लेखक ने व्यापक कथानक दिया है। सच तो यह है कि इसका कलेवर

गंगा की शीतल जलराशि सा ही मस्त करने वाला है।''''जिसमें पिछले दो सौ वर्षों की काशी के मस्तीमय जीवन का सरस विश्लेषण है, जिसके पात्र वास्तविक हैं और जो अपने वास्तविक जीवन में कल्पना को परास्त कर देने वाली धाराओं की सृष्टि करके उसके सजीव, सक्रिय, अलौकिक, कौतूहल नट बनकर स्वयं उपन्यास का अवतार बन गये हैं, मर गये हैं।[१२७]

इसकी प्रत्येक तरंग (ऐसी सतरह तरंगे हैं) या तो व्यक्ति है या तो ऐतिहासिक घटना या परम्परागत जनश्रुति या प्रथा। इस रूप में 'बहती गंगा' में भी गंगा-तट स्थित काशी की इसी विशेषता को दिखाने का प्रयत्न किया गया है।[१२८]

भाषा ही वह सबलतम पक्ष है, जो इस कृति को आंचलिक बनाता है। भाषा में न मिलावट है, न बनावट।

भैरव प्रसाद गुप्त

सत्ती मैया का चौरा १९५९, गंगा मैया १९६७

'सत्ती मैया का चौरा' एक वृहत् उपन्यास है। इसकी कथा का केन्द्र है उत्तर प्रदेश का गाँव पियरी। इसमें चित्रण है वहाँ की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक समस्याओं का, तीन पीढ़ियों के जीवन के विस्तृत चित्रपट पर सामन्ती मूल्यों के विघटन और नई चेतना के आलोक में नवीन जीवन संघर्ष का। 'लेखक ने इसमें नई ग्राम चेतना के आलोक में उन सभी समस्याओं पर निष्पक्षता और गम्भीरता से विचार किया है, जो भूखी आँखों से आज सारे देश को घूर रही है।''' यह भूख केवल पेट की भूख नहीं। यह भूख एक बेहतर जिन्दगी की है, उन सब चीजों और मूल्यों की है, जो जिन्दगी को बेहतर और जीने लायक बनाती है।'[१२९]

पराधीन युग से लेकर स्वतंत्रता संघर्ष, स्वतंत्रता, जमींदारी उन्मूलन और शनैः शनैः विकासारम्भ की स्थिति को गुप्त जी ने विस्तार से वर्णित किया है। साम्प्रदायिकता की विकासमान स्थिति का चित्रण देखने लायक है। गाँवों मे धीरे-धीरे नई चेतना का जागरण होता है। मन्ने इससे अवगत होकर नई जागृति के स्वप्न देखता है - यह नहर नहीं निकलने जा रही है, गाँव के सूखे जिस्म को खून मिलने जा रहा है—'हमारा गाँव अब पुराना गाँव नहीं रहेगा। इसका भावी रूप देख रहे हैं न।'[१३०]

भाषा है उत्तर प्रदेश की हिन्दी। उसमें स्थानीयता का रंग नहीं। उसके कथानक में अंचल की समग्रता तो नहीं आ पाई है, पर ग्रामीणांचल के जीवन और समस्याओं के चित्र आंचलिकता की ओर उन्मुख हैं। इसे अर्द्ध आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है।

गंगा मैया

इसमें बलिया जिले के एक गाँव को परिक्षेत्र बनाया गया है। स्वतंत्रता के

पूर्व शोषक एवं शोषितवर्ग के संघर्ष को चित्रित करना कृति का उद्देश्य है। इसमें मटरू के रूप में 'बलचनमा' की भाँति 'गोदान' के मृत होरी को जिलाने का प्रयास है—आत्मविश्वास साहस तथा विद्रोह से अनुप्राणित व्यक्ति के रूप में। 'गंगा मैया' उस नई चेतना का प्रतीक है, जो धीरे-धीरे देहाती जीवन में पनप रही है। इसका विद्रोही और नई चेतना का प्रतिनिधि मटरू अच्छी तरह जानता है कि जमींदारों से लोहा लेने के लिए शरीर में ताकत, किसानों में संगठन और एकता की महती आवश्यकता है।

लेखक की दृष्टि आशावादी रही है। इस सन्देश के लिए उपन्यासकार ने संयोगों और आकस्मिकता का सहारा लिया है, जो कथा-विकास में व्यवधान लाता है।

समाजवादी जीवन-दृष्टि का निरूपण उपन्यास का उद्देश्य है। मानवीय स्तर पर इस दिशा में आगे बढ़ते हुए कभी उन्हें स्थूल बनना पड़ता है, कभी सूक्ष्म। जहाँ स्थूलता का आधिक्य है, कथा-चित्र की संश्लिष्टता घटी है।[१५१] इसकी आंचलिकता इसके वातावरण में है।

बलभद्र ठाकुर

मुक्तावली, आदित्यनाथ, नेपाल की वो बेटी

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की तरह ही बलभद्र ठाकुर पीठ पर कंबल लादकर साधन-हीन युवक के रूप में हिमालय की यात्रा करने वाले यायावर लेखक हैं। उन्होंने अनेक वर्षों की दीर्घ-साधना कर कुल्लू, गढ़वाल, कैलाश, मणिपुर, दार्जिलिंग, नेपाल आदि का पर्यवेक्षण किया—वहाँ के भूमि, समाज, शासन-प्रणाली, रीति-रिवाज आदि का गहन अध्ययन किया।

'हिमालय कथामाला' नाम से लिखे गये उपन्यासों में प्रथम मुक्तावली (१९५५) है। इसकी मुख्य समस्या है मणिपुरी के सामन्ती जीवन में वर्ग-भावना। सामन्ती-वर्ग माइ तेई युवक चन्द्रवन्त का उच्चप्रशासनिक पद पर आसीन होना सहन नहीं कर पाता। वहाँ मणिपुरी और गैर-मणिपुरियों में संघर्ष है, साथ ही ब्रह्म समाज के पाखण्ड और शोषण की कथा भी इससे सम्बद्ध है।

इसमें प्रादेशिक जीवन का सीमित संघर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन के व्यापक संघर्ष के रूप मे चित्रित है। यहाँ आंचलिकता का विवरण मणिपुरी लोक-जीवन की मान्यताओं, विश्वासों, उत्सवों एवं वहाँ के खान-पान, वस्त्राभूषण आदि में देखा जा सकता है।

आदित्यनाथ (१९५८) कुल्लू की उपत्यका की एक अनजान घाटी के जन-जीवन पर आधारित है। लेखक ने भूमिका में पाठकों को सम्बोधित कर अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है—'...... ताकि नखऊ की भावुकता भरी लहरों में स्वामी सीमानन्द की तरह बहकर बाद में विनष्ट न हो जाएँ। स्वामी सत्यकेतु और वीरेन्द्र शर्मा जैसे लोग

स्वयं आदित्यनाथ के जीवन से कुछ सीख सकते हैं, स्वस्थ स्वाभाविक मूल्यों को पहचान सकें।' इसमें वर्णित राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की कथा (२११ पृष्ठों में) पूर्णत: आंचलिक है।

'नेपाल की वो बेटी' (१९५९) में नेपाल की हुटिपाला जाति के विवाह, रीति-रिवाज, प्रथाएँ, वेशभूषा, वर्गभेद, उत्सव आदि के वर्णन हैं। मूल उद्देश्य है मध्यवर्ग के राष्ट्रीय जीवन का चित्रण। कथा का आग्रह सामाजिक है और आंचलिक वातावरण तथा चित्रण का अभाव है। वेष-भूषा, रहन-सहन, खान-पान आदि के विवरण और बोलचाल आदि की भाषा के शब्द होने के कारण आंचलिकता का किसी प्रकार निर्वाह हो पाया है, जिसे संगत नहीं कहा जा सकता। लेखक ने भूमिका में स्वयं कृति का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। 'नेपाल के सैकड़ों मील लम्बे समस्त पश्चिमी भाग का ठेठ पहाड़ी ग्रामीण जीवन इस उपन्यास में चित्रित जीवन से भिन्न नहीं है। सामन्ती शासन और संस्कृति की बेड़ियों में जकड़ा हुआ वह जीव जैसे जड़वत आज भी जहाँ का तहाँ मौजूद है।'[११]

हिमांशु श्रीवास्तव

(लोहे के पंख, नदी फिर बह चली) हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास 'लोहे के पंख' (१९५७) की कथा चमार वर्ग से सम्बन्धित है। परन्तु यह सम्पूर्ण जाति शोषण और पीड़न की शिकार नहीं है। शोषक जमींदार मँगरुआ के प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है। औद्योगीकरण के कुप्रभाव एवं पूंजीवादी शोषण की कथा मँगरुआ को गाँव से भगाने के बहाने कही गई है। समाजवादी दृष्टि से सम्पन्न है उपन्यास। जाति-व्यवस्था और तज्जन्य समस्याओं का चित्रण नहीं है। उपन्यासांत में लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण खुलकर सामने आया है। भाषा-शैली, जाति-विशेष के चित्रण में ही प्रमुख रूप से आंचलिकता के दर्शन होते हैं।

'नदी फिर बह चली' की नायिका है परबतिया, जो पारिवारिक शोषण की शिकार बनकर किसान और मजदूर की नेता बनती है तथा पूंजीवाद के संघर्ष में उसका मार्गदर्शन भी करती है। इसमें आंचलिकता बाहरी विवरण में है, न कि कथा-वस्तु या चरित्र-चित्रण में। भाषा-शैली आंचलिक उपन्यास के अनुकूल है।

सुरेन्द्रपाल

लोक लाज खोई (१९६६)

इस कृति के कारण नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में इनका प्रमुख स्थान आया है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँवों में जो परिवर्तन एवं आधुनिकता की लहर चली है, उसने ग्रामीण जीवन की यथास्थिति और जड़ता पर प्रहार किया है। नए प्रश्न, नई समस्याओं ने सिर उठाए हैं। परम्परागत आदर्श होने लगे हैं विश्रृंखलित। लेखक

ने संवेदनशीलता, सामाजिक यथार्थवाद और मानवतावादी दृष्टिकोण से ग्रामांचल की कथा को उचित आयाम दिया है। कृति का सामाजिक परिवेश प्रभावशाली हैं।

उपन्यास में सोलह अध्याय हैं, जिसके प्रथम एवं एकादश अध्यायों को छोड़-कर शेष अध्यायों में भिन्न-भिन्न कथाओं का जाल-सा बिछा है।

राही मासूम रजा

आधा गाँव (१६६६)

गत वर्षों में लिखे गये सशक्त उपन्यासों में 'आधा गाँव' का स्थान आता है। हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में यह 'बहुत सी नई अवधारणाओं का स्रोत है। मुख्य बात प्रामाणिक अनुभव की है, यानी जिन्दगी के रवैये की'[१३३] और राही ने इस रवैये को पूर्णतः पहचाना है। आधा गाँव में ग्रामीण जीवन अपने भरे-पूरे रूप में, पूरी सच्चाई, तीव्रता और बेबाकी से सामने आता है।'[१३४]

पूर्वी उत्तर प्रदेश (गाजीपुर) के अंचल गंगौली के शीआ मुसलमानों के जीवन पर लिखा गया है यह उपन्यास। प्रकाशकीय टिप्पणी कहती है—'पहला जीवन्त आंचलिक उपन्यास है। इसके सभी पात्र बिना लगाम के हैं और उनकी अभिव्यक्ति सहज, सटीक और दो टूक है, गालियों की हद तक......।[१३५]

लेखक ने कथा क्षेत्र को 'ऊँघता शहर' कहा है। यह शहर इतिहास से बेखबर है। उसमें भविष्य के लिए सोचने का साहस नहीं है। वह क्षण-क्षण जीता, क्षण-क्षण मरता, फिर जी उठता है। पता नहीं उसकी यह घोर तपस्या कब खत्म होती है, पर गाजीपुर जिन्दगी के काफिलों के रास्ते पर नहीं है।[१३६]

लेखक के लिए उपन्यास एक सफर है। इसकी कहानी जी जा रही कहानी है—कल्पना-प्रसूत नहीं। यह सफर 'उद्गम' मियाँ लोग, ताना-बाना, नमक, गाथा, प्यास, भूमिका, तनहाई की कई मंजिलों से गुजरता हुआ 'नई पुरानी रेखाएँ' पर समाप्त होता है। इसमें सम्पूर्ण अंचल का निर्देशन नहीं होता है। आधे गाँव की कहानी दो-तीन परिवारों की कहानी बनकर रह जाती है। उनके परम्परा, मान्यता, विश्वास, जीवन-प्रथा, सुख-दुःख, प्रेम-घृणा सबको विशदता के साथ चित्रित करने का प्रयास हुआ है।

इस उपन्यास की जान है भाषा। भोजपुरी का प्रयोग बड़ा सुन्दर हुआ है—'बस इ समझा कि इससे लाख दो लाख बढ़ी गढ़ी हो तो ओ को समुन्दर कहा जाता है। ओ में बहुत.........'[१३७] गालियाँ शानदार हैं। एक ही पुस्तक में गालियों का इतना बड़ा संग्रह अन्यत्र दुर्लभ है। लेखक अश्लीलता की हद तक पहुँच गया है। लेखक की रवानीदार भाषा उपन्यास की सजीवता और रोचकता की कारण है।

कुछ अन्य ऐसे उपन्यास हैं, जिन्हें आंचलिकता की कोटि में रखा जा सकता है, पर विस्तार से बचने के लिए उनका अध्ययन-अनुशीलन यहाँ सम्भव नहीं। उनके

नाम हैं—मनहर चौहान 'हिरन सांवरी', आनन्द प्रकाश जैन 'आठवीं भांवर', जगदीशचन्द्र पांडेय 'गंगास के तट पर', श्याम परमार : 'मोर झाल', जय प्रकाश भारती : 'कोहरे में खोये चांदी के पहाड़', केशव प्रसाद मिश्र 'कोहबर की शर्त' आदि।

आंचलिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि

अंचल की सर्वमान्य धारणा के अनुरूप, उसके प्रयोग के प्रकृति निर्णयानुसार यह सुनिश्चित करना वांछनीय हो जाता है कि वह खंडगत या क्षेत्रीय संस्कृति रूपायित कर रहा है अथवा उसका प्रयोग व्यक्तित्व निरूपण या जीवन के सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए हो रहा है। इस संदर्भ में निश्चय ही आंचलिकतावादी अंचल को प्रथम प्राथमिकता देता है। उसकी माटी की महक और सोंधी-सोंधी गंध में आप्यायित जीवन का स्पर्श करता है। पं० राजनाथ पांडेय की उक्ति बड़ी सटीक है।

"प्रत्येक भू-भाग की मिट्टी की एक खास महक होती है और उसी मिट्टी में पनपी हुई वनस्पतियों के पत्ते-पत्ते और फूल-फूल से एक विशेष गंध होती है। उसी के अनुरूप वहाँ के समस्त जीवधारियों मानव-प्राणियों में भी अपनी एक अलग मनः-स्थिति या गंध होती है, जो किसी अन्य भू-भाग में उगे हुए फूलपत्तों और प्राणियों की गंध से भिन्न होने के कारण अपनी एक विशिष्टता रखती है।"[१३८]

आंचलिकता के अन्वेषण से निम्नांकित उल्लेखनीय तत्व दृष्टिगत होते हैं—

(क) क्षेत्र-विशेष के सत्य का उद्घाटन

(ख) क्षेत्र की संपूर्ण जनसंख्या का चुनाव अर्थात इकाई को 'इकाई न होकर संघ' के रूप में देखना।

(ग) 'टाइप' (रूढ़) के स्थान पर क्षेत्र विशेष को जीवन-प्रथा के विभिन्न स्तरों, प्रकारों तथा दलों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों की धारणा यानी वर्ग या जाति विशेष की स्वीकृति अर्थात् कुल मिलाकर अंचल के व्यक्तित्व या जीवंत नायक का चुनाव।

आंचलिकता के नियोजक तत्वों की प्रकृति के कारण ही आंचलिक कृतियों तथा अन्य रचनाओं में (गैर आंचलिक) एक स्पष्ट अंतर परिलक्षित होता है। डॉ० नगीन जैन इस अंतर को इस प्रकार स्पष्ट करती हैं—"जहाँ अन्य रचनाओं में देश काल एवं विशेष प्रकार-किस्म (टाइप) के संस्कार और व्यक्तित्व वाले पात्रों के माध्यम से घटनाओं का उत्कर्ष दिखाया जाता है, चरित्रों के मनोविश्लेषण से, जीवन को बाहर से काटकर भीतर तक देखकर या सामाजिक धरातल पर कसकर, जीवन के किसी सर्वमान्य सत्य या समस्या का उद्घाटन, समर्थन या विरोध किया जाता है।"[१३९]

चरित्र-विकास के लिए वह पात्रों को न चुनकर अंचल की समग्र जनसंख्या

को इसलिए वरीयता देता है कि उसकी गति सभी दिशाओं में है। उसके चरित्र टाइप न होकर समग्र भू-खंड या अंचल विशेष के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं। वे मनोवैज्ञानिक पात्र भले ही न हों, अपनी विशिष्टता एवं वैयक्तिकता की पहचान न बना पाएँ, पर उनके व्यक्तित्व से अंचल की पहचान अवश्य ही उभरती है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि बनती है 'स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए अंचल के व्यक्तित्व के समग्र पहलुओं का उद्घाटन करने से।'[१४०]

डॉ० रामगोपाल सिंह चौहान के अनुसार सर्वमान्य जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति या स्थापना एवं श्रेष्ठ व आदर्श चरित्र या व्यक्तित्व के निरूपण के स्थान पर भौगोलिक या सांस्कृतिक सीमाबद्ध क्षेत्र-विशेष के क्षेत्रीय या सामान्य जीवन-सत्यों का उद्घाटन अभिव्यक्ति या निदर्शन आंचलिकता की पृष्ठभूमि के मुख्य घटक हैं। "किसी उपन्यास में आंचलिकता की विशेषता शैली-शिल्प, बोली-बानी, वेशभूषा, रीति-रिवाजों आदि की ही विशेषता नहीं, वरन् दृष्टिकोण की भी विशेषता है।"[१४१]

कुछ आलोचकों के अनुसार इसकी पृष्ठभूमि में भौगोलिक स्थिति, समस्याएँ, पिछड़ापन, विशिष्ट प्रकार का जन-जीवन, वस्तुन्मुखी दृष्टि आदि तत्वों की विद्यमानता है। इसे विभिन्न तत्वों, वर्गों में विभाजित करने का एक ही लक्ष्य है—आंचलिकता को उसकी समग्रता में उजागर करना, आंचलिकता की आत्मा में अवगाहन करना।

आंचलिकता की स्पष्ट धारणा मिखाइल शोलोखोव के 'धीरे बहे दोन' से पता चलता है। यह संभवतः संसार का सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। 'मिसीसिपी नदी की कहानी'[१४२] पढ़े बिना भी यह चिंतन संपूर्ण नहीं होता। 'अंचल' शब्द निश्चय ही शहर की भाग-दौड़, चिल्लपों, क्षिप्रता से नितांत दूर गाँव या देहात का वह इलाका या भूखंड है, जहाँ का जीवन अपरिचित है, उपेक्षित है। डा० रांगेय राघव का कहना उचित ही है—

'....पर असली भारत गाँव में है जो अब भी मध्यकालीन विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित हैं।'[१४३] विश्वकोश ब्रिटेनिका की पंक्तियाँ आँचलिकता की पृष्ठभूमि और अवधारणा के लिए ध्यातव्य हैं। "आँचलिक उपन्यास एक गंभीर शैली है, जो मेरिया एड्जवर्थ के 'आइरिश प्रॉविंशियल लाइफ' और बालजाक के 'ला कामेडिहुमैनिए' में क्षेत्रीय जीवन के दृश्यों के विवरण से कितनी ही दिशाओं में विकसित हुई है। उदाहरणार्थ—दक्षिणी जीवन पर अमेरिकी उपन्यास और ग्रामीण, शहरी तथा महानगरीय समाज की अनेक महान कथाकृतियाँ—यथा जॉर्ज इलियट का 'मिडिल मार्च', सिनक्लेयर लुई का 'मेन स्ट्रीट्स' तथा बालजाक का 'ले पैरे बोरिआ।[१४४]

स्वातंत्र्योत्तर भारत के आंचलिक जीवन के परंपरागत स्वरूप में आने वाले

परिवर्तनों, ग्रामीण जनता की आशा-आकांक्षाओं, आवश्यकताओं, लोककल्याणी राज्य द्वारा संचालित विविध योजनाओं एवं कार्यक्रमों से ग्रामीण जनता की उपलब्धियों तथा उनके मार्ग में आने वाली बाधाओं का कलात्मक निरूपण आँचलिक उपन्यास की पृष्ठभूमि के मुख्य घटक हैं।[१४५] वस्तुतः हिंदी का आँचलिक उपन्यास साहित्य स्वातंत्र्योत्तर भारत के विगत ढाई दशक के हिंदी-भाषी आंचलिक समाज का सामाजिक सांस्कृतिक इतिहास है।

ऐतिहासिक तथा भौगोलिक

अधिकांश आंचलिक उपन्यासों की रचना स्वातंत्र्योत्तर काल में हुई, विशेषकर फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यासों ने इस प्रवृत्ति के विकास और संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त किया। उनकी कृतियों के द्वारा ही आंचलिकता का समृद्ध और स्पष्ट रूप सामने आया। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ने भी आंचलिकता को प्रोत्साहित किया। आजादी के लिए अनवरत किए गए संघर्ष, बलिदान, त्याग, शहादत का परिणाम अनुकूल नहीं हो पाया। इतनी बड़ी ऐतिहासिक विजय से भी निराशा ही मिली, जिसका सहज और स्वाभाविक चित्रण 'जल टूटता हुआ' में हुआ। कम्युनिस्ट नेता रामकुमार स्वतन्त्रता प्राप्ति से अपेक्षित उपलब्धियाँ न पाकर सरकार की आलोचना करने से बाज नहीं आता है।

'हाँ, आज पन्द्रह अगस्त है······आजादी की वर्षगाँठ। कोई नेता आया इस इलाके में आज तक? ये जग्गु नेता बैठे हुए हैं, इन्हीं से पूछा जाए, क्या पाया इन्होंने? गाँधी जी कहते थे सुराज्य होगा, खेत हीनों को खेत मिलेगा, मकानहीनों को मकान मिलेगा, जिसके पास ज़रूरत से ज्यादा खेत हैं, उनके खेत छिन जायँगे, जहाँ बंजर जमीन है, वहाँ हरियाली लहलहाएगी, बाढ़ में डूबी हुई धरती को वाराह की तरह सरकार ऊपर खींच लाएगी···आज भी बेगारी जारी है, मजदूरों को कम मजदूरी मिलती है, उनके लड़के आज भी बड़ा-सा पेट लिए खाने के लिए रोया करते हैं···।[१४६]

वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आंचलिक उपन्यास लिखे ऐसा कहना समीचीन नहीं होगा, बल्कि उन्होंने बुंदेलखंड के अंचल का प्रयोग ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए किया है न कि अंचल की भौगोलिक संस्कृति को रूपायित करने के लिए। ऐतिहासिक कथाकार का बल ऐतिहासिक घटनाओं को आधुनिक संदर्भों में प्रमाणित करने का अधिक रहता है। मूलतः उनके उपन्यास ऐतिहासिक हैं, आंचलिक नहीं। 'जनपदीय आंदोलन से सम्बन्ध होने के कारण भूखंड के प्रति वर्मा जी का आग्रह स्वयं एक ऐतिहासिक घटना है।'[१४७]

वर्माजी के उपन्यासों में चित्रित प्रादेशिकता का रंग ऐतिहासिकता के नीचे दब गया है। ब्रज विलास श्रीवास्तव ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—"ऐसे उपन्यास भी हो सकते हैं जिनमें आंचलिक और स्थानीय रंग होते हुए भी जिन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता।... ऐसे उपन्यासों में वातावरण को अधिक सजीव और यथार्थ बनाने और पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिये कथा के विकास-क्रम में परिस्थितियों के अनुकूल यथास्थान आंचलिक और स्थानीय रंगों— रीति-रिवाजों, भाषा आदि का पुट दे दिया जाता है।"[१४८]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ भौगोलिक पृष्ठभूमि का अपना विशिष्ट महत्व है। भौगोलिक परिवेश के अन्तर्गत ही पृष्ठभूमि (बैक ग्राउंड) आ जाती है। प्राकृतिक विशिष्टताएँ बाह्यरूप का निर्माण करती हैं, तो यह पृष्ठभूमि उस बाह्यरूप की आत्मा का। तात्पर्य यह है कि प्रकृति पृष्ठभूमि बनकर ही प्रभावशाली उपादान बनती है। अतः यह एक ओर प्राकृतिक दृश्यों की संयोजना होती है तो दूसरी ओर तज्जन्य वातावरण की भी।

अंचल को अंचल बनाने में सबसे महत्वपूर्ण हाथ भौगोलिक पृष्ठभूमि का होता है। कारण, वही उसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है तथा सामान्य सामाजिक जीवन से भिन्न करती है। इसी के चलते कई उपन्यास कथा-वस्तु की दृष्टि से आंचलिक न होकर भी पृष्ठभूमि की सफल योजना के कारण आंचलिक लगने लगते हैं यथा 'कोहबर की शर्त' और 'गंगा मैया।' प्रकृति-चित्रण तथा समस्याओं के सम्यक् विश्लेषण द्वारा ही ऐसे उपन्यासों में ग्राम्य वातावरण की सर्जना की जाती है। इसमें दो मत नहीं कि इस प्रकार 'ग्राम' अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति के कारण आंचलिकता पा लेता है। परन्तु इतने से ही उसे आंचलिक मानना उसकी अवधारणा को संकुचित करना है। इतना सहज स्वीकार्य है कि भौगोलिक पृष्ठभूमि के कारण वातावरण की कुशल अवतारणा होती है, जो आंचलिकता का प्रमुख घटक है।

भौगोलिक पृष्ठभूमि से तात्पर्य भौगोलिक वातावरण का निर्माण है, जिसे भौगोलिक परिवेश भी कहा जाता है। इस वातावरण का निर्माण प्रकृति के उपादानों से होता है। अन्य उपन्यासों एवं आंचलिक उपन्यासों के वातावरण में एक प्रमुख अन्तर है। अन्य प्रकार के उपन्यासों में वातावरण अथवा भौगोलिक एवं सामाजिक परिवेश के अभौतिक रूप को महत्व मिलता है। परन्तु आंचलिक उपन्यासों में उसके भौतिक रूप को भी समान महत्व दिया जाता है। इस प्रकार इसमें निम्नांकित तत्व आ जाते हैं—

(क) प्राकृतिक विशेषताओं का अंकन

(ख) सामाजिक विशेषताओं का अंकन

(ग) क और ख द्वारा निर्मित भौगोलिक एवं सामाजिक वातावरण का चित्रण

भौगोलिक पृष्ठभूमि का सम्बन्ध उन प्राकृतिक परिस्थितियों से होता है, जिनमें कोई समाज निवास करता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के लिए प्रकृति पर आश्रित है। इसलिए प्राकृतिक परिस्थितियों का उस समाज पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इसी के परिणामस्वरूप विभिन्न भौगोलिक परिवेश में रहने वाले मनुष्यों के क्रिया-कलाप और जीवन-पद्धति में गहरा अन्तर होता है। समुद्र एवं नदी तटवर्ती लोगों पर जल का व्यापक प्रभाव पड़ता है। फलतः वहाँ मछुआरों को फलने-फूलने का अवसर मिल जाता है। समुद्र, सीमाएँ, सरोवर उनके जीवन के आवश्यक अंग बन जाते हैं। ये उनके सामाजिक मान्यताओं एवं विश्वासों पर छा जाते हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' में सभी पात्रों का जीवन समुद्र से प्रभावित है। समुद्र ही उनका खंडाला देवता है। नारियल पूर्णिमा है। समुद्र-पूजा का पर्व।

इसी प्रकार जंगल में निवास करने वाली जातियों पर जंगल छाया रहता है। उन्हें लगता है कि लिंगों ने जिस प्रकार धरती बनाई, उसी प्रकार जंगल भी बनाया। इसलिए किसी भी मूल्य पर वे जंगल पर अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहते हैं। इसी के लिए उनका संघर्ष भी चलता है 'जंगल के फूल में।'

सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में भौगोलिक परिस्थितियों का गहरा योगदान रहता है। प्रकृति यदि उदार है, तो सांस्कृतिक विकास का द्वार उन्मुक्त है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में सभ्यता तथा संस्कृति का विकास विशिष्ट भूभागों में स्वतन्त्र रूप में हुआ। यह जनजीवन को प्रभावित करता है, अंचल विशेष को भी, जो आंचलिक उपन्यासों की पीठिका तैयार करता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का लक्ष्य है मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। ऐतिहासिक उपन्यासों का लक्ष्य है, ऐतिहासिक व्याख्या और सामाजिक उपन्यासों का लक्ष्य सामाजिक दशा का चित्रण। ये भौगोलिक परिवेश की उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु आंचलिक उपन्यासकार इसकी उपेक्षा कतई नहीं कर सकता, क्योंकि भौगोलिक परिवेश ही उस वातावरण का निर्माण करता है, जिसमें आंचलिक जीवन उभरता है। 'मैला आँचल' से एक उदाहरण द्रष्टव्य है कि किस प्रकार भौगोलिक परिवेश अंचल विशेष के जीवन को रूपायित करता है, उसको उभार कर सामने लाता है।

''बूढ़ी कोसी के किनारे-किनारे बहुत दूर तक ताड़ और खजूर के पेड़ों से भरा हुआ जंगल—ताड़ बन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान''''लाखों एकड़ जमीन बन्ध्या धरती का विशाल अंचल इसमें दूभ भी नहीं पनपती है। बीच-बीच में बालूचर और कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ। कोस भर मैदान पार करने के बाद पूरब की ओर काला जंगल दिखाई पड़ता है। वही है मेरीगंज कोठी।''[१४६]

'ब्रह्मपुत्र' की भौगोलिक पृष्ठभूमि वहाँ की नदी ब्रह्मपुत्र बनाती है। वही वहाँ की आंचलिकता की प्राणधारा है—ब्रह्मपुत्र हमारी माटी काटकर ले जाता है, तो

हम कुछ बोल भी तो नहीं सकते''''नित-नित इसके किनारे टूटते हैं एक किनारे से दूसरा किनारा नजर नहीं आता'''बीच-बीच में रेत और माटी के द्वीप भी बनते मिटते रहते हैं। छोटे द्वीप को 'सापरी' कहते हैं और बड़े को 'माझुली'। माझुली तो बस एक ही है। सापरियों की तो यह अवस्था है कि आज हैं कल नहीं है''।[१५०]

सांस्कृतिक एवं भाषिक

''कस्यापि देशस्य समाजस्य विभिन्न जीवन व्यापारेषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीयत्व दृष्ट्या प्रेरणा प्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्त-स्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक जीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तयैव तलया विभिन्न सभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयते। किं बहुना संस्कृतिरेव वस्तुतः 'सेतुविधृतिरेषां लोकानां संभेदाय'[१५१] और 'प्रबंध प्रकाश' के अनुसार 'सर्वेषाँ धर्माणां संप्रदायानाम्। चाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेणं कर्त्तुं शक्यते।'[१५२] तात्पर्य यह है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति के द्वारा ही नापा जाता है। इसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।

जहाँ नगर पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगकर भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को प्रायः विस्मृत करते जा रहे हैं, वहाँ गाँवों में आज भी भारतीय संस्कृति का जीवंत रूप विद्यमान है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि प्रत्येक देश या जाति की अपनी विशेष सामाजिक प्रेरणाएँ अपनी आशा-आकांक्षाएँ और अपने विश्वास होते हैं। अतः उसकी अपनी विशेष संस्कृति भी होती है।

आंचलिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि में संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। इसे लोक संस्कृति कहा जाए, ग्राम संस्कृति या भौगोलिक संस्कृति, परन्तु आंचलिक जीवन की भी एक संस्कृति होती है, जो उसके विश्वास, धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों, लोकगीतों आदि की परिणति है। आंचलिक उपन्यास वस्तुतः भारतीय ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक पक्ष का दर्पण है। डा० शशिभूषण सिंहल का इस सम्बन्ध में कहना है—'आंचलिक उपन्यास समाज के क्षेत्र विशेष के सांस्कृतिक परिवेश को प्रस्तुत करता है। सामाजिक उपन्यास में देश के सामान्य सांस्कृतिक जीवन की झाँकी मिलती है किन्तु आंचलिक उपन्यास प्रमुख सांस्कृतिक धारा में स्थित द्वीप सरीखे स्थिर प्रायः स्वतःपूर्ण अंचलों की लोक संस्कृति को अपना विषय बनाता है।[१५३]

………'''आंचलिक उपन्यास मुख्य रूप से लोक-संस्कृति को प्रस्तुत करता है।[१८४]

………'''आंचलिक उपन्यासों के कथ्य अंचलों में भौतिक प्रगति-सभ्यता का अभाव देखा जा सकता है, किन्तु मानव-मन की सम्पन्नता-संस्कृति वहाँ रहती है—यह तथ्य निर्विवाद है। देश के विभिन्न अंचलों की संस्कृतियाँ हमें वहाँ की प्रमुख सांस्कृतिक धारा को समझने में सहायता देती हैं।[१८५]

आंचलिकता का विधायक तत्व ही है संस्कृति। उसके बिना न आंचलिक जीवन का स्वरूप उभर सकता है, न उसकी आत्मा से साक्षात्कार ही किया जा सकता है। यह बड़ा व्यापक पद है, जो वहाँ की परम्पराओं, मान्यताओं, विश्वासों को समाहित कर लेता है। डा० जवाहर सिंह का मत इस सम्बन्ध में स्पष्ट है और वह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायक है। उनका विचार है—'प्रत्येक अंचल का अपना एक विशिष्ट प्रकार का जन-जीवन होता है, जिसका निर्माण वहाँ के निवासियों के रीति-रिवाज, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विश्वासों, अंधविश्वासों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं से होता है। वास्तव में इन्हीं सारे तत्वों के समुच्चय को लोक संस्कृति की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह विशिष्ट लोक-संस्कृति ही किसी अंचल विशेष की विशिष्टता की परिचायक होती है और आंचलिक उपन्यासकार इसी विशिष्ट आँचलिक संस्कृति के माध्यम से अंचल जीवन की अन्तर्धारा को पकड़ने की कोशिश करता है। यह आँचलिक संस्कृति विशिष्ट इस अर्थ में होती है कि एक अंचल के निवासियों के रहन-सहन, वेश-भूषा, प्रथाएँ, मान्यताएँ, नृत्य, गीत, लोक कथाएं तथा उत्सव-त्यौहार आदि से लेकर इनके आदर्श, नैतिक सामाजिक मूल्य आस्थाएँ तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ परस्पर समान तथा दूसरे अंचल के निवासियों से इतनी भिन्न होती हैं कि इन्हीं के आधार पर एक अंचल दूसरे अंचल से सर्वथा पृथक एवं भिन्न इकाई लगता है।''[१८६]

कथांचल की विशिष्ट संस्कृति का उद्घाटन दो प्रणालियों से किया जा सकता है—

(क) अंचल की संस्कृति का अध्ययन

(ख) आँचलिक जीवन से नैकट्य। अंचल के भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिवेश में होने वाले क्रिया-कलापों को यथाचित्र घटनाओं के रूप में लेना। आँचलिक आवरण के भीतर ही उस जीवन का चित्र उतारना।

निःसंदेह संस्कृतियों को सामने रख कर अंचल विशेष की विविधता में एकता के दर्शन किए जा सकते हैं, पारस्परिक मतभेदों का निराकरण कर उनमें भावात्मक एकता लाई जा सकती है। इससे एक ओर आंचलिकता का सम्यक् अध्ययन होगा तो दूसरी ओर उसके उद्देश्य की पूर्ति।

आंचलिक उपन्यासकार आंचलिक जीवन के रीति-रिवाज, रहन-सहन, विश्वास, लोक-कला, संस्कृति आदि के स्वाभाविक चित्रण के लिए आंचलिक भाषा का प्रयोग करता है। जहाँ वह प्रस्तोता होता है—वहाँ शुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग करता है, पर आंचलिक पात्रों के वार्तालाप में आंचलिक भाषा का प्राधान्य रहता है। स्वयं प्रस्तोता के रूप में लेखक भी आंचलिक पदों, अभिव्यक्तियों का प्रयोग करता है, भले ही उसका अर्थ कोष्ठक या पाद टिप्पणी में देना पड़े। आंचलिक भाषा के प्रयोग से परिनिष्ठित भाषा में विपथन आता है, पर यही विपथन आंचलिकता का सौन्दर्य है।'

सामान्य उपन्यास और आंचलिक उपन्यास की भाषा में अन्तर होता है। जहाँ सामान्य उपन्यासकार के वार्तालाप की भाषा पर पात्र के व्यक्तित्व का हलका रंग होता है, वहाँ आंचलिक उपन्यास में वही रंग अधिक गहरा हो जाता है, क्योंकि आंचलिक पात्र आंचलिक भाषा का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में करते हैं। सामान्य उपन्यास में उपन्यासकार कथा-पाठकों में से एक के रूप में कहता है, वहीं आंचलिक उपन्यास में वह पात्रों में से एक बन जाता है। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यास में भाषा के उपर्युक्त दोनों रूप एक ही रंग के हल्के एवम् गहरे 'शेड्स' रह जाते हैं। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास में उपन्यासकार की भाषा तथा वार्तालाप की भाषा का प्रमुख अन्तर मिट जाता है।

आंचलिक उपन्यास में भाषा-तत्व इतना मुखर है कि अन्य तत्वों से अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। कुछ आंचलिक उपन्यासों ने भाषा को ही आंचलिकता का मुख्याधार माना है। सहजता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से उपन्यास की भाषा में स्थानीय भाषा और बोली का पुट आग्रहपूर्वक रखा है। वस्तुतः भाषा वाहन है, साधन है, साध्य नहीं है। इसीलिए सामाजिक या यथार्थवादी ढाँचे के उपन्यासकारों ने अंचल को परिवेश रूप में प्रयोग करते हुए स्वाभाविकता का पुट देने या पाठक की दिलजोई के लिए स्थानीय बोली का भरपूर प्रयोग कौशल के साथ किया है।[१५७]

जहाँ भाषा को पृष्ठभूमि के रूप में इसलिए लिया गया है कि वैचित्र्य-प्रदर्शन कर चमत्कार उत्पन्न किया जाए, वहाँ लेखक के उद्देश्य पर आघात पड़ा है। डॉ० रामदरश मिश्र का कहना उचित ही है "...जो लोग मात्र 'लोकल कलर' देने के लिए स्थानीय वैचित्र्य प्रदर्शित करने के लिए अजीब-अजीब स्थानीय शब्दों का प्रयोग करते हैं वे भाषा को फूहड़ बनाते हैं। केवल चमत्कार के लिए स्थानीय भाषा के शब्दों का प्रयोग लेखक की उत्तरदायित्वहीनता का परिचायक ही कहा जायेगा।"[१५८] थॉमस हार्डी ने भी ऐसा ही विचार दिया है—

"यदि एक लेखक कागज पर एक ग्रामीण के प्रकृत उच्चारण का प्रदर्शन करने का प्रयत्न करता है तो वह विरूप तत्व पर अनावश्यक बल देकर यथार्थ प्रस्तुती-

करण के समुचित संतुलन में व्याघात उत्पन्न करता है; इस प्रकार हीनता तत्व पर बल देकर वक्ता के अभिप्रेत से हटकर चलता है; यह मुख्य लक्ष्य से परे है; जबकि उद्देश्य है मनुष्य और उनकी प्रकृति का अंकन न कि उनकी बोलियों के प्रकारों का चित्रण है।"[१५९]

इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों की समग्रता, सम्पूर्णता में भावन करने के लिए भाषिक पृष्ठभूमि की महती आवश्यकता है। विशेषकर आंचलिक भाषा और लोकभाषा का वहाँ प्राधान्य है। कारण, जिस अंचल की पृष्ठभूमि पर जो आंचलिक उपन्यास विरचित है, उनमें अंचल विशेष की लोक संस्कृति आएगी ही और लोक-संस्कृति का प्रतिबिंबन लोकभाषा के प्रयोग के अभाव में नहीं हो सकेगा।[१६०]

सन्दर्भ-संकेत

१. डॉ० रामदरश मिश्र : आजकल (मासिक) अगस्त १९७२, लेख स्वतन्त्रता परवर्ती उपन्यास, पृ० ८

२. डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास, पृ० १५७

३. पं० नन्ददुलारे वाजपेई : सम्पादकीय लेख—आलोचना (त्रैमासिक), १९५७

४. पाणिनि : सिद्धान्त कौमुदी, उणादि प्रकरण (अन्तिम सूत्र), संख्या ७५९

५. सम्पादक जयशंकर जोशी, हलायुध कोश, पृ० १११

६. सम्पादक महामहोपाध्याय पं० गणेशदत्त शास्त्री : पद्मचन्द्र कोश, पृ० ८

७. उद्भट—२

८. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (चोखंबा सिरीज), तद्धित प्रकरण, सूत्र १३७९

९. हिन्दी रिव्यू मैग्जीन, मई १९५६ रीसेंट टैन्डैन्सीज इन हिन्दी फिक्शन

१०. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड)

११. हिन्दी साहित्य कोश, भाग—१ ज्ञानमंडल, वाराणसी, द्वितीय संस्करण पृ० १५६

१२. आलोचना, अक्तूबर, १९५७, परती परिकथा

१३. डॉ० रामदरश मिश्र—हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, पृ० १८८

१४. वॉकर-एलन : इंग्लिश-नावेल

१५. एन्थनी सोर्स—एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर—डिफिरेंट कांइंड्स ऑफ नॉवेल

१६. ब्रिटेनिका इन्साइक्लोपीडिया, भाग १६ (१९६७), पृ० ६७५

१७. Joesph T. Shipley : Dictionary of World Literary Terms, Page 337–38

१८. श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास में नए प्रयोग—आलोचना, १७ जनवरी, १६५६

१६. बिला कैथर

२०. श्री रांगेय राघव : कब तक पुकारूँ, द्वितीय संस्करण १६६०—भूमिका

२१. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, प्र० सं० १६६७, पृष्ठ ६८७

२२. श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव : आलोचना १७, जनवरी, १६५६

२३. डॉ० मक्खनलाल शर्मा : हिन्दी उपन्यास, सिद्धांत और समीक्षा १६६६ पृ० ३५८

२४. "The use of environmental detail in a story differs from regionalism in its mainly picturesque intent. It's interest lies in exploring a new or unfamiliar setting or in preserving the record of a changing or dying locale while the regionalist sees in each region different conditions that operate profoundly in the lives of its people and thus develop different patterns of culture and countryside......local colour thus presents superficial elements of story, just as decoration......"

—Joseph T. Shipley : Dictionary of World Literary Terms, p. 257.

२५. The Oxford Companion to American Literature, Page 630

२६. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र-चित्रण, पृ० १८६

२७. Leisure-Wordsworth.

२८. One impulse from vernal woods
May teach you more of man
Of moral evil and of good
Than all the sages can—Wordsworth

२६. हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण—श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० १८८

३०. रेणु का आंचलिक कथा-साहित्य-पूर्णदेव, आशा प्रकाशन गृह, करोल बाग, नई दिल्ली-५, प्रथम संस्करण १६७३, पृ० १६

३१. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ० विवेकीराय, पृ० ४३३
३२. हिन्दी उपन्यास पृष्ठभूमि और परम्परा—डॉ० बद्रीदास
३३. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ० विवेकीराय, पृ० ४३५
३४. हिन्दी उपन्यास कला—प्रतापनारायण टंडन, पृ० २९०
३५. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन, पृ० ४३५
३६. हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन—डॉ० भगतसिंह, पृ० २७७
३७. रेणु का आंचलिक कथा साहित्य—पूर्णदेव, पृ० २०
३८. वही, पृ० २१
३९. आधुनिक परिवेश और नवलेखन— डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ११६
४०. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त—श्री गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ४४१
४१. रेणु का आंचलिक कथा साहित्य - पूर्णदेव, पृ० २१
४२. आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास— कुमारी नगीना जैन, पृ० ७२६ अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, प्र० सं० १९७६
४३. शिवपूजन रचनावली, १९५६, भूमिका पृ० ४१५
४४. 'सावन की पूरनमासी को राखी के दिन नहा-धोकर पीताम्बर पहनकर घर ही का कोई आदमी गाय के दूध में अरवा चाउर की बढ़िया खीर बनायेगा। वह खीर चौरा पर चढ़ाकर फिर अलवांती गाय को खिला दी जायेगी। उसके साथ-साथ एक जोड़ी फीता…… '—देहाती दुनिया, पृ० १७१
४५. शिवपूजन रचनावली, भूमिका, पृ० ४१५
४६. वही
४७. सारिका, मार्च ७०, पृ० ८७
४८. श्री महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास, एक सर्वेक्षण, पृ० २०४
४९. यह शुभारंभ श्री नागार्जुन के साथ होता है। वैसे इनके पहले श्री अमृतलाल नागर एवं शिवप्रसाद रुद्र ने ऐसी रचनाएँ की थीं, जिन्हें आंचलिकता के निकट सम्बन्धी दोनों का श्रेय दिया जा सकता है।—श्री मधुकर गंगाधर : आलोचना, जनवरी ६६, पृ० ८१
५०. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी उपन्यास, एक नई दृष्टि, पृ० ३७
५१. श्री महेन्द्र चतुर्वेदी—हिंदी उपन्यास एक सर्वेक्षण, पृ० २१०
५२. रतिनाथ की चाची, पृ० ७
५३. वही, पृ० १५५

५४. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी उपन्यास एक नई दृष्टि, पृ० ३८
५५. सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास, पृ० ३०३
५६. श्री मधुकर गंगाधर : आलोचना, जनवरी ६६, पृ० ८२
५७. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास पृ० १३३
५८. अरविन्द पाण्डेय : यथार्थ की जमीन पर—दिशाओं का परिवेश, पृ० ११२
५९. बाबा बटेसरनाथ, पृ० १२-१३
६०. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० १४२
६१. वरुण के बेटे, किताब महल इलाहाबाद, १९५७, पृ० १०-११
६२. दुख मोचन, पृ० २७
६३. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, पृ० ५३७
६४. सम्पादक अज्ञेय : नया प्रतीक (मासिक) मार्च १९७८ में डॉ० कुमार विमल का लेख 'रेणु की याद में' पृ० ३
६५. रेणु की श्रेष्ठ कहानियाँ—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली पुस्तक में 'मेरा हमदम : मेरा दोस्त : कमलेश्वर', पृ० १२
६६. सम्पादक अज्ञेय : नया प्रतीक, मार्च १९७८, 'रेणु की याद में'—डॉ० कुमार विमल, पृ० ८
६७. वही, पृ० ८
६८. वही, पृ० ८
६९. नेमिचन्द्र जैन : विवेक के रंग, पृ० २०७-२०८
७०. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि, पृ० ४६-४७
७१. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ, पृ० ६१
७२. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० १०२
७३. श्री महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० २१२
७४. सम्पादकीय 'नये उपन्यास', आलोचना अक्तूबर ५७, पृ० १
७५. निर्मल वर्मा, विवेक के रंग (सं० नेमिचन्द्र जैन) में कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग 'परती परिकथा' पृ० २६४
७६. वही, पृ० २६६
७७. पद तले ए ए चिरकाल
लोटय जेकर महाकाल अ अ अ
की ई ई ई करे तुच्छ काल
परती परिकथा—पृ० १०२
७८. दीर्घतपा, भूमिका

७६. वही, पृ० ३४
८०. पूर्णदेव : रेणु का आंचलिक कथा साहित्य, पृ० ४७
८१. दीर्घतपा, भूमिका
८२. जुलूस, पृ० ६
८३. 'आधी रात को जब सारी कॉलोनी सो गई, पविता हिचकियाँ लेकर रोने लगी। उसका कोई नहीं, इस दुनिया में इतनी अकेली— माँ० आ० गो०। बाबा आ० आ०। तुमने किसी दिन प्यार नहीं किया। जीवन में कहीं प्यार नहीं मिला।' जुलूस—पृ० १७७।
८४. डॉ० नगीना जैन: आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० १६४
८५. सागर लहरें और मनुष्य का कवर
८६. श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा : सागर लहरें और मनुष्य, एक पुनर्मूल्यांकन, आलोचना, जनवरी ६६, पृ० १५१
८७. धनंजय वर्मा : दिशाओं के परिवेश, पृ० १२६
८८. वही, पृ० १२६
८९. श्री शिखजी सिंह : 'उदय शंकर भट्ट : व्यक्ति और साहित्यकार' पृ० १३०
९०. लोक परलोक, पृ० ६
९१. वही, पृ० १२
९२. वही, पृ० ३६
९३. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० २०५
९४. आलोचना, ३५
९५. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि, पृ० ५७
९६. वही, पृ० ५७
९७. श्री गोविन्द रजनीश : आलोचना, ३५ पृ० १७०
९८. 'मधुकर' जनपद आन्दोलन अंक, पृ० ६
९९., वही, पृ० ७३
१००. काका कालेलकर : आमुख, ब्रह्मपुत्र, पृ० ८
१०१. ब्रह्मपुत्र, पृ० २७
१०२. वही, पृ० १५
१०३. वही, पृ० २८
१०४. वही, पृ० ४२६
१०५. जंगल के फूल, भूमिका, पृ० ५
१०६. वही, पृ० १०५

१०७. वही, पृ० ११५

१०८. वही, पृ० ५५

१०९. वही, पृ० ५५

११०. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० २०७

१११. पानी के प्राचीर, पृ० १८९, १९०

११२. पानी के प्राचीर, पृ० १५३

११३. वही, पृ० ३५३

११४. वही, पृ० ३१८

११५. वही, पृ० २२

११६. शैलेश मटियानी : होलदार पृ० १४७,-१४८

११७. चिट्ठीरसैन, पृ० १२९

११८. वही, पृ० ७

११९. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव : उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, पृ० १११

१२०. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी, तटचर्चा

१२१. अलग-अलग वैतरणी, पृ० ६८८

१२२. सेठ बांकेमल, पृ० १०६

१२३. वही, पृ० ५२

१२४. विवेक के रंग, पृ० २५१-५२

१२५. वही, पृ० २५१

१२६. 'बहती गंगा' में सत्रह तरंगे हैं, एक दूसरे से अलग परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई है। बहती गंगा, पृ० १०

१२७. बहती गंगा संदर्शिका, पृ० ६

१२८. बहती गंगा, पृ० १०

१२९. भैरव प्रसाद गुप्त : सत्ती मैया का चौरा : कवर

१३०. वही, पृ० ७४०

१३१. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० १८९

१३२. नेपाल की वो बेटी, प्रस्तावना

१३३. आधा गाँव : प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ० ७

१३४. वही, पिछला कवर

१३५. वही, पृ० ११

१३६. वही, पृ० ३९७

१३७. वही, पृ० ३९०
१३८. पूर्णिमा (अप्रैल १९६०), पृ० १९०
१३९. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० ८-९
१४०. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, पृ० १९०
१४१. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० २१७
१४२. बिलाकैथर
१४३. कब तक पुकारूँ, द्वि० सं० १९६०, भूमिका
१४४. ब्रिटेनिका एन्साइक्लोपीडिया, भाग १६ (१९६७), पृ० ६७५
१४५. डॉ० विमल शंकर नागर; आंचलिक उपन्यास : सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ, पृ० १६
१४६. रामदरश मिश्र; जल टूटता हुआ, पृ० १५
१४७. नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० ११७
१४८. श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव, आलोचना, ११५५, पृ० ४६
१४९. मैला आँचल, पृ० १४
१५०. ब्रह्मपुत्र, पृ० १५
१५१. छान्दोग्य उपनिषद् ८।४।१
१५२. प्रबन्ध प्रकाश, भाग २, पृ० ३
१५३. डॉ० शशिभूषण सिंहल—हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, पृ० ११९
१५४. वही, पृ० १२१
१५५. वही, पृ० १२१
१५६. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० ५९-६०
१५७. नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास : पृ० ४६-४७
१५८. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० १९२
१५९. लार्ड डेविस सेसिल : हार्डी : दि नावलिस्ट
१६०. डॉ० विमल शंकर नागर : आंचलिक उपन्यास : सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ, पृ० १६१

अध्याय १

आंचलिक उपन्यासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

समाजशास्त्र को 'सामाजिक अंतःक्रियाओं और सामाजिक अंतसंबंधों का विज्ञान' कहा जाता है। घटनाओं एवं अंतःसम्बन्धों की विश्लेषणात्मक एवं सैद्धांतिक व्याख्या करने वाला है समाजशास्त्र।[1] उपन्यास का भी मूल उद्देश्य है जीवन को उसके विविध आयामों में निकटता से जानना और तदनुरूप चित्रण करना। जीवन मूलतः मनुष्य का ही चित्रित होता है, जो एक सामाजिक प्राणी है। अतएव, बिना समाजशास्त्रीय विश्लेषण विवेचन किए उपन्यस्त जीवन को समझा नहीं जा सकता। उपन्यास का समाजशास्त्र भी घटनाओं, मानवीय भावनाओं एवं प्रतिक्रियाओं आदि का चित्रण कर, उन्हें अधिकाधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है। यद्यपि इसमें सैद्धांतिक और वैज्ञानिक व्याख्या नहीं होती, फिर भी पूर्णरूप में समाज की सही तस्वीर रहती है।[२]

व्यक्ति की अंतर्क्रियाओं से होता है समाज का सृजन। उसका क्षेत्र अत्यंत ही विशाल है। कारण, वह एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करता है। वह व्यक्तिगत भावना, संस्कार, रूढ़ि, परंपरा, शिक्षा, काम आदि से प्रभावित रहता ही हैं, साथ ही उसे पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पिता-माता, दादा-दादी, नाना-नानी सामाजिक तथा राष्ट्रीय इकाई रूप में भी क्रियाशील रहना पड़ता है।

उपन्यास मात्र सामाजिक यथार्थ को उपस्थित ही नहीं करता, वरन् आगे बढ़कर उसे नई दिशा भी प्रदान करता है। उपन्यास के समाज-शास्त्र का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है।

(क) सामाजिक घटनाओं के आधार पर उपन्यासों में वर्तमान समाज का परीक्षण करना।

(ख) उपन्यासों में वर्णित समाज के आधार पर सामाजिक संरचना तथा सामाजिक अंतःसम्बन्धों का परीक्षण करना।

दोनों को अंतर्भुक्त कर इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यास में वर्णित समाज तथा वास्तविक समाज के बीच की संगति का परीक्षण उपन्यास के समाज-शास्त्र का मुख्य विषय हो सकता है।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण का उद्देश्य--डॉ० देवराज के अनुसार समाजशास्त्रीय विश्लेषण का उद्देश्य निम्नांकित हैं—समाजशास्त्रीय आलोचना किसी साहित्यिक कृति के बारे में दो प्रश्न करती है। एक यह कि उस कृति को जो एक विशेष रूप प्राप्त हुआ है, उसका कृति के निर्माण-काल की सामाजिक वास्तविकता से क्या सम्बन्ध है; अर्थात् कहाँ तक उसके उस रूप की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक यथार्थ द्वारा हो सकती है। यहाँ व्याख्या का अर्थ है कार्य-कारण रूप व्याख्या। सामाजिक यथार्थ साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट रूपों का कारणभूत होता है। दूसरा प्रश्न है कृति विशेष या आलोच्य कृति का तत्कालीन समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? उसने सामाजिक जीवन की दिशा को किस प्रकार प्रभावित किया?"[3] वस्तुतः इस प्रकार की आलोचना पद्धति का श्रेय कार्ल-मार्क्स को है। मार्क्सवाद के अनुसार सभी प्रकार की चेतनाओं का निर्धारण सत्ता करती है। सत्ता मौलिक है। चेतना उसका विकार या प्रतिफलन। तत्वमीमांसा में इस सिद्धांत का तात्पर्य है—भौतिकवाद किंबा विश्वसृष्टि में चेतन के ऊपर जड़ की प्रधानता का सिद्धांत। उनके मतानुसार विश्वसृष्टि में सामान्यतः जड़ तत्व की सत्ता पहले है, चैतन्य की बाद में। इन सबका एक ही तात्पर्य हुआ कि सामाजिक चेतना (जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, आचारशास्त्र, साहित्य आदि में होती है) का निर्धारण सामाजिक सत्ता द्वारा होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि युग विशेष (समाज भी) का साहित्य अनिवार्य रूप में अपने देशकाल की वास्तविकताओं को प्रतिफलित करता है। इसीलिए श्याम सुन्दर दास ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है।[४]

यहाँ 'अनिवार्य' विशेषण सबके लिए उपयुक्त नहीं भी हो सकता है। संभव है कुछ साहित्यकार युग की वास्तविकताओं से तटस्थ हों। भारतेंदु का प्रेमकाव्य और रत्नाकर की कृतियाँ अपने युग की प्रतिनिधि रचना न होकर विगतयुग की पुनरावृत्ति हैं। तटस्थ एवं उदासीन रहने वाले लेखक को युग का प्रतिनिधि साहित्यकार नहीं माना जाएगा। मेलविल का माबीडिक अमेरिका का महानतम उपन्यास है और युग की वास्तविकताओं का अविकृत दर्पण।

सामाजिक यथार्थ को देखने की यह दृष्टि विकसित होगी, तभी युग का सच्चा प्रतिनिधित्व हो सकेगा। आंचलिक उपन्यासों में यह बोध गहराया है। इसीलिये इसके समाजशास्त्रीय विश्लेषण की महती आवश्यकता है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है—"बहुत दिन नहीं हुए जब यथार्थ को समाजवादी और वैयक्तिक समाजशास्त्रीय या मनोविश्लेषणवादी चौखटों में अलगाकर देखा जा रहा था और कथा-साहित्य ऐसी 'एकरसता' का शिकार था, जो मानव-संवेदना की समग्रता को या अद्वितीय निजता को स्वीकार करने की अनुमति नहीं

देती थी। रेणु ने इस एकरसता को तोड़ने की जो सार्थक कोशिश की है, उसने ही उनके कथा प्रयोगों का मूल्य संवेदनशील पाठकों की दृष्टि में बढ़ा दिया है।''[५]

साहित्य में जन-जीवन की पारिवारिक, नैतिक, धार्मिक, मान्यताओं तथा उनके विधानों का रागात्मक उल्लेख है। साहित्य का प्रयोजन केवल मनोगत या शिल्पगत वैचित्र्य नहीं है, बल्कि उसके द्वारा समाज में होने वाले परिवर्तन से प्रभावित जनता की सभ्यता-संस्कृति का प्रकटीकरण होता है। साहित्य और उसकी विधाओं का सच्चा मूल्यांकन तभी हो सकता है, जबकि साहित्य के सामाजिक अर्थ और उपयोग का सम्यक् अध्ययन हो। इसीलिए समाज की स्थिति का विश्लेषण वांछनीय है।

साहित्य की समस्त विधाएँ समान या काल-सापेक्ष होती हैं। उपन्यास जीवन के अधिक निकट है। अतः साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास में सामाजिक तर्क और उपयोग का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। उपन्यास में वह क्षमता है कि पात्रों की कहानी सामाजिक बनकर मानव मन को प्रभावित कर सके। विषमताओं और आवश्यकताओं का जीवंत चित्रण कर सके।

मानव-मन के भावों में जटिलता तथा वैचित्र्य पाया जाता है। उसमें उत्थान-पतन सदा होता रहता है। वह सदा एक समान बना नहीं रहता। अंतर्जगत का परिवर्तन मानव के बाह्य रूप में भी परिवर्तन लाता है। समाज बाह्य-जीवन से व्यक्ति का मूल्यांकन करता है, जबकि व्यक्ति अपनी अंतःप्रेरणा से कार्य करता है, जो अन्य लोगों की दृष्टि में उचित नहीं लगते। इसीलिए उपन्यासकार बाह्य जीवन के साथ-साथ अंतर्जगत का भी उद्घाटन करता है। (व्यक्ति की अंतःक्रियाओं से समाज के सृजन की चर्चा हो चुकी है।) शरत बाबू के 'देवदास', जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल, नरेश मेहता के 'यह पथ बंधु था' के श्रीधर का अंतर्जगत ही यथार्थ है। उसी के दर्शन हमारे मन को कहीं छूते हैं।[६]

समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज के सम-विषम दोनों पक्षों का संतुलित चित्रण होना चाहिए। मानव के अंतर्जगत और बाह्य जगत दोनों का प्रकटीकरण आवश्यक हो जाता है। डॉ० स्वर्णलता का कहना है—''विषमताओं के अंक में पल्लवित मानव को मुक्ति का संदेश उपन्यासकार तभी दे सकता है जब जन-जीवन की कहानी सच्ची कहानी हो; जिसका जीवंत चित्र विभिन्न प्रकार के सामाजिक धरातल पर चित्रित करने की उसमें क्षमता हो।''[७]

उपन्यास और समाज :

प्रत्येक उपन्यास में (चाहे वह राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक या सामाजिक हो) समाज निहित रहता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने 'साहित्य को जीवन की आलोचना' कहा है। जीवन बिना समाज के व्यक्त नहीं हो पाता। समाज का सामान्य अर्थ

व्यक्तियों का समूह है। रामचरित मानस में 'राजत राज समाज़ महँ कोशल राज-किसोर' एवं 'सिव समाज जब देखन लागे' इन दो अर्द्धालियों में 'समाज' शब्द का प्रयोग क्रमशः सभा एवं समूह के अर्थ में हुआ है।[८] परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज का अर्थ व्यक्तियों का समूह नहीं है, बल्कि उनके अन्तःसम्बन्धों की संज्ञा समाज है। वहाँ जागरुकता होनी चाहिए, जिसे मेकाइवर ने 'अवेयरनेस' कहा है। मेज और टंकणयंत्र में भी सम्बन्ध है, पर वह सामाजिक सम्बन्ध नहीं है। इसलिए कि उसमें पारस्परिक भिज्ञता नहीं है। सम्बन्धों की पारस्परिक जागरुकता ही समाज के लिए आवश्यक है।[९]

यद्यपि साहित्य का सम्बन्ध अन्य शास्त्रों से है, तथापि यह समाज के जितना निकट है, उतना विज्ञान या अन्य शास्त्र के निकट नहीं है। कारण, 'शास्त्र या विज्ञान समाज के मस्तिष्क की उपज है, जबकि साहित्य उसके हृदय की धड़कन है। इस रूप में समाज की विशेषताएँ—उनकी मनोदशाएँ और प्रवृत्तियाँ आदि—साहित्य में अधिक स्वाभाविकता और संपूर्णता से लक्षित होती हैं। इसलिए आधुनिक समाज-चिंतकों का यह सोचना स्वाभाविक है कि यदि समाज-विज्ञान को प्रामाणिक और जीवंत बनाना है, तो उसे साहित्य से जोड़ना होगा।'[१०]

समाजशास्त्रीय चिंतन, अध्ययन का जैसा विकास अन्य देशों (अमरीका आदि) में हुआ है, वैसा अभी भारत में नहीं हो पाया है—ऐसा कुछ विचारकों का मत है। यही कारण है कि समाजशास्त्र विषयक पुस्तकों में विदेशी संदर्भ, चिंतन और प्रसंगों का उल्लेख विस्तार से किया जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण एक स्वतंत्र भारतीय-समाज-चिंतन का स्वरूप नहीं बन पाया है। मेरा प्रयत्न रहा है कि आंचलिक उपन्यासों में व्यक्त समाज के स्वरूप का सम्यक् उद्‌घाटन किया जाए। इसकी परख की जाए कि किस प्रकार और कहाँ तक आंचलिक उपन्यास समाज को उसके विविध आयामों और संगठनों में व्यक्त कर पाया है। सैद्धांतिक विवेचनार्थ समाजशास्त्रीय उपादानों, घटकों आदि के स्वरूप-निर्धारण के लिए विदेशी विद्वानों की सहायता ली गई है, पर मेरा अभीष्ट भारतीय समाज को पूरी समग्रता में उजागर करना है।

विश्लेषण का सैद्धांतिक और व्यावहारिक आधार

समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए अलविन ए० बरट्रांड ने छः सोपानों का उल्लेख किया है—[११]

(१) अध्ययनार्थ समस्या को तैयार करना

(२) प्रासंगिक एवं उपयुक्त सिद्धान्त एवं ज्ञान की समीक्षा

(३) शोधार्थ विषय की योजना बनाना

(४) आँकड़ों का संग्रह

(५) संकलित आँकड़ों का विश्लेषण

(६) निष्कर्ष, परिणाम का प्रतिवेदन तैयार करना, जिससे अन्य भी उसे सीख पाएँ।

परिकल्पना के परीक्षण एवं सिद्धांतों की वैधता के प्रतिपादनार्थ अनेक मौलिक प्रविधियों का उपयोग किया जाता है। पूर्वाग्रहों को न्यूनतम करने तथा सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए सांख्यिकी पद्धति का भी प्रयोग होता है। अनुभवपरक प्रविधि का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के प्रभावांकन के लिए होता है। स्थान-सर्वेक्षण की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि अनुपलब्ध आँकड़ों को उपलब्ध किया जा सके। इसमें भागीदारों का भी पर्यवेक्षण होता है ताकि उसकी विधि की गहराई का पता लगाया जा सके। किसी विशेष घटना या मामले का अध्ययन भी किया जाता है। अध्ययन, सर्वेक्षण, पर्यवेक्षण को समुचित रूप से परिभाषित करने के लिए एक प्रकार की अध्ययन प्रणाली (Typology) बनानी पड़ती है। उपर्युक्त प्रविधियाँ आकस्मिक सम्बन्धीयता (relationship) के परीक्षणार्थ वैध पाई गई हैं। सामान्यतः विश्वसनीयता की आश्वस्ति के लिए उनमें से अनेक विधियों का उपयोग किया जाता है।

विश्लेषण के सैकड़ों आधार और विधियाँ हो सकते हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि ये विधियाँ शुद्ध समाजशास्त्रीय समस्याओं, मामलों के अध्ययनार्थ अपनाई जाती हैं। आंचलिक उपन्यासों में व्यक्त समाज के अध्ययन के लिए दो ही प्रणालियाँ अपनाई गई हैं—सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक। प्रथम के अन्तर्गत समाजशास्त्र की मान्य अवधारणाओं एवं प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों की मान्यताओं एवं स्थापनाओं के आधार पर सामाजिक संगठनों का अध्ययन किया जाता है। वर्ग, जाति, विश्वास, धर्म, संस्कृति, रहन-सहन, भाषा आदि की स्पष्ट अवधारणा प्रकट करने के बाद उसका व्यावहारिक पक्ष भी उसी में अनुस्यूत है।

उदाहरण के रूप में रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' के मेरीगंज गाँव की जाति व्यवस्था पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार कर यह दिखाने का प्रयास किया जाएगा कि उपन्यस्त जाति व्यवस्था किस प्रकार समाज, देश को प्रभावित कर रही है। १९४६-१९४८ तक की अवधि (उपन्यास में चित्रित) में जाति-व्यवस्था ने समाज की प्रगति में कितनी बाधा पहुँचाई है कि जन-जन में कितना विद्वेष और विलगाव का भाव भरा है।

आंचलिक उपन्यास साहित्य में समाज और संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उनके समाज तथा संस्कृति के आधार और नियामक भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक उपादानों का विस्तृत एवं व्यापक चित्रण किया गया है। अंचलों के सामाजिक परिवेश के नियामक

उपादानों का न केवल सैद्धांतिक निरूपण किया गया है, वरन् इस बात की चेष्टा की गई है कि व्यावहारिक धरातल पर उपन्यस्त समाज को उस कसौटी पर कसा जाए एवं निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचा जाए ।

उपन्यासों में वर्णित ग्रामीण तथा नगरीय सामाजिक संगठन

सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए जब समाज के सदस्यों के सामाजिक सम्बन्ध व्यवस्थित या संगठित किए जाते हैं, तो उसे सामाजिक संगठन कहते हैं। समाज में नाना व्यवसाय, पेशे के लोग रहते हैं, यथा डाक्टर, प्रोफेसर, वकील, व्यापारी, अभियंता, चित्रकार आदि । इसके साथ समाज में कई छोटे-मोटे समूह हैं। परिवार, जाति, शहर, नगर आदि समूह सामाजिक संगठन के निर्माण में सहायक होते हैं । समाज का यह संगठन ढीला नहीं पड़ जाए, इसलिए प्रत्येक समाज में सामाजिक नियंत्रण के कुछ साधन हैं। इन साधनों में हमारे व्यवहार के प्रतिमान अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रतिमानों के बाद हमारी स्थिति का उल्लेखनीय स्थान है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार कार्य करता है । समाज के रीति-रिवाज, परम्पराएँ और अगणित छोटी-मोटी समितियाँ सामाजिक संगठन को बनाए रखने में सहायक होती हैं ।

भीड़ सामाजिक संगठन के अन्तर्गत नहीं आती है। फ्रांसिस बेकन के अनुसार वह चित्रों की एक गैलरी है, बातचीत है, पर यह झाल की झंकार है, जहाँ कोई प्रेम नहीं है।[१२]

संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसे संगठनों का उद्देश्य अधिक व्यापक, जन-हितकारी एवं समाजोन्मुख है।[१३]

सामाजिक संगठन, सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना (Network) है। किसी भी काम को करने का एक प्रभावपूर्ण साधन है।[१४]

सामाजिक गठन अस्तित्व में आते ही इसलिए हैं कि उनका विशिष्ट लक्ष्य होता है। सर्वसाधारण के हितार्थ वे नाना समूहों में बँटकर उसे पूरा करते हैं।[१५]

वस्तुतः सामाजिक संगठन वह व्यवस्था है जिसमें समाज के दो भागों में— व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं और संग्रहों में—परस्पर तथा पूरे समाज के साथ एक सार्थक सम्बन्ध स्थापित होता है।[१६]

सामाजिक संगठन को हम सामाजिक व्यवस्था (Social system) का नाम भी दे सकते हैं। समाज के विभिन्न अंग, परिवार, वर्ग, जाति आदि व्यवस्थित रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं, यही सामाजिक व्यवस्था है। सामाजिक व्यवस्था में समाज के विभिन्न अंगों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होते हैं। सामाजिक संगठन से मिलता-जुलता एक और भी शब्द है, जिसे सामाजिक सुक्रम (Social order) कहते हैं।

सामाजिक सुक्रम से तात्पर्य है—समाज के विभिन्न समूह, संस्थाएँ और समाज की संस्कृति । ये सब इस तरह से एक ऐसे क्रम में होते हैं कि यदि इनमें से किसी भाग में परिवर्तन कर दें, तो इसका प्रभाव सभी भागों पर पड़ेगा ।

सामाजिक संगठन यद्यपि मनुष्य निर्मित है, फिर भी यह एक दिन का परिणाम नहीं है । इनके बनने में पीढ़ियाँ और शताब्दियाँ लग जाती हैं । हम अपने देश में संयुक्त परिवार और जाति-व्यवस्था का जो संयुक्त रूप देखते हैं उनको बनने में सैकड़ों वर्ष लगे । सामाजिक संगठन एक ऐसा शानदार महल है, जिसकी बनावट और सजावट में हर पीढ़ी के कारीगर की अहम् भूमिका है । किसी भी समाज का सामाजिक संगठन उसके सदस्यों के सैकड़ों वर्षों के परिश्रम का परिणाम है ।

सामाजिक संगठन के अन्तर्गत 'ही सामाजिक संरचना आती है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव, साधन, उद्देश्य आदि में भिन्न होकर भी एक समूह में रहकर अपना-अपना एवं समाज का हित सिद्ध करता है । समाज-विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश में इस तथ्य का विवेचन किया गया है ।[१७]

सामाजिक संगठन की अनिवार्यता इसलिए है कि समाज में एक साथ ही दो तत्व काम करते हैं—समानता और भिन्नता । ये परस्पर विपरीत होकर भी समाज के लिए आवश्यक हैं । जिस प्रकार स्त्री-पुरुष परस्पर भिन्न होकर भी समाज के लिए आवश्यक हैं, उसी प्रकार भिन्नता जरूरी है । एक प्राध्यापक अध्यापन कर सकता है, पर रोगी की चिकित्सा नहीं कर सकता । भिन्नता की प्रक्रिया भेदकरण की प्रक्रिया कहलाती है । दूसरी प्रक्रिया है—एकीकरण । इसके अन्तर्गत समाज के विभिन्न अंगों में सामंजस्य उत्पन्न किया जाता है । सामाजिक संगठन में भेदकरण और एकीकरण की दोनों प्रक्रियाएँ समानांतर चलती हैं ।[१८]

सामाजिक संगठन एक व्यापक पद है, जो समाज के कई समूहों, वर्गों, जातियों आदि को समाहित कर लेता है । इसके अन्तर्गत पुरुष और स्त्रियों के समूह, परिवार, नातेदारी, व्यवसाय, पड़ोस आदि सभी समितियाँ सम्मिलित हैं । परन्तु सामाजिक संगठन केवल व्यक्तियों का संगठन नहीं है । व्यक्तियों के संगठन को चलाने के लिए जो भी लिखित और अलिखित नियम हैं, सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं । उत्तराधिकार के नियम, विवाह, अधिकार, कर्त्तव्य आदि सम्बन्धी सभी परम्पराएँ, प्रतिमान, रूढ़ियाँ आदि सामाजिक संगठन के अन्तर्गत हैं । यदि महिला-मंडल सामाजिक संगठन है तो पर्दा-प्रथा, स्त्री-शिक्षा, स्त्री का पिता की सम्पत्ति में अधिकार, स्त्रियों का पहनावा आदि भी सामाजिक संगठन हैं । सूत्र रूप में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है—

सामाजिक समूह + रीति-रिवाज, परम्पराएँ, संस्थाएँ, प्रतिमान : सामाजिक संगठन ।[१९]

सामाजिक संगठन की विभिन्न इकाइयों के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों में एकमतता पाई जाती है। यद्यपि समाज में कई समूह और संस्थाएँ होती हैं, फिर भी अपने अन्तिम उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों में सभी का उद्देश्य एक-सा होता है। उदाहरणार्थ हिन्दू समाज में विवाह के संस्कार से सम्बन्धित छोटे-मोटे अन्तर कई समूहों में हैं। कहीं पर 'होम' के चार फेरे लिए जाते हैं तो कहीं पर सात फेरे। परन्तु सभी हिन्दू समूह विवाह के इस उद्देश्य से सहमत हैं कि विवाह एक धार्मिक कार्य है। इसी तरह परिवार यह चाहता है कि हम उसके प्रति ईमानदार रहें। हमारा गाँव भी यही अपेक्षा करता है। परिवार और गाँव भिन्न समूह होते हुए भी इस अन्तिम उद्देश्य से सहमत हैं कि समूह के हित के सामने परिवार और गाँव के हित गौण हैं। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी तरह समाज के विभिन्न समूहों के सभी उद्देश्य समाज के विशाल उद्देश्यों में विलीन हो जाते हैं। उद्देश्यों की इसी एकमतता के कारण सामाजिक संगठन में स्थायित्व है।

ग्रामीण और नगरीय संगठनों को इकाइयाँ समान हैं। यह अलग बात है कि नगरीय संगठनों में गाँवों की सच्ची मौलिक तसवीर नहीं देखी जा सकती है। वातावरण, पर्यावरण, महानगरीय जीवन-मूल्य आदि की दृष्टि उनमें किंचित परिवर्तन हो जाता है। परन्तु समाज की जो व्यापक अवधारणा लेकर हम चलते हैं, वह संपूर्ण मानव-समाज को समाविष्ट कर लेता है। इतनी व्यापक परिकल्पना में ग्रामीण और नगरीय संगठन का अन्तर गौण हो जाता है। हमारा मुख्य उद्देश्य है आंचलिक उपन्यासों में चित्रित समाज का अध्ययन-विश्लेषण। सामाजिक संगठन के अन्तर्गत ही आती है सामाजिक संरचना। अगले अध्याय में उपन्यस्त समाज को सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों, संस्थाओं में डालकर अध्ययन किया जा रहा है।

आंचलिक उपन्यासों में चित्रित सामाजिक संरचना फर्थ सामाजिक संगठन का तात्पर्य उन रुचियों और निर्णयों से लेते हैं जो वास्तविक रूप में सामाजिक सम्बन्ध में देखने को मिलते हैं जबकि सामाजिक संरचना से उनका तात्पर्य उन बुनियादी सामाजिक सम्बन्धों से है जो समाज के मूल स्वरूप को बनाए रखते हैं तथा सामाजिक सीमाओं को निर्धारित करते हैं। फोर्टेस के अनुसार सामाजिक संरचना एक ऐसी अवधारणा है जो किसी भी नियमित व्यवस्था के अध्ययन में लगाई जाती है। इसके अन्तर्गत समाज संख्या, प्रक्रिया, सामाजिक स्थिति आदि आते हैं। ईवांस ने दि नूएर (The Nuer 1949) में सामाजिक संरचना का प्रयोग समूहों के बीच में होने वाले सम्बन्धों से लिया है। लीच (Leach) ने इसका प्रयोग बर्मा (Political System of High Land Burma, 1946) की राजनैतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में विचारों के उस समूह से लिया है जो व्यक्तियों तथा समूहों के बीच में शक्ति का वितरण करता है।[२०]

पिछले दशक में यह अवधारणा बहुत ही लोकप्रिय हो गई है। इसका प्रयोग एक फैशन की तरह होने लगा है। १९४८ ई० में क्रोबर ने सामाजिक संरचना की इस फैशनपरस्ती पर चोट करते हुए लिखा है—'संरचना शब्द बड़े ही गूढ़ अर्थ वाला है लेकिन लगभग एक दशक या इससे अधिक समय से यह शब्द एकाएक फैशन बन गया है और इसका प्रयोग इसकी मधुर ध्वनि के कारण बहुतायत से होने लगा है। यह ठीक है कि किसी एक विशेष व्यक्तित्व को संरचना की दृष्टि से देखा जा सकता है।[२१] लेकिन उसी तरह किसी एक शरीर रचना को, सभी समाजों, संस्कृतियों, मशीनों और कहना चाहिए प्रत्येक वस्तु को भी संरचना के रूप में देखा जा सकता है।

सामाजिक संरचना की अवधारणा

सामाजिक संरचना के प्राथमिक अर्थबोध को देखें, तो इस अवधारणा के सामान्यत: तीन अर्थ निकलते हैं—

(क) सामाजिक संरचना शरीर रचना की तरह है और इसका प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ है।

(ख) सामाजिक संरचना निर्माण या बनावट के अर्थ में प्रयोग में आई है।

(ग) सामाजिक संरचना का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है, जिसमें सामाजिक संगठन, व्यवस्था, सामाजिक स्वरूप आदि आते हैं।[२२]

कई बार समाजशास्त्र में सामाजिक संरचना का प्रयोग सम्पूर्ण समाज के समग्र व्यवहार के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था, संगठन के प्रकार, संस्थाएँ सभी आ जाते हैं।

रैडक्लिफ ब्राउन (Radcliff Brown) का कहना है—यह सामाजिक संबंधों की एक ऐसी पद्धति है, जिनमें अटल सामाजिक समूहों, भेद किए हुये वर्गों तथा भूमिकाओं का समावेश है।[२३]

सामाजिक स्थिति और सामाजिक कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध ही संरचना है। पारसंस के विवेचन में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा सामाजिक संरचना से अधिक विस्तृत है। सामाजिक व्यवस्था में सभी प्रकार की प्रक्रियाएँ आ जाती हैं। व्यवस्था के कार्य व्यवस्था की प्रक्रियाएँ हैं। सभी प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि किसी भी समाज में संरचनात्मक एकीकरण विद्यमान रहता है और इस सम्बन्ध में उनमें कोई मतभेद नहीं।[२४]

समाजशास्त्री का यह भी मत है कि प्रत्येक संरचना एक प्रकार्यात्मक इकाई है जिसमें सभी तत्वों का योगदान उसकी एकता एवं समग्रता के लिए होता है।[२५]

रेडक्लिफ ब्राउन के लिए सामाजिक संरचना एक आनुभविक यथार्थता है, जिसका अपना सार्वकालिक महत्व है। सामाजिक संरचना इस यथार्थता का अमूर्त

रूप है। इस सामाजिक संरचना के अन्तर्गत परिवार, बंधुत्व, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का अध्ययन होता है।

पारिवारिक

परिवार मानव की प्राथमिक पाठशाला है। जन्म से लेकर अपने लालन-पालन की प्रारंभिक अवस्था तक उसे परिवार पर निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए विश्व के प्रत्येक समाज में परिवार का कोई-न-कोई स्वरूप अवश्य पाया जाता है। भारतीय ग्रामीण समाज में उसकी भौगोलिक एवं आर्थिक स्थिति के कारण शताब्दियों से संयुक्त परिवार-व्यवस्था का प्रचलन था। समसामयिक भारतीय ग्रामीण समाज के संयुक्त परिवार के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन आ रहा है। आज संयुक्त परिवार लघु परिवार की ओर उन्मुख है। फलतः संयुक्त परिवार में ह्रास एवं लघु-परिवार में वृद्धि स्वाभाविक है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने परिवार के परम्परागत एवं परिवर्तित स्वरूप को कहाँ तक अपनाया है, इस पर विचार होना चाहिए।

भारतीय ग्रामीण समाज कृषि उद्योग पर आधारित संयुक्त परिवार एवं उनमें से विकसित माता-पिता तथा अविवाहित सन्तानों के परिवार पाए जाते हैं। बिहार अंचल के रामपुर ग्राम पर आधारित 'माटी की महक' में दो वंशों के संयुक्त परिवारों की निरन्तर गिरती हुई आर्थिक दशा को सच्चिदानन्द धूमकेतु ने इस प्रकार चित्रित किया है—"बबुआन टोले में दो वंशों के परिवार थे। दोनों ठकुराई जताने में एक दूसरे के बराबर बढ़े-चढ़े रहते। अगर किसी के यहाँ शादी ब्याह में टोले के सारे लोगों ने खिलाया तो दूसरे परिवार वाले पूरे गाँव को ही भोज दे देते। अपनी श्रेष्ठता जताने में बहुतों की सम्पत्ति खतम हो चुकी थी। जमीन गिरवी पड़ गई थी। गहने बन्धक पड़ गए थे। बहुत लोगों को घर छोड़कर दूसरी जगहों में नौकरी करनी पड़ रही थी। जो कुछ दिनों पहले अच्छा खाते-पीते गृहस्थ थे उनकी जिन्दगी अब दूसरों की जमीन बटाई करने में बीत रही थी।"[२६]

बिहार अंचल के परानपुर गाँव पर आधारित 'परती परिकथा' में भूमि प्राप्ति के लिए लैण्ड सर्वे सेट्लमेंट के समय परानपुर गाँव के प्रत्येक परिवार का व्यक्ति परस्पर सन्देह करता दीखता है। "गरुड़धुज झा को घर-घर की स्थिति की जानकारी है। लैंड सर्वे सेटलमेंट के उपरांत घर का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे को सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखने लगा है। क्या गरीब! क्या अमीर! अब, परिवार का एक-एक प्राणी दूसरे प्राणी की ओर सन्देहभरी निगाह से देख रहा है। एक-एक आदमी अपने को एक किला बना रहा है। सभी कछुए हुए जा रहे हैं।..."[२७]

परानपुर में प्रत्येक परिवार लड़ाई-झगड़े एवं कलह का केन्द्र बना हुआ है। शाम होते ही घर-घर लड़ाई शुरू हो जाती है। कोई लड़ैया-भूत की सवारी आती है,

शायद। पहले एक घर में शुरू हुआ। मर्दों की बात में औरतों की बोली कभी-कभी सुनाई पड़ती, मोटी-महीन आवाज में बच्चे और साथ ही कुत्ते रो पड़ते हैं।" एक घर का झगड़ा दूसरे घर की ओर लपकता, फैलता जाता। गाँव में एक अजीब कोलाहल।"[२८]

इससे परानपुर गाँववासी व्याकुल हैं। बेचैन हैं। एक-एक प्राणी ताव खाए हुए लट्टू की तरह घूम रहा है—बनबन-बनबन। एक दूसरे से टकराते हैं, लुढ़कते हैं, फिर ताव पर चढ़ते हैं ...[२९]

पिता-पुत्र का सम्बन्ध

परानपुर गाँव के परिवार में पिता-पुत्र के परम्परागत आदर्शवादी आधार पर निर्धारित सम्बन्धों का विघटित स्वरूप देखने को मिलता है। इसका मुख्य कारण है आर्थिक विघटन एवं विरूपता, मानव-मूल्यों में गिरावट।

उत्तर प्रदेश के पद्मपुर गाँव की पारिवारिक व्यवस्था में 'पितृदेवोभव' की परम्परागत स्थिति से अलग परिवर्तित स्थिति 'लोक-परलोक' उपन्यास में देखने को मिलती है। वहाँ पिता क्रोधित होकर पुत्र को इस प्रकार सम्बोधित करता है—"साले मुँह तोड़ दूंगा। समझा क्या है तूने। अभी इतना गया बीता नहीं हूँ अपनी अम्मा से तो पूछि।"[३०] लड़का लट्ठ लेकर मुकाबले पर खड़ा हो गया—'अम्मा सें चों पूछें, बुई कौन अप्सरा है, फटी-फटी आँखिन सूं ऐसे देखति ऐ, जैसे मुतनिया होय काउ दरखत की।"[३१]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर दुर्गा अपने पिता को प्रत्युत्तर देता हुआ कहता है—'तुमन्ने पालो तो कोई ऐसान करो का। तुमेउ तो तुमारे बाप ने पालोओ, खवाओओ, प्यावोओ। और तुमन्ने का मोय पैदा करिबो की नियत ने पैदा करोओ ? माँ ने सुना तो वह भी गाली देने लगी।'[३२]

'मैला आँचल' में वादों के कटघरे से उठकर गाँव की मिट्टी में परिवार की प्राथमिक इकाई में रेणु ने जीवन का सत्य परखा। उनके दोनों उपन्यासों में ('मैला आंचल' और 'परती परिकथा') अनुभव का क्षेत्र व्यापक है। इनमें परम्परागत अर्थ मे घटनाएँ नहीं, बल्कि ग्रामीण जीवन के बहुरंगी चित्र हैं, जिसमें ह्रासोन्मुख परिवार के प्रति एक समन्वित दृष्टि की उद्भावना हुई है।[३३]

संयुक्त परिवार में ह्रास

आंचलिक उपन्यासों से मधुर स्निग्ध पारिवारिक जीवन तो मानो निर्वासित ही हो गया है। इसकी मनोरम झांकी दुर्लभ हो गई है। वयस्क और प्रौढ़-पात्रों की अपनी प्रेम या जीवन-संघर्ष संबंधी समस्याएँ होती हैं। उन्हीं में वे इतने डूब जाते हैं कि 'अबोध बालकों की गंगाजल सी पवित्र और शरद पूर्णिमा की ज्योत्स्ना-जैसी

उज्ज्वल शीतल उन्मुक्त हँसी और पूस के धूप जैसे प्राणप्रद निश्छल पारिवारिक स्नेह का जैसे उनके लिए अस्तित्व ही नहीं रहता।'[३४] संयुक्त परिवार लगभग टूट चुका है, फिर भी बच्चों की निश्छल मुसकान, किलकारी से मुखरित और माता-पिता या भाई-बहन के स्नेह की सुखद धूप से पोषित भारतीय परिवार के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। नागार्जुन के 'दुख-मोचन' में ऐसे ही परिवार के सजीव चित्र मिलते हैं। दुख-मोचन की छह वर्ष की छोटी बेटी टुनु के अबोध भोलेपन और भाभी के संवेदनागर्भित नारी-सुलभ पारिवारिक नेह छोह और सेवा-परायणता ने इस उपन्यास को प्राणों का संगीत दिया है। भाभी का स्नेह सबके लिए सुलभ है—सुखदेव, दुखमोचन, लीलाधर। सबके प्रति उनमें सेवापरायणता है। पास बैठकर भोजन कराने और पंखे से हवा करने में उन्हें अपूर्व तृप्ति का सुख मिलता है। इस स्नेह और सेवा को शुद्ध पारिवारिक कह सकते हैं। यह अलग बात है कि अंतर्मन के उद्घाटक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषक भाभी के इस स्नेह और सेवापरायणता में उनके विधवा जीवन की काम-तृप्ति ढूंढ़ सकते हैं।[३५]

बेमेल विवाह विरोध का स्वर

हैवलॉक एलिस का कहना है—'विवाह उन दो व्यक्तियों के परस्पर संबंधों को कहते हैं जो एक दूसरे से योनिसंबंध एवं सहानुभूति के बन्धनों से आपस में बँधे रहते हैं और यदि सम्भव हो तो वे इन बन्धनों को अनन्तकाल तक चलाएँ।'[३६] परन्तु जहाँ अनिच्छा से पन्द्रह साल की लड़की पचास साल के बूढ़े से व्याही जाय—वहाँ विद्रोह का स्वर भी मुखरित है। इसके पहले का इतिहास कम कारुणिक नहीं है। एक लड़की को गूंगे के हाथ दिया, एक बोड़म के पल्ले बँधी तो एक को तीन जिला पार पहुँचा दिया गया। चार शीघ्र ही वैधव्य से अभिशप्त हुईं। एक पागल हो गई। एक को मिट्टी के तेल से आग लगाकर मार डाला गया। परन्तु इस बार बलि पशु बनने वाली लड़की की माँ विरोध पर उतर आई है। उसकी माँ सूतेसरी का कहना है कि धन, संपदा ही सब कुछ नहीं है। लेखक (नागार्जुन) की टिप्पणी भी ध्यातव्य है—'पन्द्रह साल की कच्ची छोकरी पचास साल के पठकोस दूल्हा के साथ किस तरह अपनी जिनगी काटेगी? हे राम।' युवा पीढ़ी इसका विरोध करती है और फलस्वरूप वृद्ध का विवाह स्थगित हो जाता है।

'कब तक पुकारूँ' में नट जाति में परस्पर प्रेम होता है, परन्तु इसके उपरान्त भी वे नया सम्बन्ध बनाते हैं। इसकी उन्हें स्वतन्त्रता है। एक साथ ही उनके कई सम्बन्ध होते हैं।[३७]

गोसाईं जाति में विवाह करने में ही कठिनाइयाँ हैं। यहाँ तभी किसी पुरुष

का विवाह हो सकता है, जब वह अपनी बहनों को किसी घर में दे। उसके बदले में उतनी ही कन्याओं से उसे विवाह आवश्यक रूप में करना होगा।

सदानन्द इसीलिए वैवाहिक जीवन में प्रवेश नहीं कर पाता है और सोचता रहता है—'काश उसकी एक और बहन होती! तब न जानें कितने गोसाईं परिवारों की रूपवती, गुणवती, सच्चरित्र कन्याएँ उसके घर आने के लिए लालायित रहा करतीं। बिना लड़की पाए, अपनी लड़की कौन दे।''[३८]

ग्रामीण समाज में परिवारों के विघटन एवं माता-पिता से सन्तान के सम्बन्धों के मध्य तनाव का कारण नई एवं पुरानी पीढ़ी का संघर्ष है। उत्तर-प्रदेश के करैता गाँव में देवनाथ डाक्टरी पास कर लौटा है। उसके पिता ने किसी ने भी धर्मी कर्मकांडी पूज्य ब्राह्मण की लड़की से उसकी शादी कर दी।[३९] पुनः उसके गाँव में दूकान खोलने पर उसके पिता उसे तंग करते और गाँव में दूकान खोलने देना नहीं चाहते हैं।[४०] इससे परस्पर तर्क-वितर्क होता है और देवनाथ अपने पिता के बारे में सम्मति अपने मित्र विपिन के समक्ष प्रकट करता है—

''हमारे बाबू जी यह मानते हैं कि उनके घर में उनका एक पक्ष है, बाकी लोगों का एक पक्ष। सिर्फ उनका पक्ष सही है, बाकी लोगों का पक्ष गलत है, अनुचित है और परिवार की प्रतिष्ठा के लिए घातक है। वह जो सोचते हैं ठीक है, बाकी लोग जो सोचते हैं गलत है। इसीलिए बाकी लोगों को सोचने का कोई हक ही नहीं है।''[४१]

आर्थिक अभाव के कारण परिवार की स्थिति

भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के विघटन की प्रक्रिया को तीव्र करने में पुरानी एवं नई पीढ़ी के विचारों और जीवन-मूल्यों में परिवर्तन के साथ-साथ जीवन में अर्थ की प्रधानता का भी प्रमुख योगदान है। आज अधिक-से-अधिक अर्थ पाने के लिए परिवार का एक व्यक्ति दूसरे को धोखा दे रहा है। परिवार में पूर्वज, वयोवृद्ध के स्थान पर अर्थ उत्पन्न करने वाले नवयुवकों का प्रभाव बढ़ गया है।[४२]

उत्तर प्रदेश के कछार-अंचल की पृष्ठभूमि पर आधारित आंचलिक उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में चित्रित पारिवारिक व्यवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कथन उपयुक्त ही है—

''उपन्यास में आजादी के बाद १५ वर्ष तक होने वाले परिवर्तनों को उस अंचल के उभरते हुए प्रभावों को, संयुक्त परिवारों के टूटने, आर्थिक आधार पर बनते नए परिवारों की दूरियों को, व्यक्तिचेतना की ओर वर्गचेतना को, आर्थिक व नैतिक आधारों पर बनते व टूटते जीवन को चित्रित करने का मिश्र जी ने प्रयास किया है।''[४३]

जहाँ आर्थिक संपन्नता है, वहाँ का दृश्य ही अलग है। प्रेम बरसता है। ममता, अपनत्व सदा विराजते रहते हैं। कमला के परिवार का एक दृश्य ही पर्याप्त होगा।

'माँ-बाप के नैनों की पुतली है कमला ! तहसीलदार साहब बेटी की इच्छा के खिलाफ कुछ भी नहीं कर सकते। माँ कमला की हर आवश्यकता को बिना मुँह खोले ही पूरा कर देती है।'[४४] साथ ही प्राचीन संस्कार, ग्रंथ का विधिवत प्रशिक्षण भी इस तथ्य का परिचायक है कि नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का कोई विरोध नहीं है। परिवार के मुखिया की इच्छानुसार परिवार में सब कुछ संचालित होता है—''बाप ने खुद पढ़ाया लिखाया है रामायण, महाभारत, नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान, पार्वती मंगल और शिवपुराण। कमला रोज शिव पूजती है—ओं शिव-शंकर सुखकर, नाथ बरदायक महादेव।''[४५]

दूसरी ओर एक पिता को बेटी के दिल का पता नहीं है, न उसे इसकी चिन्ता ही है कि बेटी पर क्या गुजर रही है। नौबत बेटी के गर्भपात तक पहुँच गई है और वह अपना हाल भाभी से बता रही है। वह काफी परेशान है कि पिता ने ध्यान नहीं दिया तो गर्भपात कराने में कितने पापड़ बेलने पड़ेंगे। प्रचलित गर्भपात के शुल्क और व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। मूल समस्या है पिता नहीं समझता बेटी की इच्छा से उत्पन्न परेशानी। फुलिया कहती है—''खलासी जी इतने दिनों से दौड़ रहे हैं। बाबा कोई बात साफ-साफ नहीं कहते हैं। आखिर वह बेचारा कब तक दौड़ेगा ? यहाँ नहीं तो कहीं और ढूढ़ेगा। दुनिया में कहीं और तत्रिमा की बेटी नहीं है क्या ? · ····जब एक दिन कुछ हो जाएगा तो सहदेव मिसर देह पर माठी भी नहीं बैठने देगा। तब करो खुशामद नककट्टी चमाइन की और चिचाय की माँ का ! मुसब्बर चबाओ और ऐंडी से पेट को आटा की तरह गुथवाओ।''[४६]

आर्थिक अभाव में भी प्रेम सौमनस्य

इसी के समानांतर प्रेमिका का मानमनुहार, प्रेमी को फौज में नहीं जाने की कसम तथा उसके वियोग में उसकी (प्रेमिका) पीड़ा का बखान पारिवारिक सौमनस्य, सद्भाव के कितने फूल खिला देते हैं। अभाव है तो क्या हुआ ? दिल ने अभावों की दीवारों को कब माना ? काछी मांयने सौगन्ध देकर कहा—'मेरी रगत खाने। सोने चाँदी के पहाड़ भी मिले, पलटन में मत जाना ···ओर मेरो दिले ! कल से ही मैं तुम्हारी बाँसुरी नहीं सुन सकूँगी। मैं बैठी रहूँगी। तीन बार सुन्तुला की डाली में फूल लगेंगे। तीन बार सुन्तुला की डाली झुक-झुक जाएगी फलों से। सुन्तुला तोड़ते समय तुम्हारे गालों की याद आएगी मुझे। तुम नहीं लौटोगे, तो मेरी माँ मुझे उस नमक के बूढ़े व्यापारी के हवाले कर देगी। सुंगठी की गंध उस बूढ़े की साँसों में बसी है।''[४७]

परिवार में नारी की स्थिति

समसामयिक भारतीय ग्रामीण समाज में नारी की परम्परागत पारिवारिक भूमिकाओं को आंचलिक उपन्यासों में रेखांकित किया गया है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमंते तत्र देवता' तथा 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो',[४८] ऐसे महिमा मंडित विशेषणों से युक्त नारी की परिवार में उपेक्षा, अवहेलना का एक चित्र द्रष्टव्य है। परिवार में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का जन्म लेना कितना अपशकुनदायक है—उत्तर प्रदेश के कछार-अंचल पर आधारित उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में शारदा का कथन करुणाजनक है—

"इस गाँव में लड़कियों को कौन खतियाता है ? वे तो पाँव तले की जूती हैं—हे राम, लड़की का जीवन भी क्या नरक का जीवन है ? लड़के दूध पियेंगे, घी खाएँगे, मिठाई खाएँगे, सामने उनसे छोटी लड़कियाँ टुकुर-टुकुर ताकती रहेंगी। बाद में तो ताकना भी छोड़ देती हैं क्योंकि लड़कों में और अपने में इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेती हैं। हाय ईश्वर ! तूने लड़की जाति पैदा ही क्यों की ? लड़का पैदा होने पर माँ को एक महीना तक दूध पीने को मिलता है, मगर लड़की के पैदा होने पर पन्द्रह दिन तक। इतना बड़ा अपमान नारी जाति का ? जैसे लड़की पैदा होने पर माँ को आधा ही दर्द होता है··· लड़का पैदा होने पर सोहर होता है, लड़की पैदा होने पर मातम मनाया जाता है······इतना बड़ा अपमान लड़कियों का जैसे कीड़ा-मकोड़ा हों।"[४६]

परिवार में पुत्री की अपेक्षाकृत निम्न स्थिति का कारण है उसके विवाह के लिए दहेज की मोटी राशि। विवाह की आयु में आते ही लड़की धनाभाव वाले परिवार में पहाड़ बन जाती है। अहर्निश व्यंग्य, ताने, उपालम्भ के तीर से बिंधती, छिदती रहती है।[५०]

भारतीय ग्रामीण पारिवारिक व्यवस्था के लगभग सभी वर्गों में पत्नी की पारिवारिक स्थिति पति की अपेक्षा सदैव निम्न समझी जाती है। उसे सदैव अपनी आकांक्षाओं, आशाओं एवं इच्छाओं को पति के समक्ष समर्पित करना पड़ता है। उत्तर प्रदेश के कछार अंचल के मुखिया के बेटे महेश की पत्नी अपने पति के अमानुषिक व्यवहार के कारण सूखकर काँटा हो जाती है—अत्यन्त क्षीण और दुर्बल।[५१] बनवारी अपने बड़े भाई धनपाल के सिखाने एवं शिकायत करने से उसके सम्मान की रक्षा के लिए अपनी पत्नी को बुरी तरह पीटता है।[५२]

उत्तर प्रदेश के भोजपुरी भाषी अंचल के मुस्लिम धर्मावलम्बी समाज में पत्नी के पति द्वारा पीटे जाने की घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। 'आधा गाँव' में रज्जू अपने अब्बा द्वारा अपनी अम्मा को पीटे जाने की सूचना देते हुए नौशाबा से कहता है—

'ए बाजो ! अब्बा अम्मा को मार रहे ।'

'हट !'

'नहीं अल्लाह कसम ! चल के देख लो । किवाड़ बन्द किये हैं और चढ़के बैठे हैं अम्मा पर । और कानी का-का कह रहे हैं । अम्मा भी मार भिनभिना रही हैं ।'

नौशाबा घबराकर उनके दरवाजे तक गई । उसने भी दरवाजे से झाँका । अब्बा वाकई अम्मा की दुर्गति बनाये हुए थे । अम्मा की यह हालत देखकर उसे रोना आ गया ।[५३]

पत्नी द्वारा समर्पण भाव एवं पति को ही सब कुछ मानने का संकल्प व्यक्त करने वाली नारी का पारिवारिक जीवन भी सुख-सम्पदा से भरा है । मुख्य है— समर्पण तथा तज्जन्य सुरक्षा, सुख-शान्ति का अहसास । प्यार की परिभाषा अपने धर्म ग्रन्थ से सीखने वाली का कथन कितना प्रेरक और ऐकान्तिक प्रेम का दर्पण है —

"एक हिन्दू को मैंने अपने गुरु, स्वामी अथवा पति के रूप में प्राप्त किया । प्यार की मारी मैं, इसी पुरुष की खोज में जन्म जन्मांतर भटकी फिरी, और इस जन्म में, यहाँ आकर मैंने इसे प्राप्त किया । सन् १९१०''' में । अपना सर्वस्व समर्पित कर मैंने इसे प्राप्त किया । मेरा सौभाग्य ।''' नहीं मालूम मुझे ।"[५४]

पत्नी की भूमिका में नारी पति के साथ प्रत्येक प्रकार का कष्ट उठाकर उसे प्रगति के पथ पर लाने का प्रयत्न करती है एवं उसे अपना सम्पूर्ण प्रेम प्रदान करती है । बिहार अंचल पर आधारित 'माटी की महक' में भारतीय ग्रामीण पत्नी के पीड़ा एवं प्रेम से परिपूर्ण व्यक्तित्व पर समाज सेविका गौरी का वक्तव्य उल्लेखनीय है—

"विश्व की नारी जाति में हिन्दू स्त्रियाँ कितनी पवित्र होती हैं ? पति के सारे अपराधों को क्षण भर में भूलने वाली । प्यार और ममता प्रदान करने वाली, पति के पीछे रहने वाली, हलाहल को अमृत की तरह पीने वाली । वह सारी जिन्दगी दुख झेलती है, पीड़ा से तड़पती रहती है, लेकिन पति को अपना प्यार लुटाने में कभी भी क्षुद्रता नहीं दिखाती । पति बूढ़ा हो, जर्जर हो, कुष्ठ रोग से गलित हो, लेकिन उस शरीर से भी स्त्री को ताजे खिले फूलों की सुगन्ध मिलती है । आधा पेट खाकर, चिथड़े पहनकर, सारी जिन्दगी पति के साये में काट लेती है । जीवन की आखिरी साँस तक स्नेह की मूर्ति बनी रहती है । कितनी कुर्बानी, कितना उच्च आदर्श । दुनिया के किसी देश में पति के लिए स्त्रियों के हृदय में इतना त्याग, सम्मान और स्नेह पाया जाता है ?"[५५]

विश्व में देवी के समान श्रद्धास्पद, पूज्या, त्यागमयी, ममता की मूर्ति नारी बंध्या होने पर पति को उपेक्षिता हो जाती है । कछार अंचल की बदमी दो-तीन वर्ष तक सन्तान उत्पन्न न करने के कारण ही परिवार वालों की उपेक्षा का पात्र बन

जाती है। बदमी का आत्मकथ्य ही इसका प्रमाण है। "इस नरक में मैंने कैसे तीन साल गुजारे, तुम सोच सकते हो तिवारी। और एक नई मुसीबत खड़ी हो गई थी—सास और ननद मुझे बाँझ कहने लगी थीं। तीन साल हो गए—न कोई बाल न बच्चा, बाँझ नहीं तो और क्या कहेंगी ? सबेरे-सबेरे कोई मुंह देख लेता तो घिन से मुंह बिचकाकर कह उठता—राम राम कैसे दिन बीतेगा आज बाँझ का मुंह देखा है। बाँझ''''बाँझ''''बाँझ यही बात दिन-रात पूरे घर में घूमती रहती। मैं इस घर से छूट भागने के लिए बेचैन हो गई। अब तो खाना-पीना भी मुश्किल होने लगा। ननद सारा हिसाब-किताब रखने लगी और बार-बार ताने मारती कि गाँव वाली हरजाइयों का पेट होता है कि खंदक, अन्न की थाह ही नहीं मिलती है।"[५६] इस व्यंग्य ताने, उपहास, प्रताड़ना से पीड़ित होकर वह अपने पिता के परामर्शानुसार अन्यत्र अपने प्राणों का घात न कर उन्हीं के पास गाँव लौट जाती है।

वहाँ भी उसे शान्ति कहाँ है ? औरत की सुन्दर काया, जवानी पाप ही है। वह स्वयं सोचती है—'औरत की सुन्दर देह और भरी जवानी पाप है उसे किसी को दो तो दुःख, न दो तो दुःख, इसे जोगवो तो तकलीफ और बाँट दो तो तकलीफ। कोई भीतर का दरद तो देखता नहीं है।'[५७]

विवाह और तज्जन्य समस्याएं

भारतीय ग्रामीण नारी की वैवाहिक समस्याएँ बड़ी विकट हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत की नारियों में जागृति आई है। अपनी अस्मिता के लिए डटने, जूझने का भाव जगा है, परन्तु अशिक्षित ग्रामीण महिलाओं की स्थिति पूर्ववत् है। दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, बाल-विवाह आदि के कारण अनेकों ग्रामीण महिलाएँ विधवा हो जाती हैं। वैवाहिक जीवन के प्रति उनके स्वप्न, अरमान, कल्पनाएँ मरुकांतर में खो जाते हैं। विधवा विवाह का वहाँ प्रचलन नहीं है। गेंदा, गुलाबी, रतिनाथ की चाची, चमेली, परमेसर की पत्नी, उगनी, गोपी की भाभी, माया आदि अनेकों विधवा नारकीय जीवन जीने को विवश हैं। उनका जीवन करुणा की अकथ कहानी है। गेंदा यौवनावस्था के प्रारम्भ में ही विधवा हो गई। अपने जन्मस्थान वापस आ गई। उसका आत्मकथ्य ही समस्या की भयावहता पर प्रकाश डालता है—"मैं राँड़ हूँ, लोग मेरा मुंह देखना पाप समझते हैं। शायद इसीलिए लोग कहीं जाते वक्त मुझसे बचने की कोशिश करते हैं और यदि संयोग से दिखाई पड़ गई तो लोग लौट जाते हैं। और तो और अपना ही भाई (जिसे मैं सहारा समझी थी) मेरा मुंह नहीं देखना चाहता। इस चमाइन से भी मेरी हालत गई गुजरी है। दुनिया में सहारा कौन हो सकता है ? ससुराल में देवर है। वह अपना है, मुझे चाहता है, प्यार करता है, किन्तु वह भी मुंह देखे की बात। नहीं तो अब तक मेरी खोज खबर लेने नहीं आया होता। और

देवरानी तो मेरी शकल भी नहीं देखना चाहती। और आखिर देवर है तो उसी का। सास भी मुझे डायन कहती है। कहती है मेरे विवाह के ही कारण उसका लड़का मर गया। उँह, सास की कौन वह तो किनारे का पेड़ है अब गिरे तब गिरे। तो मैं अभागिन हूँ, डायन हूँ, आदमी खाती हूँ और तो और मैं अपना मरद खा गई। मेरा मुँह देखना भी पाप है। मैं राँड़ हूँ...राँड़ हूँ...राँड़ हूँ....मैं राँड़ हूँ....और दुनिया में मेरा कोई भी नहीं, यहाँ तक कि मेरी यह भरी भरी जवानी, मेरी हँसी, मेरे गीत भी अपने नहीं हैं, वे होकर भी नहीं हैं। उन्हें पति के साथ मर जाना चाहिए था लेकिन किसी तरह मैं उन्हें नहीं मार सकी तो ये सब मुझे बेशरम कहते हैं क्या क्या कहते हैं। खुद अपना भाई मेरे दर्द को नहीं जान सका तो औरों की क्या कहूँ।"[५८]

विधवा के पारिवारिक जीवन में विधवा-विवाह के कहीं-कहीं प्रचलन के कारण खुशी की लहर दौड़ी है, परन्तु इससे ग्रामीणों में प्रसन्नता नहीं आई है। बिहार के टमका कोहलो ग्राम में दुखमोचन विधवा माया का विधुर कपिल से विवाह करा देता है।[५९] परन्तु सभी ग्रामीण प्रसन्नता का अनुभव नहीं करते। प्राचीन संस्कारों और रूढ़ियों से ग्रस्त इसकी तीखी आलोचना करते हैं और उसके पिता तो क्रोधावेश में आकर दुखमोचन को पीटने ही लगते हैं।[६०] बिहार के परानपुर गाँव की मलारी सुवंश के साथ अन्तर्जातीय विवाह कर लेती है। बाल-वैधव्य की चिर-कालिक पीड़ा सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त करने पर सुखद और सम्मानजनक जीवन में परिवर्तित हो जाती है। वह एक सम्मानित शिक्षिका का जीवन बिताती है।[६१] 'गंगा मैया' का गोपी अपनी विधवा भाभी से विवाह कर प्रगतिशील नवयुवक का परिचय देता है। एक लकड़ी के कुन्द के समान। पति की चिता पर साथ जलने वाली। साथ न भी जले, तो भी ओदी (कच्ची) लकड़ी के समान सपच सपच कर धुँधुवाती हुई जलने वाली के जीवन में गोपी ने वसंत की प्रफुल्लता भर दी है।[६२]

गाँवों के परिवारों में स्वार्थ इस हद तक बढ़ गया है कि लोगों की समझ में यह बात आती ही नहीं कि बिना स्वार्थ के कोई मनुष्य किसी की भलाई क्यों करेगा? पूरन विश्वास की तरह मोहरिल भाभी भी है, जो मनमोहन को परिवार का बोझ मानती है, परन्तु मनमोहन के पिता के कुछ सामग्री दे जाने पर अपनी स्वार्थ-भावना छिपाती हुई कहती है—'बेटा मेरे कहे का बुरा मत मानना।'[६३]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिवार में नारी की स्थिति कष्टपूर्ण है। विवाह को लेकर नाना समस्याएँ उठती हैं। विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन नहीं मिलता। परिवार में पुत्र की अपेक्षा पुत्री का स्थान निम्न है। आर्थिक अभाव, मानव-मूल्यों में ह्रास आदि के कारण पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव

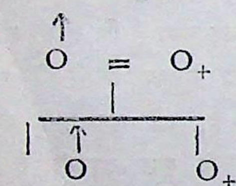
आया है। पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, सहयोग पर प्रश्न-चिह्न खड़ा हो गया है। अपवाद स्वरूप कुछ आदर्श परिवार सुख सौमनस्य का जीवन बिताते हैं।

बन्धुत्व संगठन

बन्धुत्व शब्द के कई अर्थ हैं। वास्तव में यह शब्द इतना जटिल है कि इसके अध्ययन के पूर्व इसका अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिए। बन्धुत्व शब्द के तीन अर्थ हैं—(क) जैविक (ख) व्यवहार सम्बन्धी (ग) भाषा सम्बन्धी। यह आवश्यक है कि बन्धुत्व के तीनों सन्दर्भों को एक दूसरे से पृथक् रखें। यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि बन्धुत्व की अवधारणा एक जटिल प्रघटना है, फिर भी इसे सरल बनाना चाहिए।[६४]

आनुवंशिकता और जैविकता द्वारा बँधे हुए स्वजन या बन्धु कहलाते हैं। बन्धुत्व व्यवस्था जैविक जाल का एक स्वरूप है। इस जाल में व्यक्ति एक गाँठ की तरह होता है, जो वाहकाणुओं को दूसरों से ग्रहण करता है और इन वाहकाणुओं को दूसरों को प्रदान करता है। जैविक सम्बन्धों को लेकर मनुष्यों में दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं—एक वंश से जुड़ा हुआ, दूसरा यौन संबन्धों से जुड़ा हुआ। जैविक अर्थ में सभी बन्धुत्व या तो वंशज या यौन सम्बन्ध की एक शृङ्खला में बँधे होते हैं। दत्तक व्यवस्था एक प्रकार से समाज द्वारा स्वीकृत विधि है जो जैविक सम्बन्धों का स्थान ग्रहण करती है।[६५]

प्रारम्भ में हम बन्धुत्व का अर्थ उस अध्ययन से ले सकते हैं, जो सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक कोटियों और सामाजिक समूहों के सांस्कृतिक निर्वचन से संबंधित है। ये सम्बन्ध उन लोगों से बने हुए होते हैं जो किसी न किसी रूप में जैविक कड़ी द्वारा परस्पर सम्बन्धित हैं। बन्धुत्व अध्ययन का विश्लेषण सरल रूप में इस प्रकार किया जा सकता है—[६६]



चिह्न : O↑ पुरुष, = विवाह, O+ स्त्री

एक पुरुष (O↑) एक स्त्री (O+) से विवाह (=) करता है।

उन दोनों से सन्तान (O↑ = O+) उत्पन्न होती है। बस परिवार बन गया।

बन्धुत्व सम्बन्धों के प्रकार

बन्धुत्व सम्बन्धों के प्रकार की तालिका इस प्रकार बनती है—[१७]

	सीधा (Direct)	साझेदारी (Shared)
यौन सम्बन्ध (Sex Relations)	विवाहित जन (Spouses)	बहुविवाहित जन (Co-Spouses)
वंशानुक्रम सम्बन्ध (Descent Relations)	वंशज स्वजन (Lineal rinship)	समपार्श्व स्वजन (Collaterals)

समाजविज्ञान में जो अनुसंधान कार्य हुए हैं, उनका एक बड़ा भाग बन्धुत्व व्यवस्थाओं के अध्ययन से सम्बन्धित है। बन्धुत्व व्यवस्था का यह अध्ययन केवल आकस्मिक ही नहीं है, उसके अन्य कारण भी हैं। नेल्सन ग्रेबर्न (Nelson Greburn) के अनुसार उन कारणों को प्रस्तुत किया जाता है—[१८]

(१) बन्धुत्व व्यवस्थाएँ सर्वव्यापी हैं।

(२) सभी मानव-समाजों की संरचना में थोड़े बहुत अन्तर के साथ बन्धुत्व व्यवस्थाएँ सदैव महत्वपूर्ण होती हैं।

(३) जिन समाजों का समाजवैज्ञानिकों ने परम्परागत रूप से अध्ययन किया है, उनमें अधिकांशतः बन्धुत्व व्यवस्था सामाजिक संगठन का एक बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है।

(४) बन्धुत्व व्यवस्थाएँ अपेक्षाकृत रूप से अधिक सरलता से स्पष्ट की जा सकती हैं और उनका विश्लेषण भी सुबोध हो सकता है।

(५) समाजविज्ञान के इतिहास में समाजों के अध्ययन ने यह बताया कि बन्धुत्व एक बहुत महत्वपूर्ण संस्था है और यह संस्था सभ्य समाज की संस्था से भिन्न है। इसने सामाजिक मानव-वैज्ञानिकों को इसके अध्ययन के लिए प्रेरित किया है।

(६) सामाजिक मानव-विज्ञान के आविर्भाव के पहले अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों ने समाज के कई पहलुओं का अध्ययन किया था। उनकी दृष्टि में बन्धुत्व अध्ययन उपेक्षित रहा। सामाजिक मानव वैज्ञानिकों ने इस उपेक्षित अध्ययन के प्रति अपने को अग्रसित किया।

आंचलिक उपन्यासों में बन्धुत्व संगठन का व्यापक रूप देखा जा सकता है। भारत और एशिया के अधिकांश भागों में परिवार और रिश्तेदारी के सम्बन्धों का महत्व पश्चिम से अपेक्षाकृत अधिक है। परिवार मानव समुदाय की मूलभूत इकाई

है। मनुष्य की मौलिक एवं प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले संगठनों एवं संस्थाओं में परिवार का स्थान प्रथम और प्रमुख है। वस्तुतः व्यक्ति की अस्तित्व रक्षा और उसके समग्र विकास का मूल घटक परिवार है।

यौन सम्बन्ध

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँवों के पारिवारिक सम्बन्धों में एक परिवर्तन घर कर रहा है—संयुक्त परिवारों का अपने पारम्परिक ढाँचे को तोड़ छोटी-छोटी स्वतंत्र पारिवारिक इकाइयों में बँटना, एकता का अनेकता में विभाजित होना, प्राचीन परम्पराओं, आदर्शों एवं आधारभूत मूल्यों में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं संकुचन, पारस्परिकता एवं सामूहिकता में ह्रास। आधुनिकता और आधुनिकीकरण, नवीन, तीव्र संचार साधनों के विकास, आर्थिक अभाव, विदेशी सांस्कृतिक प्रभाव एवं भौतिकताजन्य व्यष्टिपरक भावना के कारण संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं।[६९] सम्बन्धों में बदलाव आ रहा है। पारिवारिक सम्बन्ध, उनमें आए तनाव, मूल्य विघटन आदि को समग्रतः आंचलिक उपन्यासों में देखा जा सकता है।

त्रिकोणात्मक स्थिति

पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों में त्रिकोणात्मक स्थिति तब हो जाती है, जब उसमें तीसरे (प्रेमी-प्रेमिका) का प्रवेश हो जाता है। फलतः पारस्परिक संघर्ष और आकर्षण का विकर्षण में बदलना स्वाभाविक है। वैवाहिक जीवन में तीसरे को समानान्तर लेकर चलना नैतिकता के नए प्रतिमान उगाता है। ग्राम-जीवन में नैतिकता का यह नया प्रतिमान स्थापित नहीं हो पाया है। चोरी-छिपे चलने वाला तीसरा सम्बन्ध पहले से ही यहाँ विद्यमान है, बल्कि बढ़ ही गया है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में भारतीय ग्राम जीवन के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को विविध सन्दर्भों में उठाया है, लेकिन पति-पत्नी के सम्बन्धों में शहरी तौर-तरीकों का प्रवेश नहीं के बराबर है। आत्मसत्ता हेतु संघर्ष के स्वर का अभाव है।[७०] उनकी 'उग्रतारा' ही एकमात्र विद्रोह के स्वर को क्रिया की वाणी दे पाती है। उसकी उगनी अपने पति सिपाही भभीखन सिंह को छोड़ विवाह और पति के सारे नाटक नकार कर अपने प्रेमी कामेश्वर सिंह के पास चली जाती है। आत्मसत्ता के लिए जूझने का ऐसा उदाहरण विरल है।

अलग-अलग वैतरणी की कनिया के अपने पति बुझारथ सिंह के साथ बड़े तनावपूर्ण सम्बन्ध हैं। वर्षों तक उनमें पारस्परिक वार्तालाप नहीं होता। चरित्रहीन बुझारत सिंह में जमींदार के बेटे की हेकड़ी पूर्णरूप से विद्यमान है। वह अपने पड़ोसी धर्मू सिंह की बेटी पुष्पा का कौमार्य भंग करना चाहता है। अनेक योजनाएँ बनती

हैं पर निराशा ही हाथ लगती है। बुझारथ सिंह की अनैतिकता ही दाम्पत्य-जीवन में जहर घोल रही है।[71]

'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर के महाबल (कुंजु के पिता) की पत्नी का गाँव के दीनदयाल से अनैतिक सम्बन्ध है। एक दिन महाबल ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया। तुरन्त गड़ासे से पत्नी के दो टुकड़े कर डाले तथा दीनदयाल की भरपूर पिटाई की। बदमी और कुंजु ऐसे दो पात्र हैं, जो पति-पत्नी की भूमिका नए स्तर पर अन्त तक निभाते हैं। बदमी ने एक नहीं, दो-दो पुरुषों को छोड़ा और अन्त में शरण ली कुंजु की गोद में। एक महत्वपूर्ण भावबोध उनमें जगा है, जो आंचलिक उपन्यासों के लिए नया है। दोनों पारस्परिक आंतरिक भटकाव और अकेलेपन की त्रासदी सहकर पारस्परिक दर्द को झेल सके हैं। फिर एक स्थायी सम्बन्ध ने जन्म लिया है।

तिवारीपुर में ऐसे अनेक नकाबपोश हैं, जो गरीब बनियों की अस्मत से खिलवाड़ करते हैं। इसमें गरीब स्त्रियों का स्वेच्छाचार नहीं, बल्कि उनकी विवशताएँ एवं सामाजिक स्थितियों की विसंगतियाँ हैं। दलसिंगार और डलवा एवं दौलतराय और फुलवा से अनेक सम्बन्धों का यहाँ निर्वाह होता है।

आंचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत दाम्पत्य जीवन को देखकर ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण परिवेश अभी आंचलिकता से दूर है। तनाव के झंझट, तलाक की समस्या,[72] कृत्रिमता से अलग। आधुनिकता से स्वत्वबोध तो आया है, लेकिन समता की माँग प्रतीक्षित है।[73]

वंशानुक्रम सम्बन्ध

पति-पत्नी के सम्बन्धों के बाद बन्धुत्व संगठन में माता-पिता और संतान सम्बन्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। माता-पिता का संतान के साथ रक्त सम्बन्ध है। वे इस सम्बन्ध को निबाहने के लिए प्रयत्न ही नहीं करते, त्याग, बलिदान तक करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध को आघात पहुँचा है शहरों में आधुनिकता की अंधभक्ति, अशिक्षा, अधकचरी शिक्षा तथा मँहगाई से। डा० रामदरश मिश्र का कहना है—'ग्रामीण परिवेश में आज खून का रिश्ता पानी हो रहा है और पानी का रिश्ता खून हो रहा है।'[74]

'रतिनाथ की चाची' का उमानाथ अपनी माँ को इसलिए फटकारता है, क्योंकि वह स्वावलम्बी है। मेहनत, मजदूरी करके और चर्खा चलाकर अपनी गुजर करती है। कलकत्ते में नौकरी पाकर बेटा महाराज अहंभाव से जकड़ गया है और अपने को आफिसर ही समझता है। माँ का सहारा बनने के बजाय चलते समय उसे झिड़कियाँ देता है। आज की युवा पीढ़ी और उसकी कृत्रिमता पर उसी का व्यंग्य उल्लेखनीय है—'चर्खा चलाकर तूने दुनिया भर को बतला दिया है उमानाथ

आवारा है, कलकत्ता में खुद तो मौज मारता है और घर पर माँ जुलाहिन हुई जा रही है। खबरदार ! अब कभी चर्खा छुआ तो हाथ काट लूंगा।'[७५] मूल्य, मर्यादा का विघटन हो गया है। झूठे दंभ और दिखावे की प्रवृत्ति के कारण श्रम को नकारा जाता है और माँ को भरण-पोषण देने के बजाय अपमानित किया जाता है।

'नई पौध' का टुनाई अपने पिता की संकीर्णताओं से दुःखी है। अपनी बहनों की दयनीय जिन्दगी, दुर्दशा रह-रहकर उसकी आँखों में कौंधती है। कारण है, उनका अनमेल विवाह। इस सामाजिक कुरीति के मूलोच्छेद के लिए वह नवयुवकों का साथ देता है, यद्यपि उसका पिता इसे स्वीकार नहीं करता।

'परती परिकथा' में एक साथ ही पति-पत्नी के लरकते, खोखले सम्बन्ध तथा संतान के प्रति पिता की धारणा का पता लगता है। समस्त परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रश्न-चिन्ह ही नहीं लग जाता, यह भी पता चलता है कि परिवार की परम्परागत मर्यादा एवं आदर्शवादिता के अवशेष भर बच रहे हैं। बीरभद्दर और नुनुदाय का वार्तालाप स्थिति को स्पष्ट कर देता है—

"तुम नहीं जानतीं ? उसकी माँ ने, बाबू जी को किस तरह बेइज्जत करके, नंगाझारी करके, चोरी का चार्ज लगाकर बदनाम किया ? तीन-तीन झूठे मुकदमे किए ?"

"जिसका जमा बुड़ावेगा कोई, उस पर मुकदमा नहीं होगा ?" नुनुदाय ने बात गड़ाई, अपने पति की देह में। वह जानती है सब कुछ ! बीरभद्दर ने एक करारा तमाचा नुनुदाय के मुँह पर जड़कर उसका मुँह लाल कर देना चाहा, पर कुछ सोचकर मन मसोस कर रह गया, परन्तु बिना भड़ास निकाले नहीं रह सका।

"देखो एक तो अपनी फैमिली में कहाँ से एक डोल्ट डम्फास विभीषण पैदा हुआ है। अब तुम भी ऐसी बात करती हो ? अपने फादर इन लौ के नाम पर झूठा तोहमत लगाती हो ? कौन कहता है ? किसका जमा बुड़ाया ?"

"बच्चा-बच्चा जानता है, बोलता है।"

"बोलने दो।"[७६]

वीरभद्दर ने उस जाहिल औरत से बोलने के बजाय मौन-सत्याग्रह की तैयारी की।

पारिवारिक सुख सौमनस्य के चित्र मन रंगाने वाले हैं। तहसीलदार कमला का अवैध गर्भ जानकर भी बेटी के सुख के लिए चुप रहते हैं और सामान्य आचरण करते हैं। उससे पितृवत्सलता टपकती है। उधर कमला भावी शिशु के लिए रंग-बिरंग के स्वप्न सँजोती है—

"लेकिन जबसे उसे आने वाली की आहट मिली है, कमला का मन किसी दूर देश में खो सा गया है। एक ही साथ बहुत से बच्चों के मुखड़े खिलखिला उठते

हैं उसकी आँखों के आगे ! बच्चे उसके साथ आँख मिचौनी खेल रहे हैं ? कौन है वह ? सभी प्यारे ! ताजे कमल की तरह खिले हुए। वह किसका हाथ पकड़े ? वह एक चंचल बालक को उठाकर गोद में ले लेती है। कितने कोमल हैं उसके हाथ-पैर कैसी मीठी मुसकराहट ! कितना चंचल ! मेरा''''चुलबुला राजा रे ! कमला की छाती से दूध झरने लगता है।''[७७]

'लोक-परलोक' (उदयशंकर भट्ट) का दुर्दमना पिता से विद्रोह कर उठता है। उन्हें गाली ही नहीं देता, लाठी भी उठा लेता है। पिता के कुछ कहने पर घर छोड़ने को तैयार हो जाता है। माता-पिता के वर्चस्व व अस्तित्व पर एक प्रश्न-चिन्ह लगा देता है—

''तुमन्ने पालो तो कोई ऐसान करो का ! तुमैऊ तो तुमार बाप ने पालैओ, खयायो प्यायोओ। और तुमन्ने का मोय पैदा करिबे की नीयत ते पैदा करोओ ?''[७८]

'आधा गाँव' का कम्मो भी पितृविद्रोही है, पर वह स्वयं दोषी नहीं है। वाजिद मियाँ के सनकीपन ने घर को नरक बना दिया है। एक दिन कम्मो अपनी भड़ास निकाल ही देता है। पिता को पीटने लगता है। उसकी माँ पति को पिटते हुए कैसे देखे—वह उसे छुड़ाती हुई कहती है—''छोड़ माटी मिले ! का तैं बाप को मरबे ? तोता जनाजा निकले। झाड़ू मारे दिमाग ढये। अरे मैं कह्त थियूँ, छोड़ जवान पीटे।''[७९]

'अलग-अलग वैतरणी' (शिवप्रसाद सिंह) का हरिया, 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल) का रूप्पन और छोटे पहलवान तथा 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र) का रामकुमार एक तरह के हैं—अपने पिता के प्रति कटु, विद्रोही और आक्रामक। रूप्पन का अपने पिता के प्रति आक्रोश रंगनाथ को दिए गए उसके उत्तर में प्रकट होता है—

''पिताजी क्या खाकर नाराज होंगे। उनसे कहो मुझसे सीधे बात तो कर लें।'' उनकी शादी चौदह साल की उम्र में हुई थी। पहली अम्मा मर गई तो सत्रह साल की उम्र में दूसरी शादी की। साल भर भी अकेले रहते नहीं बना।'''यह तो किया कायदे से और बेकायदे कितना किया'' सुनोगे वह भी''।''[८०]

इस प्रकार बन्धुत्व संगठन में पुरानी परम्परा, आदर्श के प्रतिमानों का कहीं निर्वाह है, तो अधिकांश स्थलों में आधुनिकता, नए मूल्यबोध, शहरीकरण के प्रभाव, बढ़ते आर्थिक दबाव आदि के कारण नई-पुरानी पीढ़ी का संघर्ष भी मुखर है। प्रमुख तथ्य है कि नई पीढ़ी आक्रामक है और विरोध पर उतारू हो गई है। आदर्श दाम्पत्य के क्षितिज पर तृतीय पुरुष के उदय ने उनके जीवन को अस्त-व्यस्त ही नहीं बनाया है, दाम्पत्य की परिभाषा में भी विचलन ला दिया है।

वर्णित समाज का सांस्कृतिक और आर्थिक पक्ष

हमारी संस्कृति का मूल स्रोत कृषि है। हमारा सांस्कृतिक प्रसार कृषि और ग्रामजीवन में ही परिव्याप्त है। मनुष्य के रूप में एक सामाजिक सदस्य के नाते उसके सारे क्रिया व्यापार एक सांस्कृतिक चक्र से बँधे हैं। संस्कृति ही वह आधार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति ज्ञान, कला, नैतिकता, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ सीखता है। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है।

भारतीय कृषक का समस्त जीवन ग्रामीण संस्कृति से अनुप्राणित है। ग्रामीण कलाएँ पर्व, त्यौहार, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, खेलकूद आदि विभिन्न अवयवों के योग से संस्कृति का निर्माण होता है। ये अवयव ग्राम्य-जीवन में व्यवस्था एवं अनुशासन के आवश्यक तत्व हैं तथा ग्रामीणों से काफी घुले-मिले हैं। कृषक-संस्कृति की भौतिक वस्तुएँ कला और उपयोग दोनों की दृष्टि से उपयोगी हैं-- जैसे ग्रामीण कलाएँ, बाँस और मूंज की टोकरी बनाना, साड़ियाँ काढ़ना आदि। कृषि के साथ संस्कृति के अलावा आर्थिक पक्ष भी जुड़ा है। कारण, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की मूलाधार कृषि है। भारत की जनसंख्या का पचहत्तर प्रतिशत गाँवों में रहता है। उसकी जीविका का एकमात्र साधन कृषि है। उसके उत्पादन पर ही ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था निर्भर करती है। ये गाँव ही नाना अंचलों के द्वारा आंचलिक उपन्यासों में व्यक्त हुए हैं।[८१]

स्वातंत्र्योत्तर भारत और संस्कृति

स्वातंत्र्योत्तर भारत के अंचलों में सांस्कृतिक परिवर्तन की गति द्रुत हुई है। परम्परा पोषित भारतीय दृष्टि में नवीन वैचारिकता का उन्मेष हुआ है। इस युग में देश में शैक्षणिक चेतना का प्रसार हुआ, लोगों के वैचारिक एवं व्यावहारिक जीवन में सांस्थानिक परिवर्तन आए हैं। उनमें अधिकार-बोध जगा। प्रजातांत्रिक सरकार में जन सामान्य की साझेदारी के कारण राजनैतिक चेतना आई। इस चेतना ने नवीन संस्कृति के ताने-बाने बुने। गाँवों में शहरों की भाँति प्राचीनता के प्रति अंध-विश्वास, आध्यात्मिक शक्तियों के प्रति असंतोष तथा आधारहीन उज्ज्वल भविष्य की कामना उत्पन्न हुई। इसी के कारण आज का वर्तमान सांस्कृतिक संकट है। हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में भारतीय संस्कृति और अर्थ-व्यवस्था की प्रभाव-रेखाओं को उजागर करने का प्रयास हुआ है।[८२]

संस्कृति विचार नहीं आचार की भाषा है। यह युद्ध नहीं समझौते का नाम है। एक दूसरे धरातल पर संस्कृति विचार है। भावना है। मनुष्य का जीवन-व्यापी दृष्टिकोण है। दया, माया, करुणा, अहिंसा, साहस और शील संस्कृति के मूल तत्व हैं, जो एक-दो दिन में नहीं लाए जा सकते। वर्षों की साधना चाहते हैं, फिर जन्म-जन्मांतर तक साथ देते हैं।[८३]

'गंगा मैया' में सांस्कृतिक नवीनता के दर्शन होते हैं। रोजी-रोटी के लिए जमींदार और कृषक का तनाव नई जीवन प्रणालियों के विकास एवं नवीन मूल्यों के अन्वेषण का प्रयास है। आज के व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध बहुत कुछ अर्थ-मूलक बनते जा रहे हैं। विधवा विवाह कराने में मटरूसिंह गोपी की कितनी सहायता करता है। बेचारा आर्थिक भार एवं अन्य आपदाएँ सहकर भी उसकी भाभी का विवाह उसी के साथ (गोपी) करा देता है। यह दृष्टांत भी नया है।

प्राचीन एवं नवीन संस्कृति का समन्वय : मैला आंचल

'मैला आंचल' का कथांचल मेरीगंज प्राचीन एवं नवीन संस्कृति का अद्भुत रंगस्थल दृष्टिगत होता है। गाँव की जिंदगी कालीचरण और बालदेव जैसा नेता जहाँ नवीन दृष्टि से संपन्न हैं, वहीं बावनदास जैसे लोग भी हैं, जो प्राणोत्सर्ग कर भ्रष्टाचार मिटाने के असफल प्रयासी हैं। उधर डॉ० प्रशांत में मानवतावाद के दर्शन किए जा सकते हैं। उसके पास ग्राम सुधार के कई रचनात्मक कार्य हैं। वह मलेरिया और कालाजार पर अनुसंधान ही नहीं करता, विदेशी छात्रवृत्ति को त्यागकर प्यार की खेती करना चाहता है।

"मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भींगी धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे। मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आंचल तले! कम से कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कुराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ…।"[८४]

गाँव में नए और पुराने विचारों की टकराहट है। शहरी खान-पान, वेश-विन्यास का प्रसार गाँवों तक पहुँच गया है। गाँव की फुलिया बालों में सुगंधित तेल लगाती है। शहरी ढंग से रहती है—"साड़ी पहनने का ढंग, बोले बतियाने का ढंग, सब कुछ बदल गया है।"…"कमली अँगिया के नीचे जैसे छोटी चोली पहनती है, वैसी वह भी पहनती है। कान में पीतर के फूल हैं। फूल नहीं फुलिया कहती है कनपासा। आँचल में चाबी का गुच्छा बाँधती है, पैर में शीशी का रंग लगाती है।"[८५]

'परती परिकथा' में नवीन संस्कृति का प्रसार

'परती परिकथा' में नवीन संस्कृति का प्रसार बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है। परानपुर की सामूहिकता, एकता, सांस्कृतिक उच्चता आज शेष नहीं है। सबने अपने अलग-अलग रास्ते अपनाए हैं—युवक-युवतियाँ, नर-नारी, माँ-बेटी, बाप-बेटे। घर-परिवार को चकबंदी ने बाँट दिया है। उत्सव, त्यौहार की रंगत पता नहीं कहाँ खो गई है। नई-नई घटनाएँ घटती हैं। गाँव के आदमी अपने ही गाँव में बेगाने और अज्ञातकुलशील हो गए हैं। कोई किसी से मुक्त हृदय से मिल नहीं पाता। सभी की आवश्यकता के अनुरूप जितेन्द्र की कामना है—प्रीतिबन्धन के खोए हुए सूत्र को खोजकर निकालना होगा…और अब ?"[८६]

गाँव में क्या सम्बन्ध, क्या खानपान, क्या रहन-सहन, क्या सोच विचार—सभी के नए-नए प्रतिमान उद्‌घाटित हो रहे हैं और ग्राम-जीवन की प्राचीनता में ये सब प्रकट हो रहे हैं।

आर्थिक पक्ष

आर्थिक पक्ष का अध्ययन करते समय उपन्यस्त समाज की अर्थ-व्यवस्था के नियामक तत्वों के अंतर्गत उनकी आय के साधन, साधनों की स्थिति, उनके आर्थिक जीवन-स्तर एवं आर्थिक विकास के नए चरण आदि पर विचार करना अपेक्षित है। इसका विस्तृत अध्ययन 'अर्थ-व्यवस्था' के अंतर्गत किया जाएगा। अर्थ ही सभ्यता, संस्कृति, आचार, नीति को प्रभावित करने वाला तत्व है। यह सामाजिक संरचना का मूल घटक है और संस्कृति के विकास का कारण भी। संस्कृति की विस्तृत व्याख्या धर्म-विश्वास, रीति-रिवाज आदि उपशीर्षकों के अंतर्गत की जाएगी।

धर्म-विश्वास

धर्म एक शक्ति भी है, विश्वास भी। इसकी धारणा अमूर्त और अति प्राचीन है। इसके स्वरूप चिंतन में कल्पना का योग अनिवार्य है। हमारा अतीतकाल धार्मिक दृष्टि से गौरवमय रहा है और उसके नियम शाश्वत नियमों की भाँति समाज में मान्य रहे हैं। धर्म के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ एवं परिभाषाएँ हैं। डॉ० राधाकृष्णन का मत है—"धर्म वह अनुशासन है, जो अंतरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सिता से संघर्ष करने में सहायता देता है; काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है; नैतिक बल को उन्मुक्त करता है, संसार को बचाने के महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है।"[८७]

मालिनोवस्की का कहना है—"धर्म के अंतर्गत व्यवहार के वे सभी प्रतिमान आ जाते हैं, जिनमें मनुष्य दैनिक जीवन की अनिश्चितताओं को न्यूनतम करने का एवं अप्रत्याशित तथा भविष्यवाणी न किए जा सकने वाले संकटों की क्षतिपूर्ति का प्रयत्न करते हैं।"[८८] जान क्यूबर ने धर्म को सांस्कृतिक व्यवहारों का प्रतिमान माना है, जिसके अंतर्गत पवित्र और मान्य विश्वासों, संवेगिक भावनाओं आदि का व्याप्त क्रियान्वयन होता है।[८९]

तीनों विद्वानों के विचारों को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि सांस्कृतिक मान्यताप्राप्त विभिन्न पवित्र विश्वास ही धर्म है, जो मानव समाज को अपनी पूर्व पीढ़ियों से सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त होते हैं। उसी के आधार पर अपने जीवन-क्रम को निर्धारित करते हैं, आकस्मिक आपदाओं को सहन करने का संबल भी।[९०]

आंचलिक जीवन में धर्म आज परिवर्तन की प्रक्रिया में है। उनके दृष्टिकोण

में परिवर्तन के कारण हैं— विज्ञान, शिक्षा तथा परिवर्तित समाज-व्यवस्था। धर्म की केन्द्रीय सत्ता पर विज्ञान अधिकार करता जा रहा है। "कई धर्म धार्मिक कट्टरता की स्थिति में अब भी सकपका रहे हैं और कुछ इस कट्टरता को त्यागकर धर्म-निरपेक्षता की ओर अग्रसर हैं।"[६१] वस्तुतः इसे संक्रमण की स्थिति कह सकते हैं। डॉ० राधाकृष्णन ने ऐसी ही स्थिति के लिए कहा है—

"चारों ओर सब जगह हमें वस्तुओं के टूटने-फूटने और सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तनों की, प्रमुख विश्वासों और विचारों में, मानव-मन की आधारभूत श्रेणियों में परिवर्तन की आवाज सुनाई पड़ रही है।"[६२]

आंचलिक जीवन में प्रचलित ईश्वरवाद

दूसरी ओर उन्हें पूरा विश्वास है कि कोई अज्ञात, अनादि, अनन्त शक्ति सबका संचालन और नियमन कर रही है। ग्रामीण जनता के ईश्वर में अतिशय विश्वास को दर्शनशास्त्र की शब्दावली में 'ईश्वरवाद' की संज्ञा दिया जा सकता है। आंचलिक उपन्यासों में इसके विविध रूपों के दर्शन किये जा सकते हैं। 'माटी की महक' (सच्चिदानन्द धूमकेतु) में गोरी को संकट काल में ईश्वर पर विश्वास करने के लिए समझाया जाता है।[६३] मनोकामना पूर्ण होने पर जनता अपने अभीष्ट देवता की पूजा-वंदना करती है। बिहार अंचल के रामपुर ग्राम के मिसर जी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बाद सत्यदेव प्रभु की पूजा करते हैं—'दूसरे दिन मिसर जी के दरवाजे पर सत्यदेव प्रभु की पूजा शुरू हुई। इलाके से कीर्तन करने वाले आये। ओलापुर से नारदी गाने वाले, सूता पट्टी ने कृष्ण-सुदामा प्रसंग सुनाने वाले और छत्ताहाट से कटकीन राय की पार्टी को बुलाया गया। रात-दिन संकीर्तन होता रहा। गरी किसमिस मिलाया हुआ सूखा प्रसाद बाँटा गया। बाँटने वाले ने जी खोलकर प्रसाद बाँटा। खाने वालों ने अघाकर खाया।"[६४]

जलाभाव में वर्षा के लिए, तो जलाधिक्य में वर्षा बन्द करने की प्रार्थना की जाती है। वर्षा का होना न होना इन्द्रानुग्रह पर निर्भर समझा जाता है। सृष्टि के आदिकाल में भी भय, अज्ञान के कारण देवी-देवताओं की अधिकता थी। वहाँ अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी सबके लिए अलग-अलग देवता थे।[६५] बिहार के मेरीगंज ग्राम की जनता के वर्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में फणीश्वरनाथ रेणु का कहना है—

"हर साल बरसात के मौसम में यही होता है। भगवान के हाथ की बात इन्सान क्या जाने ? इन्द्र भगवान से प्रार्थना की जाती है—बरसाओ। हे इन्द्र महाराज ....जरा भी आसमान के किसी कोने मे काले बादलों का जमाव हुआ, बिजली चमकी कि 'बरसो' 'बरसो' की पुकार घर-घर से सुनाई पड़ती है, जमीन वालों, बेजमीनों, सबों की रोटी का प्रश्न है। और यदि लगातार पाँच दिनों तक घनघोर वर्षा हुई

और खेतों में आल डूबे कि '''''जरा एक सप्ताह सबूर करो महाराज।' ग्राम के तलमा टोला, पासवान टोला, धानुक-कुर्मी टोला तथा कोपरी टोला की औरतें हर साल ऐसे समय इन्द्र महाराज को रिझाने के लिए, बादल को बरसाने के लिए 'जाटजट्टिन' खेलती हैं।''[९६]

ईश्वरवाद के साथ बहुदेववाद

ईश्वरवाद की तरह 'बहुदेववाद' की प्रधानता है। ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ग्रामीण बहुत से देवी-देवताओं की उपासना करते हैं तथा उनकी पूजा करने वाले पण्डों, पुजारियों तथा साधुओं के प्रति श्रद्धा रखते हैं। 'मैला आँचल' में तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद काली थान के सामने आने पर श्रद्धापूर्वक सिर पर टोपी रखकर काली माँ को प्रणाम करते हैं।[९७] परानपुर गाँव की जनता परती भूमि पर निर्वलित परमा देवता की पूजा करती है क्योंकि परमादेव सभी की मनोकामना पूरी कर सकते हैं।[९८]'''बारह-बारह साल की काग बांमनों को बच्चा दिया है परमादेव ने। अब तो लोगों को किसी बात पर परतीत नहीं। बैजू की बहू को याद है, आँचल में केला और अमरूद गिरा। दूसरे दिन सुबह से ही उसको मिचली आने लगी, उल्टी होने लगी। गले हुए कोढ़ी करिया सासू को परमादेव के वाक ने आराम दिया।[९९] सम्पूर्ण परानपुर गाँव, परमादेवता की पूजा करता है।[१००]

'मैला आँचल' में भण्डारे से पहले काली थान की पूजा की जाती है।[१०१] कलीमुद्दीपुर में नागर नदी के किनारे चौरघट्टा के पास साहुड़ के पेड़ की डाली से लटकती हुई बावनदास की खद्दर की झोली के अवशेष लाल डोरी को कोई दुखिया वृद्धा चेपरिया पीर समझकर अपने आँचल का कोई खूंट फाड़कर बाँध देती है और पीर देवता से मनोकामना पूर्ण होने की आशा करने लगती है।[१०२] खेलावन सिंह यादव की पत्नी अपने बच्चे की मति सुधरवाने के लिए पीर बाबा से प्रार्थना करती है। रेणु का कथन इसकी पुष्टि करता है।

'खेलावन की स्त्री कहती है, जिन पीर बाबा के दरवा पर घर नहीं है, वहाँ एक झोपड़ी बनाने के लिए तीन साल से कह रही थी, आखिर नहीं बनवाए। काली थान की बात पर फुच्च हो गये, चौखड़ा घर बनवा दिया।''''''''दुहाई बाबा जिन पीर! भूल चूक माफ करे। मेरे बच्चे की मति फेर दो महातमा! सिरनी और बट्टी चढ़ाऊँगी, एक भर गाँजा दूँगी।'[१०३]

आस्तिकता बनाम धार्मिक आस्था

ग्रामीण जीवन में व्याप्त आस्तिकता का अर्थ धार्मिक आस्था से है। आस्था और क्रिया धर्म के मुख्य उपादान हैं। दोनों के समन्वय बिना धार्मिक साधना सम्भव नहीं। आस्थाहीन क्रिया बाह्याडम्बर और क्रियाहीन आस्था बुद्धि विलास कहलाता

है । गाँव के सामाजिक जीवन पर धर्म का गहन प्रभाव है । धर्म उनके व्यवस्थित जीवन का मार्ग प्रशस्त करता है तथा उनमें अलौकिक शक्ति के प्रति विश्वास जगाता है । उनके जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं, जो धर्म के रंग में रंगा न हो । उनका पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन सभी कुछ धार्मिक भावना से परिचालित होता है । उनके मनोरंजन के साधन भी धार्मिक भावना से जुड़े हैं । परन्तु युगानुरूप प.रवर्तन की लहर गाँवों में भी पहुँची है । फलतः धार्मिक आस्तिकता का सुरक्षित रहना सम्भव नहीं रह गया है । 'रतिनाथ की चाची' का रतिनाथ मजदूर कुल्ली राउत के साथ जाते समय मार्ग में पड़े तालाब में बड़ी फुर्ती से संध्याकर्म करता है । तेजी से किये इस सांध्यकर्म पर कुल्ली राउत सोचता है और आखिर रतिनाथ से कह ही देता है—'तुम तो नील माधव के वंशधर हो, तुम्हें इतनी जल्दी नहीं करनी चाहिए ।'[१०४] इसके प्रत्युत्तर में रतिनाथ का कथन है—'अरे यहाँ कौन देखता है ? देखना चलकर तरकुलन में, घण्टा भर नाक न दबाये रहा, तो जो कहो ।'[१०५] एक ही जगह दो चिन्तन धाराओं के दर्शन होते हैं—एक आस्थावादी दूसरा आडम्बर-प्रिय ।

धार्मिक भावना का ह्रास और अनैतिकता का बोलबाला

मठ और मन्दिरों में भी अनैतिकता का बोलबाला हो गया है । मेरीगंज स्थित मठ इसका उदाहरण है । महन्त सेवादास अन्धा होकर भी रखेलिन रखता है । बगैर लक्ष्मी उसका निर्वाह नहीं । मुजफ्फरपुर के पुपड़ी मठ से आये साधु लरसिंघदास की हालत ही और है । सारी रात लक्ष्मी को पाने की फिराक में रहता है । अतः उसके स्नान करते समय उसे बाँस की टट्टी में छेदकर देखता है । उसके प्रति घृणा और आक्रोश से भरा लक्ष्मी का वक्तव्य ध्यातव्य है—

'रामदास !' लक्ष्मी गरज उठती है, 'गरदनियाँ देकर निकाल दें इसको । यह साधू नहीं राक्षस है । इसके सिर पर माया सवार है । इससे पूछो आज सबेरे जब मैं स्नान कर रही थी तो बाँस की टट्टी में छेदकर के यह क्या देखता था ? सैतान !''[१०६] फरेबी लरसिंघदास महन्ती सँभालने का गठबन्धन बड़ी चतुरता से कर लेता है ।

ईश्वर पूजा का स्थान मठ गन्दगी का नरक बन गया है । रामदास भी कम नहीं है । उसने अपनी वासना पूर्ति के लिए रमपियरिया को रख लिया । गाँजा पीकर खूब उसकी मिट्टी खराब करता है । मारपीट करता है । ''साला इन्हीं लोगों के पाप से धरती दलमला रही है···भरस्ट कर दिया । अब वह मठ है ? लाल बाग मेला की मीनाबाजार हो गया है । दस-दस कोस का लुच्चा-लफंगा सब आकर जमा होता है ।''[१०७] जहाँ रामदास महन्थ ऐसे गुरु और साधु होंगे, उस गाँव का क्या होगा, यह सोचा जा सकता है । ईश्वरीय आस्था और आस्तिकता पर बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लग गया है ।

'लोक परलोक' (उदयशंकर भट्ट) के पद्मपुरी तीर्थग्राम में स्वरूपानन्द अपने चारों ओर राम-नाम की बाड़ी लगाकर व्यभिचार में आकंठ डूबे रहते हैं;[१०८] तो 'माटी की महक' (सच्चिदानंद धूमकेतु) के रामपुर गाँव के मठ के महंत भी आध्यात्मिक चेतना के स्थान पर यौन चेतना को बढ़ावा देते हैं। इंजोरिया महंथ और मुखिया की हवस की शिकार राधाकृष्ण कक्ष में बंदकर होती हैं। मठ से उसे इसी शर्त पर छोड़ा जाता है कि वह स्वेच्छा से महंथ की दासी बनना स्वीकार कर लेगी। लेकिन पंचायत में वह असलियत प्रकट कर देती है। "मुझे बचाओ इस पापी ने मेरा सत्यानाश कर दिया है। मैं कहीं की नहीं रही। मैं भाग भी नहीं सकती थी। दिन-रात अँधेरी कोठरी में बंद रखता था।"[१०९] ये मठ, ये मंदिर कितने दुराचारी और कुमार्गी हो गए हैं वह इससे स्पष्ट है।

कर्मकांडों की व्यर्थता जानकर भी उसे जीवन का अभिन्न अंग स्वीकार कर लिया गया है। स्त्रियों की आस्तिकता की भावना ने इसे बल दिया है। मन्ने एक ओर उसकी व्यर्थता तो दूसरी ओर उसकी अपरिवर्तनशीलता पर सटीक टिप्पणी करता है—"बाबा आदम के जमाने से अब तक भले ही उसके कर्मकांडों का जीवन में कोई उपयोग नहीं, उनसे कुछ बनता, बिगड़ता न हो। वह सब वैसे ही चलता रहता है जैसे सुबह होने पर सूरज उगता है जैसे उसमें कोई परिवर्तन होने ही वाला नहीं।"[११०]

वास्तव में मठ मंदिर, धार्मिक बाह्याचारों के अड्डे बन गए हैं, जहाँ खुले आम धर्म की ओट में नंगई होती है। गाँजा फुँकता है। शराब भी चलती है। गुरु नागा बाबा के शब्दों में (दासिन के प्रति गालियों की बौछार) उनकी कामजन्य निराशा की स्पष्ट अभिव्यक्ति है—

"......हरामजादी किवाड़ बंद करके सोती है। यहाँ कौन सोया है? वही पिल्ला रामदसवा! " अरे उठ तेरी जात को मच्छर काटे। दासिन को जगा। बाबा का गाँजा भरकर सेज पर सोई है। कहाँ है मेरा गाँजा? जानता नहीं तीनभर रोज की खुराक है। कहाँ?"[१११]

भूत-प्रेत की कल्पना एवं अन्य ग्रामीण अंधविश्वास

भारतीय ग्राम चेतना अपनी प्रकृति और परिवेश में अज्ञानजनित भूतप्रेत की कल्पना से युक्त है। 'रतिनाथ की चाची' में शंकर रतिनाथ के साथ बैलगाड़ी तक में नहीं बैठते और गाड़ी के साथ-साथ पैदल चलते हैं। कारण पूछने पर उसका पोगापंथी रूप उभर आता है, परम्पराओं के प्रति पूर्वाग्रह भी—"बच्चा अब कोई इन बातों का विचार नहीं करता। बैल ठहरे शिवजी के वाहन। इनके चारों पैर धर्म के हीं चार चरण। इसीलिए ब्राह्मण न हल जोतते हैं, न गाड़ी चलाते हैं, चढ़ना भी मना है।"[११२]

'मैला आंचल' का कथा-क्षेत्र मेरीगंज भूत-प्रेत सम्बन्धी कल्पनाओं एवं आधारहीन अंध-विश्वासों में फँसा हुआ है। इसके कारण कई चित्र बड़े बढ़िया बन पड़े हैं। मलेरिया और कालाजार से ग्रस्त इस इलाके के लोग इतने अंध-विश्वासी हैं कि गाँव में अस्पताल का खुलना, मलेरिया सेंटर का खुलना ऐसे ग्राम-कल्याणकारी कार्यों को भी विपत्ति सूचक मानते हैं। गाँव-का-गाँव अपनी सामूहिकता गँवा टोली में बँट गया है। ब्राह्मण टोली को जोतखी जी यहाँ तक कह डालते हैं—"डाक्टर लोग रोग फैलाते हैं, सूई भोंककर देह में जहर देते हैं, आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है, हैजा के समय कूपों में दवा डाल देते हैं। गाँव का गाँव हैजा से समाप्त हो जाता है ····पूरब मुलुक कामरूप, कमिच्छा, आसाम से काला बुखार वालों का लहू शीशी में बंद करके यही लोग ले आए थे। आजकल घर-घर में काला बुखार फैल गया है। इसके अलावा विलायती दवा में गाय का खून मिला रहता है।"[१३]

'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'सूरज किरन की छाँव', 'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी) के कथाक्षेत्र एक ही प्रांत के विभिन्न भाग हैं। समस्त प्रांत की ग्रामीण चेतना में अंध-विश्वास घुन की तरह लगे हैं। उनकी समस्त चिंतन शक्ति अंध-विश्वासों से परिचालित होती है। अज्ञान, अशिक्षा का परिणाम है यह सब। उनका विश्वास है कि जंगली देवी-देवता ही आपदाएँ लाते हैं। वही बीमारियाँ फैलाते हैं, वे ही निवारक भी हैं। 'जंगल के फूल' में एक अंग्रेज अफसर पर भी चुड़ैल का प्रभाव हो जाता है और बड़ी मुश्किल से उसकी जान बचती है। गाँव का मुखिया नारायणदेव की महत्ता बताता हुआ कहता है—'सारे भूत-प्रेतों का वह मालिक है। चुड़ैल इसके इशारे पर नाचती है।'[१४]

'जल टूटता हुआ' में बनवारी बाबा साँप को भूत-प्रेत का रूप कहते हैं और बार-बार झाड़ा लगाते हुए मंत्रोच्चार करते हैं—

"इन्द्र राजा चले बियाहन
बान्हें कंकण बान्हें के·······
नेउरा कहे मोर नेउरी देखा दे
हत्त हिरिया जिरिया बंगालिनि
राजा जनमेजय———·······।"[१५]

नागार्जुन 'बलचनमा' में भूत झाड़ने की पद्धति का वर्णन करते हैं—"चूहे के बिल की मिट्टी पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके-चार बूंद गंगाजल, पीपल के सूखे पत्ते इतनी चीज मिलाकर ठाकुर भूत झाड़ना शुरू करते हैं।······ओ३म् काली महाकाली, इन्द्र की बेटी, ब्रह्मा की शाली फू······इतना कहकर कुछ देर तक होंठ पटपटाते हैं और फिर खवासिन की छाती पर फूंक मारते हैं।"[१६]

वैज्ञानिक उन्मेष और अंध-विश्वास

डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार नेता मोतीलाल का यह कथन गाँव के विषय में एक प्रमाण माना जा सकता है — 'ये सब बेवकूफियाँ अभी गाँव से गई नहीं। लोग आज भी पुराने अंध-विश्वासों के गुलाम बने हुए हैं।'[११७] गाँव के विषय में शंकर की भविष्यवाणी सत्य ही है--"क्या होगा इस गाँव का, जहाँ जड़ता इतनी कि बेवकूफ आदमी भी खोखा ओझा बनकर ठग ले और जहाँ चालाकी इतनी कि हर आदमी अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को बेच खाए।"[११८]

वैज्ञानिक उन्मेष ने धर्म, विश्वास सम्बन्धी धारणाओं की नींव हिला दी है। प्राचीन आस्थाएँ टूटी हैं। इसके कारण खोखा पंडित की आमदनी पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है—'अब तो खैर सर्धा विश्वास कम हो गया, पहले मगर भागवत से काफी आमदनी थी।'[११९] 'माटी की महँक' के मुखर्जी बाबू युग के परिवर्तनगामी बढ़ते चरणों से दुःखी हैं। पुरानी परम्पराओं से प्रतिबद्ध होने के कारण उन्हें हर नई वस्तु व्यर्थ की दृष्टिगत होती है। ठाकुर दे और गौरी को बातों-बातों में कहते हैं—"आज के जमाने में धर्म-कर्म सभी उठता जा रहा है। ईश्वर का नाम नहीं लेने में मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा समझ रहे हैं। भगवान के भक्तों को लोग ओछी निगाहों से देखते हैं।...... पश्चिमी सभ्यता के चक्कर में लोग जातधर्म सभी भूलते जा रहे हैं।"[१२०]

वैज्ञानिकता से उत्पन्न आधुनिकता ने ग्राम-चेतना को नए संदर्भ दिए हैं। कृषि, संचार साधन आदि के विकास ने उनकी चेतना में बहु-आयामी जागृति लाई है। इसी के कारण धार्मिक कृत्यों और परम्पराओं का अवमूल्यन हुआ है। इसका प्रभाव मैला आंचल, परती परिकथा, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन, सत्ती मैया का चौरा, पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ, राग दरबारी आदि में देखा जा सकता है। यह ग्रामचेतना के जागरण का प्रारम्भ कहा जा सकता है और उनके भव्य भविष्य का संकेतक भी।

बोली

किसी अंचल का विशिष्ट स्वरूप उसकी स्थानीय रंगतों से उभरता है। इन स्थानीय रंगतों के कारण एक अंचल दूसरे अंचल से भिन्न और अलग दिखाई देता है। अंचल विशेष की स्थानीय रंगत को उभारने के लिए आंचलिक उपन्यासकार जिन लोकतत्वों का विपुलता के साथ प्रयोग करता है, उनमें लोक-भाषा, बोलियों, उप-बोलियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है।[१२१] लोक-कहावतें, लोकगीत, लोक-मुहावरे, लोक-कथाएँ, लोक-शब्द तथा परिनिष्ठित भाषा के लोकोच्चरित, बिगड़े रूप आदि मिलकर इस लोक भाषा का निर्माण करते हैं। यह लोकभाषा आंचलिक उपन्यासों की

सर्जनात्मक अनिवार्यता का अपरिहार्य तत्व होती है । इसके अभाव में अंचल विशेष का यथार्थ परिवेश तथा वहाँ के जनजीवन की आंतरिक संवेगात्मक एवं संवेदनात्मक तस्वीर अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ उभारी नहीं जा सकती ।[१२२]

बोली से विशिष्टता की पहचान

आंचलिक जीवन के विविध संदर्भों से जुड़े पात्र आपसी संवादों में उस स्थान की बोली के विशिष्ट मुहावरों में अपने को सही ढंग से अभिव्यक्त कर अपनी विशिष्ट पहचान कायम रख सकते हैं । अगर वे दूसरी बोली में बोलें, तो अभिव्यक्ति में कृत्रिमता आएगी । उनके व्यक्तित्व की वह विशिष्टता भी नष्ट हो जाएगी, क्योंकि उनकी अपनी बोली में ही उनकी आदिम लालसाएँ, आंतरिक प्रेम, घृणा और द्वेष के संवेग तथा दैनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की सहज-सुगम अभिव्यक्ति हो सकती है ।[१२३]

फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आँचल' और ''परती परिकथा' में आंचलिक शिल्प के क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित किया है । उसका मुख्याकर्षण है उस अंचल विशेष की बोली । दो ग्रामीण स्त्रियों (फुलिया की माँ और रामजू की स्त्री) के बीच झगड़ा हो रहा है—

'अरे, हाँ-हाँ, बेटा-बेटी के करो, घी ढारी करे मंगरो ! चलनी कहे सूई से कि तेरी पेंदी में छेद । हाथ में कंगना तो चमका रही हो, खलासी को एक पुरिया सिंदूर नहीं जुटता है ।''

''मुँह सँभालकर बात कर नेंगड़ी । बात बिगड़ जाएगी । खलासी हमारा बहन-बेटा है । बहन-बेटा लगाकर गाली देती हो ? गाली हमारी देह में नहीं लगेगी । तेरे देह में तो लगी हुई है । अपने खास भतीजा तेतरा के साथ भागी तू और गाली देती तो हमको ? सरम नहीं आती तुझको । बेसरमी, बेलज्जी ! भरी पंचायत में जो पीठ पर झाड़ू की मार खाई थी सो भूल गई ? गुअर टोली में कलरू के साथ रातभर भैंस पर रसलील्ला करती थी सो कौन नहीं जानता है ? तू बात करेगी हमसे ?''

''रे सिंधवा की रखेली । सिंधवा के बगान का बम्बै आम का स्वाद भूल गई ? तरबन्ना में रात-रात भर लुका-चोरी में ही खेलती थी रे ! कुरअंरवा बच्चा हुआ था तो कुरअंरवा सिंधवा से मुँह-दिखौनी में बाछी मिली थीं, सो कौन नहीं जानता ?''[१२४]

इस छोटे से संवाद में ही लोकभाषा की जीवंतता प्रमाणित हो जाती है । इसमें स्थानीय भाषा के शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा गालियाँ भी आ गई हैं, पर यह भाषा न तो साहित्यिक हिंदी से दूर है, न इसमें किसी प्रकार की दुर्बोधता है । भावाभिव्यक्ति मे यह इतनी सशक्त इसलिए हो पाई है कि इसमें स्थानीय बोली का पुट

स्पष्ट है। पूर्णिया शहर के वर्णन में वहाँ की बोली कैसा चमत्कार ला देती है--'सहर पुरैनियाँ।...यही है सहर पुरैनियाँ--पक्की सड़क, हवागाड़ी घोड़ागाड़ी और पक्का मकान।.....'एक रत्ती चिनगी चिनग जाये, सहर पुरैनियाँ लूटल जाये? क्या है बोलो तो?'.....आग।'...गाँव के बच्चे आज भी बुझौवल-बुझाते समय शहर पुरैनियाँ का नाम लेते हैं। मेरीगंज के इस जुलूस में चार आदमी ऐसे भी हैं जो शहर पुरैनियाँ पहले भी आए हैं। बहुत से तो आज ही पहली बार रेलगाड़ी पर चढ़े हैं। कलेजा धकधक करता है। जिसके हाथ में गन्ही महातमा का झंडा रहता है, उसे गाट बाबू, चिकिहर बाबू टिकट नहीं माँगता है।......सचमुच में रेलगाड़ी, 'जै-जै काली छै छै पैसा' कहते हुए दौड़ती है। × × × × यह है इसपिताल। अपने गाँव का इसपिताल तो इसके सामने बुतरु है।''[१२५]

देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि पूर्णियाँ शहर का यह परिचय कोई ग्रामीण पात्र दे रहा है, पर स्वयं उपन्यासकार द्वारा दिया गया यह परिचय है। इसकी भाषा में आंचलिक बोली (टिकस, गन्ही महत्तमा, गाट बाबू, चिकिहर बाबू, पुरैनियाँ सहर) के प्रयोग से स्थानीय रंग उभरा है, प्रभावोत्पादकता भी बढ़ गई है।

स्थानीय बोली से उत्पन्न चित्रात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता

आंचलिकता के प्रभाव तथा वहाँ की बोली के प्रयोग के कारण-वर्णन में कितनी चित्रात्मकता एवं ध्वन्यात्मक क्षमता है। 'परती परिकथा' में 'सुन्नरि नैका', 'शामा चकेवा' और 'दंता राकस' वाली लोककथाओं में आंचलिक बोली का रूप देखते ही बनता है—

''और एक सहस्र राकस धरती पर दाँत मारते हैं- खच्चाक।
ढाक्....ढक्कर.. ढाक...ढक्कर...
कोड़ भैर्रा-र्रा...आ-हे। फोड़ भैर्रा-आ-हे।
भरी राती में खोदाय, पनिया छह-छह छहाय
नदिया देवो बह।य-य-य
हेय आँख मारे।
होय दांत मारे।
होय दांत मारे—रे—ए—ए... खच्चाक
खट्टक! ढाक्... ढाक ढक्कर...
कुंह कुं क्कां, कुंह कुं क्कां।''[१२६]

इन चंद पंक्तियों में ही रेणु की भाषा की सारी रूपायण शक्ति प्रकट हो गई है चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता। ये चित्र एक साथ ही ध्वनि, गति, प्रक्रिया और समय व्यतीत के भाव को प्रकट कर पूरे प्रभाव को अंकित कर देते हैं। केवल बोलियों और

लोकगीतों के शब्दों से ही नहीं निरर्थक सी लगने वाली वाद्य-ध्वनियों और पशु-पक्षियों की बोलियों से भी गहरे अर्थ-संकेत ग्रहण करने की क्षमता रेणु में है। कालीचरण के अखाड़े में कुश्ती के समय ढोलकिया ढोल की ध्वनियों से ही कुश्ती का निर्देशन कर देता है।

"ढिन्ना ढिन्ना ढिन्ना ढिन्ना।..."

आजा आजा आजा आजा।

सभी अखाड़े में आए। काछी और जांघिया चढ़ाया, एक मुट्ठी मिट्टी लेकर सिर में लगाई और 'अज्जा' कहकर मैदान में उतर पड़े।" तब शोभन ताल बदल देता है।

"चटधा गिड़धा, चटधा गिड़धा"

—आजा भिड़जा, आजा भिड़ जा।

अखाड़े में पहलवान पैंतरे बदलते हैं। कोई किसी को अपना हाथ भी छूने नहीं देता। पहली पकड़ की ताक में है। वह पकड़ा...

"धागि ड़ागि, धागि ड़ागि, धागिड़ागि......"

—कसकर पकड़ो, कसकर पकड़ो।

"चटाक चटधा, चटाक् चटधा...."

उठा पटक दे उठा पटक दे।

"गिड़गिड़ गिड़ धा गिड़ गिड़ गिड़ धा...."

—वाह वा, वाह वा, वाह बहादुर।"[१२७]

इसमें ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक सौन्दर्य ही नहीं, नाटकीयता, वक्रता और सांकेतिकता भी हैं। रेणु के भीतर का सर्जक कलाकार इतना अधिक संवेदनशील है कि वह किसी पात्र के रोने-हँसने, छींकने, तुतलाने, नाक बजाने आदि की सूचना देकर ही संतुष्ट नहीं होता, बल्कि ध्वनियों का पूरा प्रक्रियात्मक चित्र देना चाहता है।[१२८] यही कारण है ट्रैक्टर, बुलडोजर, साइकिल की घंटी, मिल का भोंपू, कुत्ते का भौंकना आदि अपने यथार्थ ध्वनि चित्रों के साथ इनके उपन्यासों में वर्तमान हैं। वे शब्द से ध्वनि पकड़ते हैं और ध्वनि से बिंबों का निर्माण कर अंचल-जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को रूपायित करते हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह कहना उचित है—"रेणु के पास तो ध्वनि यंत्र हैं, जिनके माध्यम से उन्होंने इस अंचल की गायों की आवाज, पेड़ पत्तों के हिलने की ध्वनि, नाक सड़कने और छींकने की आवाजें, हँसुलियों और झांझनों के बजने, कंगनों की खनक तक मूर्त कर दी है।"[१२९]

बोली और आंचलिकता

आंचलिक उपन्यासों की यह विशेषता है कि बिना स्थानीय बोली का रंग दिए आंचलिकता का सच्चा स्वरूप निखरता ही नहीं है। 'आधा गाँव' में भी बोली का उदाहरण देखा जा सकता है। पाकिस्तान निर्माण के समय मुस्लिम धर्म की सुरक्षा के ठेकेदारों के प्रचार-प्रसार के होते हुए भी भारतीय आम मुसलमान पाकिस्तान से आकर्षित नहीं हुआ था। पाकिस्तान के जन्म के समय गंगोली गाँव के एक मुसलमान की प्रतिक्रिया में स्थानीय बोली का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—

"हम कौनो महापुरुष ना हई, किसान हई। हम आकिस्तान पाकिस्तान ना जानीला। खेत-बाड़ी की बात समझी ला। त हम तई देखत बाड़ीं कि बारिखपुर के ठाकुरो साहिब जुलुम करे ये गंगोली के मियाँ लोगन से कम ना हौवन। कहीं तो लिटा दिहल जाय ठाकुर साहिब के। ऊहो मुसलमान जनात बाँडा।"[१३०]

लोकवार्ता शैली के अंतर्गत बोली में अति यथार्थता के दर्शन हो जाते हैं। कुछ अश्लीलता और गाली लिए हुए आंतरिक विस्फोट का भी—

'छोड़ दीजिए बाबू साले को' बूढ़े नट ने हाथ जोड़कर देवपाल से कहा—"साला घमंडी।·· मादरचो ने बकरी का मूत पिया था।[१३१] 'हौलदार' में डूंगर सिंह के कथन में भी बोली का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—'गाँधी महाराजा की लाम जब से बनी सिपाहियों की फुड़फुड़ाहट जैसी हो गयी, सैप। मर जाये-लाठी चलाने, बंदूक चलाने की टरेनिंग एक, टैम एक हो गया। अरे भला बन्दूक की सात जात की मशीनरी जब इस लाम के हफसर ही नहीं समझते, तब सिपाहियों को क्या समझाएँगे ?···और, चाँदमारी की फैर करने की कही, तो लगा आसन पड़ोसी थाल छोड़ के दौड़ो।····यहाँ तो बस सिपाही की छठी हुई नहीं कि कुकमारच, डबल मारच और चाँदमारी की फैर···अरे ऐसी हांकाहांक तो जर्मनी-जपैन की लड़ाई के बखत भी नहीं हुई होगी ?······'[१३२]

'सागर लहरें और मनुष्य' के एक वार्तालाप में स्थानीय बोली का रंग देखते ही बनता है—

"किदर जायेंगा ?"

"जहाँ सींग समायेंगा, दो बार बात मिलेगा, जागला।"

"भगा।"

"माँ बोलताय महीम वाला कूकरा उदर ई जायेंगा, आउर क्या मारेगा तो दो मुट्ठी बात तो देयेंगा। पेट तो बूका नहीं रेंगा।"

"बारसोवा पसंद नई काय ?"

"पसंद काय नई पन काम बी तो होय जागना। बर्लीकर, इसकी सर्वनास होंय दो का दियाय।"[१३३]

शब्दों के उच्चारण और रूप में ही वरसोवा की बोली का प्रभाव नहीं है, क्रियाओं के रूप तथा वाक्य-रचना में भी अपनी खास विशेषता है। किदर (किधर), मग (मगर), कू (को), ई (हो), दो (तो), रैंगा (रहेगा), बी (भी), काय (क्यों) आदि विशिष्ट शब्द नहीं हैं, उनका रूप ही बोली के कारण बदल गया है।

भोजपुरी, मैथिली ('मैला आंचल', 'परती-परिकथा)' अवधी, कुमायूंनी, ब्रजी, गोंड तथा भीलों की बोलियों और बरसोवा के मछुओं की विशिष्ट बोली (सागर लहरें और मनुष्य), कुल्लू घाटी की बोली (आदित्यनाथ), मणिपुरी भाषा (मुक्तावती) एवं असमिया भाषा (ब्रह्मपुत्र) आदि के प्रभाव से आंचलिकता का रंग स्पष्ट होता ही है, पात्रों की शैली अलग-अलग स्वरूप धारण कर लेती है।

बोली के सम्बन्ध में डॉ० त्रिभुवन सिंह का कहना है—"बोली को विश्वसनीय ढङ्ग से उसी प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, जिस रूप में कि वह अंचलों में बोली जाती हो। पर उपन्यासकार के लिए यह तभी संभव है जब वह बोली साहित्यिक अथवा परिनिष्ठित भाषा से बहुत अपरिचित न हो और आसानी से समझी जा सके।"[१३४] आंचलिक उपन्यासों में (विशेषकर रेणु के उपन्यास) बोली के प्रयोग में अनुवाद करने तथा समझने में कठिनाई आदि की कोई ऐसी गंभीर समस्या नहीं है।

रीति-रिवाज

रीति-रिवाज चिंतन या व्यवहार का ऐसा मानक या प्रतिमान है, जो किसी समाज में चिरकाल तक प्रचलित रहने के कारण सामाजिक व्यवहार का सामान्य अंग बन गया है। आंचलिक उपन्यासों में वार्षिक पर्व-त्यौहारों का सीधा सम्बन्ध उनके रीति-रिवाज से है। वर्षों से रीति चली आ रही है सामा चकेवा पर्व मनाने की। इसी दिन मछली के शिकार का सामूहिक प्रारम्भ होता है। 'परती परिकथा' में बिहार के परानपुर गाँव की कुमारी लड़कियाँ, व्याही, बेटा-बेटी वाली अधेड़, बूढ़ी सब मिलकर शामा चकेवा का त्योहार मनाती हैं। त्योहार में बनाती हैं मिट्टी का शामा, मिट्टी का चकेवा, छोटे-छोटे दर्जनों किस्म के पंछियों के पुतले। इसके बाद लिपे-पुते सफेद पुतलों पर, पुतलों की आँखों पर, अंगों पर तरह-तरह के रंग-टीप, फूल-पत्ती। लाल, हरे, नीले, पीले, बैंगनी सुगापंखी, नीलकंठी। पुतले व्याही बहनें बना देतीं। बुढ़िया रंग-टीपकारी आदि कर देती है।[१३५] इस अवसर पर ताजमनी द्वारा आरंभ किया गया गीत सब महिलाएँ साथ-साथ गाती हैं—

'आँ-रे, मानसा-सरो-ओ-बरा के झलमल पनियाँ—याँ,
खचमच मोतिया भं-डा-आ-र—
काहे छाड़ि आयला हंसा रे-ए-ए मिरतू भवनियाँ-याँ-याँ,
बिनरावन करि पा-आ-आ-र
.........................'[१३६]

मिथा पर्व मनाने का रिवाज भी बिहार अंचल में है । इसके अतिरिक्त होली का उत्सव सभी जनपदों में (मनाने के ढङ्ग में किंचित परिवर्तन के साथ) मनाया जाता है । 'मैला आंचल' में ग्रामीण जनता होली पर्व मनाती है । महिलाएँ फाग गीत गाती है—

'नयना मिलानी करी ले रे सैयाँ, नयना मिलानी करी ले ।
अबकी बेरहम नैहर रैहबो, जो दिल चाहे से करी ले ।

× × ×

अरे बहियाँ पकड़ि झकझोरे श्याम रे
फूटल रेसम जोड़ी चूड़ी'[१३७]

रीति-रिवाज और आंचलिकता

कुछ सामाजिक रीति-रिवाज वहाँ की आंचलिकता के निरूपण में सहायक होते हैं । बच्चे के नामकरण के समय पिता पगड़ी बाँधकर हल्दी-पुते चौक पर बैठता है ।[१३८] शादी के समय जाते हुए वर्ग के हाथ में रुमाल अथवा आइना रहता है । कुमाऊँ में अधिकांश कन्याएँ वास्तव में कन्या के रूप में ही व्याही जाती हैं—कारण, रजस्वला लड़की व्यभिचारिणी मानी जाती है । रजोधर्म-संपृक्त कन्या के दान से पिता नरकगामी होता है।[१३९] चैत के महीने में विवाहिता पुत्री को मिठौली भेजने की प्रथा है ।

रीति-रिवाज से उत्पन्न आर्थिक विपन्नता

कुछ रीति-रिवाजों के कारण आर्थिक विपन्नता भी आई है । ब्राह्मणों में (विशेषकर कुलीन ब्राह्मणों में) दरिद्रता अपनी चरमसीमा पर है । कारण है बिकौआ का रिवाज । कन्याओं को अपने से उच्चकुल में दान करने की ब्राह्मणों की सनक ने बिकौआ प्रथा को जन्म दिया । फलतः उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मणों को अनेक पत्नियाँ मिलने लगीं । इसका परिणाम हुआ उन स्त्रियों का असुरक्षित एवं अनैतिक जीवन । डॉ० भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास 'नदी नहीं मुड़ती' में अवैध यौन सम्बन्धों से उत्पन्न गर्भ को वैध ठहराने के उपायों का हृदयद्रावक वर्णन है । फलतः सभी ऐसी बिकी लड़कियों के प्रेम सम्बन्ध हैं— दम्मा फूफी, शकुन्तला, जनक-किशोरी ।[१४०]

'बलचनमा' में मालकिन की खवासिन का सम्बन्ध अपने मालिक से था । उस पर भी उसमें वासना की तीव्र आग थी—"जिस आबोहवा में पल-पुसकर वह बड़ी हुई थी, उसमें कई हाथों की फेरी रही होगी ।"

जब वासना की चुड़ैल चढ़ती तब वह काँचा खोलकर नंगी हो जाती और हाय बाय, हाय बाय करती हुई जीभ निकालती…ही ही ही ही मैं काली हूँ…खा जाऊँगी समूचा गाँव ।"[१४१]

'कब तक पुकारूँ' की सम्पूर्ण कथा में ऐसे रीति-रिवाजों, प्रथाओं और अंध-विश्वासों का प्राधान्य है, जो करनट जन-जाति की विशेषताओं को समग्रता में उभारता है। मरघट का जगाना, बलि देना, मद्यपान, नटराज को अवतार की पदवी देना, साँप का बिष उतारना, बहुपत्नी प्रथा, स्त्री का स्वच्छंद यौन सम्बन्ध, ठकुरानी के पुनर्जन्म की कल्पना आदि उल्लेखनीय हैं।

रीति-रिवाज और अंधविश्वास

रीति-रिवाजों का ही कुपरिणाम है अंध-विश्वास के कुचक्र में पड़े रहना। गोड़ियर और नोबीनगर नामक दोनों ग्रामों के वासी प्राचीन अंध-विश्वासों से बँधे हुए काठ के पुतले हैं। सभी घटनाओं का कारण वे काली कलकत्ते वाली का क्रोध मानते हैं। जयराम सोचता है कि यदि मंत्रों में महिमा न होती तो 'अररिया कोर्ट की सभा में मंत्री जी लाल मूंगों वाले गोल, चपटे चौड़े ताबीज लटकाकर क्यों आते ?'[१४२] बाँध का उद्घाटन करते हुए काशी और पटना के पंडित कलश सजाकर आरती क्यों उतारते ? अवश्य यह सब कुछ मन्त्रों के बल पर होता है यहाँ तक कि गाँव में बाढ़ आने पर वे इसे ईश्वर कोप का परिणाम समझते हैं।

उत्तर प्रदेश के कछार अंचल की पृष्ठभूमि पर विरचित 'जल टूटता हुआ' में नागपंचमी का पर्व मनाने का रिवाज हैं। गीता अपने सुरीले कंठ से गाती है—

'हरि हरि पवन बहे पुरवइया नदिया डोले ए हरी।
जुलमी बदरा घिरि-घिरि आवे
पापी तड़पि तड़पि डरवावे
हरि हरि पिया पिया पपिहरवा
बनवाँ डोले ए हरी।'[१४५]

उधर वर्षा न होने पर इन्द्र को रिझाने के लिए जाट-जट्टिन का खेल खेलने का रिवाज। उनका विश्वास है इस खेल से इंद्र महाराज अवश्य प्रसन्न होंगे और मूसलधार वर्षा होगी। महिलाएँ खेल खेलती हुई गाती हैं—

'सुनरी हमर जटिनियाँ हो बाबू जी,
पातरी बाँस के छोंकनियाँ हो बाबू जी,
गोरी हमार जाटिनियाँ हो बाबू जी,
चाँदनी रात के इजोरिया हो बाबू जी,
नान्हीं-नान्हीं दतँवा पातल ठोरवा…
छटके जैसन बिजलिया……….।'[१४४]

वर्षारंभ होते ही बारहमासा की तान छिड़ जाती है—

'एहि प्रीति कारन सेत बाँधल,

सिया उदेस सिया राम है ।

सावन है सखी, सबद सुहावन,

रिमझिम बरसत मेघ है ।''[१४५]

'मैला आंचल' के मेरीगंज मठ के सम्पूर्ण वातावरण (यद्यपि अनैतिकता और व्यभिचार से भरा है) में पवित्रता एवं आध्यात्मिकता की प्रतीति के पीछे उनके रीति-रिवाज ही हैं । मठ के महंत, लाख पाप पंक में डूबे हों, संपूर्ण ग्राम की श्रद्धा के पात्र हैं । माघ के ठिठुरते हुए भोर में प्रातकी गाते हैं—

'जागहु सतगुरु साहेब, सेवक तुम्हारे दरस को आयाजी

जागहु सतगुरु साहेब…।

…डिम डिमिक डिमिक, डिम डिमिक डिमिक ।

भोर भयो भव भरम भयानक भानु देखकर भागा जी,

ज्ञान नैन साहब के खुल गये, थरथर काँपत माया जी ।

जागहु सतगुरु साहेब……।'[१४६]

रीति-रिवाज और लोक संस्कृति

अन्य आंचलिक उपन्यासों की अपेक्षा रेणु के आंचलिक उपन्यासों में लोक संस्कृति को उद्घाटित करने के लिए लोक उपादानों (रीति-रिवाज उसी में समाहित है) का अधिक प्रयोग हुआ है । लोककथा के रूप में 'रानी डूबी' और 'कोहबर रांडी की कथाएँ'[१४७] लोकगीत कथाओं के रूप में—सुन्नरि की गीत-कथा,[१४८] लोकगीत—पहाड़ी लोकगीत, बरसाती लोकगीत[१४६] आदि, लोक पहेलियाँ, लोक कहावतें तथा लोकभाषा के शब्द तथा मुहावरे इस उपन्यास ('परती-परिकथा') के पृष्ठ-पृष्ठ पर देखे जा सकते हैं ।[१५०]

गाँव की सामाजिकता एवं सामूहिकता में ह्रास आ रहा है। इससे रीति-रिवाजों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है—'पिछले डेढ़ साल से गाँव में न कोई पर्व धूम-धाम से मनाया गया है न किसी त्योहार में बाजे बजे हैं…लड़के-लड़कियों के ब्याह रुके हुए हैं…गीत के नाम पर किसी के पास एक शब्द भी नहीं रह गया है मानो ।'[१५१] परन्तु अनास्था, टूटन और घुटन के वातावरण में भी विश्वास निर्माण और आशा का हल्का सा प्रकाश दिखाई दे रहा है । कारण गाँवों का नव-निर्माण हो रहा है ।

अर्थ-व्यवस्था

अर्थव्यवस्था किसी भी समाज की रीढ़ है । उसका अध्ययन समाज को जानने के लिए अनिवार्य है । रेणु का 'मैला आंचल' तो एक तरह से सम्पूर्ण आंचलिक समस्याओं का जीता-जागता चहचहाता चिड़ियाघर है ।[१५२] आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक और

राजनीतिक—हर तरह की समस्याओं से ग्रस्त बिहार के पूर्णिया जिले का मेरीगंज गाँव इस अंचल का प्रतीक है। यह यहाँ की भौगोलिक स्थिति और आबोहवा का ही प्रभाव है कि कालाजार और मलेरिया जैसी भयंकर बीमारियाँ यहाँ अड्डा जमाये रहती हैं। तभी तो "भूख, गरीबी, बीमारी और अंध-विश्वासों से पीड़ित लोगों को देखकर डॉ० प्रशांत रोगों की छानबीन करने आया है। वह लोककल्याण करना चाहता है। मनुष्य के जीवन का क्षय करने वाले रोगों के मूल का पता लगाकर वह नई दवा का आविष्कार करेगा जिससे सब रोग दूर हो जाएँगे।"[153]

लेकिन इस अंचल की बीमारी एक हो तो डॉ० प्रशांत उसकी दवा का आविष्कार करे। यहाँ आर्थिक दृष्टि से गाँव के लोगों की यह हालत है कि बीमारी के दिनों में "कफ के जकड़े हुए दोनों फेफड़े......ओढ़ने को वस्त्र नहीं, सोने को चटाई नहीं। भींगी हुई धरती पर लेटा हुआ निमोनिया का रोगी मरता नहीं जी जाता है।"[154] आर्थिक स्थिति की दयनीयता का पता इससे लगता है—'जिस जमीन पर उनके झोंपड़े हैं, वह भी उनकी नहीं।'[155]

"कपड़े के बिना सारा गाँव अर्द्ध-नग्न है। मर्दों ने पैंट पहनना शुरू कर दिया है और औरतें आँगन में काम करते समय एक कपड़ा कमर में लपेटकर काम चला लेती हैं। बारह वर्ष के बच्चे तो नंगे ही रहते हैं।"[156]

पूँजीवाद और सामंतवाद की अंतिम स्थिति

पूंजीवाद और सामंती सामाजिक व्यवस्था अपनी अंतिक मरणासन्न स्थिति में पूरे तामझाम के साथ इस अंचल में अभी वर्तमान हैं। वे 'गरीबों के गले में गरीबों के जरिये ही छुरी चलाते हैं।'[157] यही कारण है कि दो रुपया रोज मजदूरी पर गाँव के लोग कटिहार जूट मिल में मजदूरी करने के लिए गाँव छोड़-छोड़कर भाग रहे हैं— 'दो रुपया रोज मजदूरी मिलती है। गाँव में अब क्या रखा है!'[158]

एक ओर भीषण गरीबी की मार दूसरी ओर चंद बड़े गृहस्थों और जमींदारों द्वारा शोषण चक्र। सब ओर से शोषण ही शोषण—

"दवनी-मड़नी करके जमा करो, सालभर खाये हुए कर्ज का हिसाब चुकाओ। बाकी अगर रह जाए, तो फिर सादा कागज पर अँगूठे का टीप करो। सफाई करनी है तो बैल-गाय भरना रखो या हलवाहा चरवाहा दो। फिर कर्ज खाओ।"[159]

'परती परिकथा में' किसान और भूमिहीनों के बीच उथल-पुथल मची है—

'जिले में किसानों और भूमिहीनों में महाभारत मचा हुआ है! सिर्फ भूमिहीन ही नहीं, डेढ़ सौ बीघे के मालिकों ने भी दूसरे बड़े किसानों की जमीन पर दावे किये हैं......हजारों बीघे वाला भी एक इंच जमीन छोड़ने को राजी नहीं है।"[160] जमीन के प्रति ऐसा मोह, धरती के लिए ऐसा आकर्षण इसीलिए है कि गाँव की सारी अर्थ-व्यवस्था भूमि की धुरी पर ही चलती है।

'पानी के प्राचीर' में किसानों से कर वसूलने के लिए अमानवीय व्यवहार किया जाता है—

'दरबार में बीसों किसान पकड़कर लाये गये थे। सबके सब फटे हाल, नंगे बदन, धूलधूसरित सर वाले मुन्शी जी सबको बारी-बारी से मुर्गा बनाकर पीट रहे थे, चिलचिलाती धूप चोट के ऊपर लेपन कर रही थी। मुन्शी जी गरजते जा रहे थे— मैं सबकी नस पहचानता हूँ, तुम सब साले चोर हो। बिना मारे तो सुनते ही नहीं हो। लात के देवता हो बात से क्यों मानोगे ? दो-दो साल की लगान बाकी है। सिपाहियों के जाने पर घर छोड़कर भाग जाते हो।''[१६०]

निर्धारित कर के अतिरिक्त ये जमींदार अंग्रेज प्रशासकों के संकेत पर अथवा अपनी आवश्यकतानुसार किसानों से बेगार (बिना पैसे दिए काम कराना) कराते थे। बेगार प्रथा की मार्मिक कहानी 'बाबा बटेसरनाथ' में देखी जा सकती है।[१६१] 'पानी के प्राचीर' में ग्रामीण जनता के भोजन की स्थिति से उनकी आर्थिक दशा का परिचय मिलता है—'शाम को बथुए और सरसों का साग भरपेट खाकर सुमेश परिवार आग ताप रहा था। केवल केशव के लिए थोड़े कोदो के चावल का इन्तजाम हो गया था।'[१६२]

मध्यवर्गीय एवं भू-विहीन की आर्थिक स्थिति

डॉ० प्रशान्त ने गाँव की मध्यवर्गीय एवं भू-विहीन जनता की आर्थिक स्थिति का परिचय इस प्रकार दिया है—''उसे मध्यवित्त किसानों की अन्दर हवेली और बेजमीन मजदूरों की झोपड़ियों में जाने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है। रोगियों को देखकर उठते समय छींके पर टँगी हुई खाली मिट्टी की हांडियों से उसका सिर टकराया है। सात महीने के बच्चे को बथुआ और पाट के साग पर पलते देखा है। उसने देखा है·······गरीबी, जहालत और गन्दगी से भरी हुई दुनिया में भी सुन्दरता जन्म लेती है।''[१६३] मानवतावादी डॉ० प्रशान्त ग्रामीण जनता की जर्जर आर्थिक स्थिति से हताश और दुःखी होकर अपनी मित्र ममता को लिखता है—

''क्या करेगा वह संजीवनी बूटी खोजकर ? उसे नहीं चाहिए संजीवनी। भूख और बेबसी से छटपटाकर मरने के लिए उन्हें जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता होगी···· सुनते हैं महात्मा गाँधी ने कष्ट से तड़पते हुए बछड़े को गोली से मारने की सलाह दी थी। वह नए संसार के लिए इन्सान को स्वच्छ और सुन्दर बनाना चाहता था। यहाँ इन्सान हैं कहाँ ?···अभी पहला काम है, जानवर को इन्सान बनाना।''[१६४]

समाजवाद के लिए सरकारी प्रयास

परम्परागत सामन्तवादी व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करने के लिए विविध सरकारी एवं अ-सरकारी संस्थाओं द्वारा किए गए

प्रयासों के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विविध सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए हैं। नानावती अंजारिया के शब्दों में, "विगत दो दशक में राष्ट्र के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय सरकार ने देश के नियोजित आर्थिक विकास की नीति निर्धारित की है।"[१६५] हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अवतरित विविध आर्थिक परिवर्तनों, परिवर्तन के संवाहक अधिनियमों एवं सुधारमूलक कार्यों को अपने साहित्य में रूपायित किया है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए परम्परागत जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के उपरान्त भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत प्रमुखतः तीन वर्ग हैं—(क) विशालकाय भूमि के स्वामी (ख) लघु भूमि के स्वामी (ग) भूमिहीन श्रमिक। 'मैला आंचल' के जमींदार विश्वनाथ प्रसाद जमींदारी उन्मूलन विधेयक की सूचना पाते ही अपने क्षेत्र में कार्य करने वाले संथालों को भूमि से हटा देते हैं। वे अपने द्वारा जोती बोई भूमि से व्यवसायविहीन और अधिकारविहीन होकर नहीं जाना चाहते। परिणामतः जमींदार के व्यक्तियों एवं संथालों में युद्ध होता है। संथाल जेल जाते हैं। भूमि का स्वामी जमींदार और विशाल भूमि का स्वामी बन जाता है।[१६६]

इतना ही नहीं जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत जो सार्वजनिक उपयोग की भूमि थी, विश्वनाथ प्रसाद उस पर भी अपना वैधानिक अधिकार बना लेते हैं। '……जिस बड़े चौपाल पर एक पंक्ति में बैठकर, गाँधी जी के सराध के दिनों लोगों ने सरबघट भोज खाया, उसी को घेरकर खलिहान बनाया है तहसीलदार साहब ने। दस बीघे का घेराव है।'[१६७]

'आधा गाँव' में गंगोली के मुसलमान जमींदार जमींदारी प्रथा उन्मूलन के आने से पूर्व उससे बचने अथवा सुरक्षा प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं करते और सोचते हैं जमींदारी जा ही नहीं सकती। फलतः 'ये तमाम लोग देखते-देखते पल भर में नुरुद्दीन शहीद के मकबरे की तरह गिर गये।'[१६८] इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन ने जमींदारों को भी बुरी तरह झकझोर दिया।

दरिद्रता का कारण पिछड़ापन

डॉ० इन्दु प्रकाश पांडेय गाँवों की गरीबी और जहालत का कारण उनका पिछड़ापन मानते हैं। उनका कहना है कि पिछड़ेपन का ही परिणाम है—अन्धविश्वास जादू टोने से प्रभावित होना, अशिक्षा, जाति की भावना से परिचालित होना, रूढ़िवादिता। फलतः जमींनदार के कुचक्र के कारण दरिद्रता और अमानवीयता का शिकार होना पड़ता है।[१६९]

डॉ० विश्वम्भर मानव ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है कि वहाँ की मुख्य समस्याएँ हैं गरीबी और जहालत। जहाँ विविध वर्गों के पारस्परिक संघर्ष की चर्चा है, वहाँ जमींदार द्वारा शोषण और अत्याचार का उल्लेख भी हुआ है। यह अलग बात है कि अनाचार का वर्णन कुछ अधिक रस के साथ किया गया है।[१७०]

कृषक और जमींदार का संघर्ष

कृषक और किसान के संघर्ष से नई जीवन-दृष्टि भी विकसित हुई है। 'गंगा मैया' में रोजी रोटी के लिए जमींदारों और कृषकों का तनाव नई जीवन-प्रणालियों के विकास का ही प्रतिफलन है। आज के व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध बहुत कुछ अर्थमूलक होते जा रहे हैं। विधवा-विवाह करने में मटरू सिंह गोपी की कितनी सहायता करता है। बेचारा आर्थिक भार एवं अन्य आपदाएँ सहकर भी उसकी भाभी का विवाह उसी के साथ (गोपी) करा देता है।[१७१]

उनके वर्ग-संघर्ष का कारण भी शुद्ध-आर्थिक है। दो वर्ग स्पष्ट हैं—"जिन लोगों की जमीन नीलाम हुई है, दर्खास्तें खारिज हुई हैं, वे एक तरफ हैं। जिन्होंने नई बन्दोबस्ती ली है अथवा जमींदारों से माफी माँग ली है, सुपुर्दी लिखकर दे दी है या जो जमीन बन्दोबस्त लेना चाहते हैं—वे सभी दूसरी तरफ हैं। पर दोनों तरह के लोग संथालों के साथ नहीं हैं। बालदेव बावनदास, कालीचरण सब एक हो गए हैं। संथाल संथाल है और दिक्कू दिक्कू।"[१७२]

जमींदारी उन्मूलन का प्रभाव

उधर जमींदारी समाप्त होने पर गंगोली की मुसलमानियों ने कांग्रेस को गालियाँ दीं। त्यौहारों पर व्यय कम किए जाने लगे।[१७३] मकानों की मरम्मती के लिए पैसा न होने के कारण मकानों के गिरने में भी खेत बन जाने का लाभ देखा जाने लगा। राही मासूम रजा के शब्दों में—" और जब मकान गिर गया तो हमीद मियाँ ने हल चलवाकर खेत बना लिया। यानी पहले जो जनाना इमामबाड़ा सैदानियों की आवाजों के सब्जे पर ओस की बूंद की तरह चमका करता था वह अब जौ के एक खेत के किनारे खड़ा था।"[१७४] करैता में भी इस परिवर्तन की हलचल व्याप्त है। भूतपूर्व जमींदार ठाकुर जयपाल सिंह का परम्परागत आर्थिक वैभव क्षीण हो गया है —'जमींदारी की पुश्तैनी पुख्ता दीवालें एक हल्के धक्के से ही जमीन पर आ रही हैं। देखते ही देखते करैता का पूरा माहौल बदल गया। आसामियों ने खानदानी लाज-शरम छोड़कर जमींदार की छावनी से अपना रिश्ता तोड़ लिया।'[१७५]

ग्रामीण मध्यवर्ग की आर्थिक अवस्था

बिहार के ग्रामीण मध्यवर्गीय कृषकों की आर्थिक अवस्था का सजीव चित्रण 'मैला आँचल' में मिलता है—"इस इलाके के मंझले दर्जे के किसानों के पास यदि

थोड़ी पूँजी हो गई, तम्बाकू, धान, पाट और मिर्च का भाव एक साल चढ़ गया, घर में शादी गमी नहीं हुई तो वह तुरन्त लमना (खुशहाल हो जाना) जाते हैं। यदि मालिक जवान हो तो तुरन्त औन-पौन करने लगता है। हरमुनियाँ, फर्श, शतरंजी, शामियाना, जाजिम, लैट, पंचलैट, पहाड़िया घोड़ा, शम्पनी, टेबल कुर्सी, बेंच खरीद-कर ढेर लगा देता है। इससे भी जब गरमी कम नहीं होती है तब बन्दूक के लैसंस के आफिसरों को डाली देना शुरू करता है।... लाल बाग मेला के समय रात-रात भर मुजरा सुनता है और दिन भर आफिसरों के साथ कचहरी में घूमता है। बन्दूक के लैसंस के बाद नौटंकी कम्पनी खोलता है। इससे भी मगज ठण्डा नहीं होता तो कोई खूनी केस होकर सब समाप्त हो जाता है।"[१७६]

मजदूरों का खुलेआम शोषण होता है। भूतपूर्व जमींदार के अतिरिक्त नये भूधर भी श्रमिकों से श्रम कराते समय सम्मानपूर्ण व्यवहार नहीं करता। कछार अंचल के श्रमिकों की दुर्दशा का वर्णन डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में ध्यातव्य है—"मजूर मजूर नहीं हैं, यन्त्र हैं। काम करते-करते जरा सा किसी के हाथ थम गये, मालिक गालियों की बौछार करने लगा। कोई मजूरिन अपने नन्हें से बालक को दूध पिलाने उठ गई, तो गाली तो मिली ही मजदूरी भी काट ली गई।"[१७७]

स्वतन्त्रता के बाद जागरूकता आई है। अपने अधिकार के लिए डटने का जोश जगा है। 'अलग-अलग वैतरणी' के चमारों ने हड़ताल कर दी है। चार सेर से कम मजदूरी लिये बिना कोई हल नहीं जोतेगा।[१७८] परन्तु श्रमिकों का शोषण फिर भी जारी है। कारण, भूमि के अधिकांश भाग पर भूमिधरों का स्वामित्व है। श्रमिकों के परिवार को उसी से आजीविका मिलती है।[१७९]

ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बिगाड़ने में जलवायु का भी हाथ है—कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि।[१८०] बाढ़ का आना कभी न रुका है, न रुकेगा। सम्पन्न वर्ग द्वारा सीधे या प्रकारांतर से ग्रामीणों का शोषण होता रहता है। गरीबी के कारण अनेक समस्याएँ स्वतः उत्पन्न होती हैं-अशिक्षा, गन्दगी, कुपोषण, पिछड़ापन, अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ, भाग्य पर विश्वास। इस प्रकार एक रोग अनेक रोगों का जनक होता हुआ ग्रामीण जीवन को अस्त-व्यस्त बनाये रहता है। जो अर्थव्यवस्था ग्रामीण समाज की रीढ़ है, उसका दरकना और टूटना इसका स्पष्ट संकेत देता है कि गाँवों को विकसित और स्वावलम्बी बनने में युग-युग की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

वर्ग तथा जाति भावना

समाज के संचालन एवं नियमन में वर्ग तथा जाति की अहम् भूमिका है। वर्ग एक प्रकार की सामाजिक इकाई है, जिसमें एक ही तरह के लोगों ही कई जमातें शामिल होती हैं।[१८१] किसी भी वर्ग का स्वभाव है कि वह विशिष्ट सामाजिक प्रवृत्तियों का निर्माण और पोषण करता है और ये विशिष्ट सामाजिक प्रवृत्तियाँ भी

कुछ कारणों से निश्चित होती हैं ।[१८२] मार्क्स के अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक युग में समाज के दो प्रमुख विभाग हैं, जिनमें एक उत्पादन के साधनों का स्वामी है और दूसरा श्रम से निर्वाह करने को विवश होता है । इस तरह सम्पूर्ण मानव इतिहास के दौरान समाज दो वर्गों में बँटा रहता है—धनवान और निर्धन वर्ग । प्राचीन यूनान में ये वर्ग स्वामी और दास के रूप में, मध्य काल में ये प्रभु और कृषिदास के रूप में तथा आधुनिक पूँजीवादी समाज में ये पूँजीपति और मजदूर के रूप में देखने को मिलते हैं । समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीपति वर्ग को समाप्त करके मजदूर वर्ग का आधिपत्य स्थापित किया जाता है ताकि आगे चलकर वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सके ।

समाज में वर्ग के साथ जाति-भावना का विकास भी वंश परम्परा पर आधारित होता है । जाति (जात-पाँत/वर्ण) वंश परम्परा पर आधारित ऐसा सामाजिक स्तर है, जो अपने सदस्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा, व्यवसाय, सामाजिक सम्बन्धों इत्यादि का निर्णायक बन जाता है । जाति के सम्बन्ध में व्यक्ति की स्थिति अपरिवर्तनीय है । न कोई अपनी जाति से बाहर जा सकता है, न बाहर से कोई व्यक्ति उसमें प्रवेश कर सकता है । जाति-प्रथा पूरे समाज को ऊँची-नीची श्रेणियों में बाँट देती है और उस बँटवारे पर धर्म रीति-रिवाज या कानून की छाप लगा दी जाती है । हिन्दू जाति-प्रथा इसका विलक्षण उदाहरण है ।[१८३]

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में वर्ग तथा जाति-भावना का आधिक्य देखा जा सकता है । वहाँ के अधिकांश लोग मध्यवर्ग के अन्तर्गत आते हैं । उसमें भी मध्य, मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की ही अधिकता है । 'मैला आँचल' के मेरीगंज में बारहों वर्ण के लोग रहते हैं ।[१८४] 'राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मन-मुटाव और झगड़े होते आये हैं । ब्राह्मणों की संख्या कम है, इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्त्तव्य पूरा करते रहे हैं । अभी कुछ दिनों से यादवों के दल ने भी जोर पकड़ा है ।'[१८५]

गाँव में अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बँटे हुए हैं—कायस्थ, राजपूत और यादव । यह चित्र है गाँव में उभरते हुए जातिवाद का, जो गाँव की सामाजिक जिन्दगी घुन की तरह भीतर-ही-भीतर खा रहा है । मेरीगंज गाँव केवल जातिवाद का ही शिकार नहीं है, सारा गाँव अलग-अलग टोलों में भी बँटा हुआ है—कायस्थ टोली, राजपूत टोली, यादव टोली, तन्त्रिया छत्री टोली, कुशवाहा छत्री टोली आदि । इन अलग-अलग टोलों के मुखिया भी अलग-अलग हैं तथा सभी टोलों में परस्पर वैरभाव भी है । राजनीतिक पार्टियों के आधार पर भी गाँव में कई परस्पर विरोधी दल हैं, जो हर समय एक-दूसरे की टाँग खींचा करते हैं ।

बदनाम और विरोध करते रहते हैं। बालदेव भी कांग्रेसी हैं, कालीचरण सोशलिस्ट हैं तथा सिपहिया टोले (राजपूत टोले) के लोग जनसंघी हैं। बालदेव जी कांग्रेसी जनसभा में बोलने के लिए खड़े होते हैं, तो सोशलिस्ट वासुदेव उठकर कहता है—"आप पूँजीवाद हैं। इस सभा में आप नहीं बोल सकते।"[१८६] जनता की ओर से भी आवाज उठती है, "बैठ जाइये, बैठ जाइये। कपड़ा की पुर्जी बाँटिये, चीनी बिलेक कीजिये।"[१८७] यह एक ओर उनकी जागरूकता एवं अस्तित्व-रक्षा के प्रश्न से जुड़ा है, तो दूसरी ओर उनकी संकीर्ण मानसिकता से।

नागार्जुन के उपन्यासों में जिस सामाजिक वातावरण का चित्रण हुआ है, वह स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ग्रामीण जीवन और ग्राम की सामाजिक चेतना में आये परिवर्तनों (चाहे वे परिवर्तन अच्छे हों या बुरे) को उनके यथार्थ स्वरूप में प्रस्तुत करते हैं। लेखक का मार्क्सवादी दृष्टिकोण हमेशा ही समाज-धारा और सांस्कृतिक चेतना के निर्माण की पृष्ठभूमि में क्रियाशील आर्थिक तत्वों की प्रमुखता को महत्ता देने में लगा रहता है। इसलिए चाहे 'वरुण के बेटे' का 'मलाही-गोढ़ियारी' बस्ती हो, चाहे 'बाबा बटेसरनाथ' की 'रूपौली' अथवा 'बलचनमा' के कथानक बालचन राउत का गाँव या अंचल—हर जगह का सामाजिक वातावरण लगभग एक सा ही है। गाँव का समाज अमीर और गरीब दो प्रमुख वर्गों में विभाजित है। "अमीर लोग जमील वाले उच्च वर्ण के लोग हैं या वे भूतपूर्व जमींदार, जिन्होंने जमींदारी उन्मूलन के बाद भी विभिन्न तिकड़मों और कानूनी दाँव-पेच से अपनी बहुत सारी सम्पत्ति बचा ली है और आज भी गरीबों पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं, उनका शोषण करते हैं। सरकार की गलत नीतियों, निहित स्वार्थ वाले नेताओं तथा भ्रष्ट सरकारी अफसरों द्वारा उन उच्चवर्गीय सम्पन्न लोगों को संरक्षण मिलता है और गरीब वर्ग चारों ओर से बेसहारा और लाचार हो संघर्ष का रास्ता अपनाने के लिए विवश होता जा रहा है।"[१८८]

जाति-भावना का कुप्रभाव

जाति-पाँति का भयंकर विष फैला हुआ है। लोगों के रग-रग में यह व्याप्त है, जिसका प्रभाव पग-पग पर देखा जा सकता है—ब्राह्मण टोली के लोग बालदेव जी से पूछते हैं—"डागडर बाबू का नौकर तो दुसाध है और डागडर बाबू कौन जात है? दुसाध का बनाया हुआ खाते हैं?"[१८९]

'आदित्यनाथ' में अछूतों के प्रति सवर्णों में घृणा भाव है तथा कोई उच्च वर्ग का आदमी अगर धोखे से भी किसी अछूत से छू जाता है तो उसे पंचायत में दण्ड भरना पड़ता है। इस समाज में अगर अछूतों को छोड़ दें, तो अन्य लोगों में न कोई जाति-भेद है और न वर्गभेद। "न यहाँ कोई महाजन है, न साहूकार, न कोई किसा

का मालिक, न कोई किसी का नौकर। न कोई विद्वान, न कोई मूर्ख। हर व्यक्ति मेहनत करके खाता है।...लेकिन कोई किसी का शोषण नहीं कर पाता। आदिम साम्यवादी समाज का तनिक बढ़ा हुआ रूप था यहाँ।

परिवर्तन की लहर का प्रभाव

परानपुर गाँव में सामाजिकता और सामूहिकता दिन-प्रति-दिन टूट रही है। कहीं संकीर्ण स्वार्थचालित राजनीति की तिकड़में इसे तोड़ रही हैं तो कहीं आर्थिक जीवन की मजबूरियाँ; लेकिन इसे तोड़ने वाली सबसे बड़ी शक्ति है—परिवर्तित समय की परिवर्तित परिस्थितियाँ, जिन्होंने आदमी को बाहर और भीतर से एकदम बदल दिया है। जितेन्द्र के चिन्तन में इस बदलाव का कितना यथार्थ रूप दिखाई देता है—"गाँव समाज में मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्पर्क घनिष्ठ था, किन्तु अब नहीं रहा। एक आदमी के लिये उसके गाँव का दूसरा आदमी अज्ञातकुल शील छोड़ और कुछ नहीं। कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव-अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक-दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राणों का योग-सूत्र नहीं।"[१८०]

मैला आँचल में व्यक्त आर्थिक स्थिति

बिहार प्रान्त के पूर्णिया जिले के मेरीगंज ग्राम की पृष्ठभूमि पर आधारित आंचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' में स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व-कालीन भारतीय ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति के चित्र सुलभ हैं। खेतों में श्रम करने वाले श्रमिकों एवं कृषकों का जमींदारी व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर कोई अधिकार नहीं है। कृषकों की स्थिति इस प्रकार है—

"सोने के अनाज से भरे हुए धरती के इस गुप्त भण्डार का उद्घाटन करने वालों पर धरती माता का कोप होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि आज जमीन के मालिकों ने, जमीन के व्यवस्थापकों ने और धरती के न्याय ने धरती पर इनका किसी किस्म का हक नहीं जमने दिया है। जिस जमीन पर उनके झोंपड़े हैं, वह भी उनकी नहीं। हल में जुता हुआ बैल दिन भर खेत चारु (जोतता) करता है, इसलिए बैलों को भी धरती का हकदार कबूल किया जाये? यह कैसी बात है?"[१८१]

मेरीगंज गाँव के अधिकांश व्यक्ति वस्त्राभाव में अर्धनग्न रहते हैं।[१८२] डॉ० प्रशान्त मेरीगंज एवं उसके समीप के पन्द्रह गाँवों का परिचय प्राप्त करता है। रेणु के शब्दों में डॉ० प्रशान्त स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व के मेरीगंज गाँव की मध्यवर्गीय एवं भू-विहीन जनता की आर्थिक स्थिति इस प्रकार पाता है—

"डाक्टर ने इस बार आस-पास के पन्द्रह गाँवों का परिचय प्राप्त किया है, भयातुर इन्सानों को देखा है, बीमार और निराश लोगों की आँखों की भाषा को समझने की चेष्टा की है। उसे मध्यवित्त किसानों की अन्दर-हवेली और बेजमीन

मजदूरों की झोपड़ियों में जाने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है। रोगियों को देखकर उठते समय छीके पर टँगी हुई खाली मिट्टी की हांडियों से उसका सिर टकराया है। सात महीने के बच्चे को बथुवा और पाट के साग पर पलते देखा है। उसने देखा है ... गरीबी, गंदगी और जहालत से भरी हुई दुनिया में भी सुंदरता जन्म लेती है। किशोर-किशोरियों और युवतियों के चेहरों पर एक विशेषता देखी है उसने। कमला नदी के गड्ढों में खिले हुए कमल के फूलों की तरह जिन्दगी के भोर में बड़ी लुभावनी, बड़ी मनोहर और सुन्दर दिखाई पड़ती हैं, किन्तु ज्योंही सूरज की गर्मी तेज हुई, वे कुम्हला जाती हैं। शाम होने से पहले ही पपड़ियाँ झड़ जाती है।...कश्मीर के कमल और पूर्णिया के कमलों में शायद यही फर्क है।"[१८३]

बिहार के ग्रामीण समाज के मध्यवर्गीय किसान आर्थिक स्थिति के जरा-सा सुधार पर शान में आ जाते हैं और यही उनकी त्रासदी का कारण है। रेणु लिखते हैं—"इस इलाके के मँझले दर्जे के किसानों के पास यदि थोड़ी पूँजी हो गई, तम्बाकू, धान, पाट और मिर्च का भाव एक साल चढ़ गया, घर में शादी गमी नहीं हुई तो वह तुरन्त लमना (खुशहाल हो जाना) जाते हैं। यदि मालिक जवान हो तो तुरन्त औन-पौन करने लगता है। हरमुनियाँ फर्श शतरंजी, शामियाना, जाजिम, लैट, पंच-लैट, पहाड़िया घोड़ा, शम्पनी, टेबुल-कुर्सी, बेंच खरीदकर ढेर लगा देता है। इससे भी जब गरमी कम नहीं होती है तब बन्दूक के लैसंस के अफसरों को डाली देना शुरू करता है। " लाल बाग मेला के समय रात-रात भर मुजरा सुनता है और दिन भर आफिसरों के साथ कचहरी में घूमता है। बन्दूक के लैसंस के बाद नौटकी कम्पनी खोलता है। इससे भी मगज ठण्डा नहीं होता, तो कोई खूनी केस होकर सब समाप्त हो जाता है।"[१८४]

'मैला आँचल' में खेतिहर श्रमिक मेरीगंज ग्राम छोड़कर शहरों की ओर जा रहे हैं। गाँव में वैज्ञानिक यन्त्रों के उपयोग की वृद्धि के कारण श्रमिकों के लिए काम कम हो गया है। श्रमिक ग्राम छोड़कर कटिहार मिल में मजदूरी करने जाते हैं।[१८५]

जाति भावना कूट-कूटकर भरी है। परानपुर गाँव में सुवंश भलारी का जीवन बीमा करता है तो सुवंश का बड़ा भाई जद्दू उससे अस्पृश्यतापूर्ण व्यवहार करने लगता है। सुवंश को अपनी थाली में भोजन करने से मना करता है।[१८६]

समसामयिक भारतीय ग्रामीण समाज में एक ओर तो जाति-व्यवस्था के परम्परागत प्रतिबन्ध टूट रहे हैं तथा दूसरी ओर विभिन्न अंचलों में शक्तिशाली जातियाँ अपनी-अपनी जातियों को सुदृढ़ बनाने में लगी हुई हैं। बिहार अंचल में भूमि सुधार के अन्तर्गत भूमि का सर्वे होता है। प्रत्येक जाति के कार्यकर्त्ता अपनी-अपनी जाति के व्यक्तियों के आर्थिक हित सम्पादित करने का प्रयास करते हैं।[१८७]

जातियों को सरकारी संरक्षण

अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़ी जातियों और हरिजन छात्रों को जब से सरकारी छात्रवृत्ति और आर्थिक सहायता मिलने लगी है,[१९८] सवर्ण लोगों की जाति-भावना दरकने लगी है। उनमें प्रलोभन जगा है। फलतः स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जो लोग अपने को राजपूत प्रमाणित करने के लिए राजपूताना से नेपाल तक की पोथियों का हवाला देते थे" आज उनके लड़के शेडयूल्ड कास्ट और एबारिजनल कम्युनिटी की फेहरिश्त में अपना नाम लिखाने के लिए धक्कमधुक्की कर रहे हैं।[१९९] परानपुर गाँव के गरुड़धुज झा ने दो महीने तक कचहरी की दौड़-धूप की—किसी तरह हरिजन ब्राह्मण की लिस्ट में नाम लिख लिया जाये-हाँ हुजूर डोम से गया गुजरा समझते हैं लोग हमारी जाति को। कन्टाहा ब्राह्मण...।[२००] स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जन्म के आधार पर यदि किसी जाति के व्यक्तियों का उत्थान हुआ है, तो वह हरिजनों का। रेणु का कहना है—'लघुजातन्त्र का अर्थ ? जनतन्त्र कहो, प्रजातन्त्र कहो, लेकिन असल में है यह लघुजातन्त्र।'[२०१]

जाति की परम्परागत धारणा पर भी धक्का लगा है सरकारी व्यवस्था के कारण। भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दलित वर्ग को सब वर्गों के समान उठाने का प्रयास किया है। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप सैकड़ों हजारों वर्षों से तथा-कथित शूद्र वर्ण आज प्रगति के पथ पर कदम-में-कदम मिलाकर बढ़ता जा रहा है। छत्तीसगढ़ अंचल में चरणदास चमार सरकार की सहायता से गाँव में मुर्गी पालने के लिए मंगलू का मकान किराये पर लेता है।[२०२] बिहार अंचल में हरिजन भलारी पढ़-लिखकर अध्यापिका बनकर परम्परागत ब्राह्मण का कार्य अपने हाथ में लेती है[२०३] और गाजीपुर अंचल में परसराम (हरिजन) एम० एल० ए० होकर परम्परागत क्षत्रिय (प्रशासक) का कार्य करता है।[२०४] अन्य अंचलों में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। स्पष्ट है कि समसामयिक भारतीय ग्रामीण समाज में परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के बन्धन विशृङ्खल हो रहे हैं। उसके परम्परागत प्रतिमानों में परिवर्तन हो रहा है तथा भारतीय ग्रामीण जनता सामाजिक समानता के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रही है।[२०५]

जाति प्रथा का ह्रास

गाँवों में जाति प्रथा का ह्रास हो रहा है। दूसरी ओर डॉक्टर की जाति के प्रश्न पर उपन्यासकार का कथन है—"शहर में कोई किसी से जाति नहीं पूछता। शहर के लोगों की जाति का क्या ठिकाना। लेकिन गाँवों में बिना जाति के आपका पानी ही नहीं चलता।"[२०६] जाति प्रथा के टूटते रूप का वर्णन भी ध्यातव्य है—'राजपूत टोली के नौजवान लोग भी ग्वालों के दल में धीरे-धीरे मिल रहे हैं। अखाड़े

में ग्वालों के साथ कुश्ती लड़ते हैं। रोज शाम को कीर्तन में भी जाने लगे हैं।' इतना ही नहीं जोतखी जी का एकमात्र पुत्र रामनारायण तो विदापत नृत्य भी करता है और पासवानों के साथ रहता भी है। निम्न समझी जाने वाली जातियों में भी जागरण आ रहा है। तन्त्रिमा टोले की पंचायत का निर्णय उल्लेखनीय है—'अब उनके टोले की कोई औरत बाबू टोला के किसी आँगन में काम करने नहीं जाएगी। हलवाहा गोनाय ततमा खेलावन का हल जोतने नहीं जाता। उनका कहना है—'पिछले साल का बकाया साफ कर दीजिए तो हल उठायेंगे।'

सामाजिक आमोद-प्रमोद

आंचलिक उपन्यास साहित्य में लोक संस्कृति के नियामक विविध उपादानों का चित्रण हुआ है। इससे एक ओर उनके सांस्कृतिक उत्थान को अवकाश और विकास के अवसर मिलते हैं, तो दूसरी ओर उनका आमोद-प्रमोद भी होता है। लोक-नृत्य लोकगीत, लोकवाद्य, पर्व-उत्सव आदि से उनके कर्म-संकुल जीवन में स्निग्धता एवं सरसता का संचार होता है। इनसे उनका शुद्ध-मनोरंजन होता है। बिहार प्रांत के रामपुर ग्राम की पृष्ठभूमि पर विरचित आंचलिक उपन्यास 'माटी की महँक' में जनता का मनोरंजन कर आजीविका प्राप्त करने वाले नटों के सम्बन्ध में रामदीन ठाकुर से कहता है—

'पारसाल वाले नट लोग गाँव आए हैं गोसाइँ जी। अब जमेगा ढोलक की थाप पर महोबा की लड़ाई का गीत ! इस गीत के लिए कान तरस रहे थे। गजब-गजब का खेल दिखाते हैं बाबू। बाँस पर चढ़कर दंड बैठक पेलना, बहादुर की तरह लटक जाना, पतली डोरी पर हवा की तरह दौड़ना तो इन लोगों के लिए बाएँ हाथ का खेल है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि गिर पड़ेंगे लेकिन ये लोग तो चमोकन की तरह बाँस में इस तरह सटे रहते हैं कि मत पूछो। देखने वालों का दिल धकधक करने लगता है।[२०७] इसी उपन्यास में हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए अखाड़े में कुश्ती का वर्णन है।[२०८] इससे ग्रामवासी का पर्याप्त मनोरंजन होता है, साथ ही कसरत, कुश्ती के द्वारा बलवर्धन की ओर भी ध्यान रहता है। 'मैला आँचल' में भी दंड बैठक और पहलवानी द्वारा मनोरंजन का विधान है।[२०९] 'अलग-अलग वैतरणी' में रामनवमी के अवसर पर दंगल होता है। बायस्कोप द्वारा भी जन-जन का मनोरंजन होता है।[२१०]

सिखा पर्व, सामाचकेवा पर्व, सामूहिक रूप से मछली का शिकार आदि भी मनोरंजन के साधन हैं।[२११] 'सामाचकेवा' पर्व सब वय के लोग मनाते हैं। इस अवसर पर गीत भी गाए जाते हैं—

'अरे, मानसा-सरो-ओ-बरा के झगल पनियाँ-याँ-याँ,
खचमच मोतिया भं-डा-आ-र.......'[२१९]

'मैला आँचल' में ग्रामीण जनता होली पर्व मनाती है। महिलाएँ फाग गीत गाती हैं—

नयना मिलानी करी लेरे सैयाँ नयना मिलानी करीले।
अबकी बेर हम नैहर रैहबो, जो दिल चाहे से करीले।[२१२]

कहीं नागपंचमी का पर्व मनाया जाता है[२१३] तो कहीं धार्मिक पर्व और मेले का आयोजन किया जाता है[२१४] तो कहीं बकरीद मोहर्रम की तैयारी होती है।[२१५]

समसामयिक जीवन में आर्थिक संकट, तंगी, अभाव के कारण पर्वों और उत्सवों में जनता के उत्साह में अपेक्षाकृत कमी आई है। नई पीढ़ी में इन पर्वों के प्रति उतना उत्साह नहीं है। रेणु के शब्दों में ''नये नौजवानों की नजर में इस तरह के पर्व-त्योहार रूढ़िग्रस्त समाज की बेवकूफी के उदाहरण मात्र हैं। शामा-चकेवा, करमा-धरमा, हाक-डाक इत्यादि पर्वों को बंद करना होगा।'[२१६]

वार्षिक पर्वों और उत्सवों के अतिरिक्त लोक-साहित्य, लोक संस्कृति का प्रमुख उपादान होता है। लोकसाहित्य के अंतर्गत मुख्यतः लोकगीत लोककथाएँ, लोक-नाट्य आदि आते हैं। 'मैला आंचल' में अवतरित लोकगीतों के सम्बन्ध में डा० शांति स्वरूप गुप्त का कहना है—'लोकगीत उनका मनोरंजन तो करते ही हैं दैनिक समस्याओं के विषय में सीधे-सादे देहातियों की भावनाओं को व्यक्त करते हैं।'[२१७]

जाट-जट्टिन, विदापत का नाच, बारहमासा आदि के द्वारा भी उनका पर्याप्त मनोरंजन होता है। भक्ति के गीत, सोलह संस्कारों के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों से भी उनके मन को विश्राम मिलता है। लोकनाट्य में समसामयिक समस्याओं का भी चित्रण रहता है। मनोरंजन के साथ समस्याओं से साक्षात्कार होता है। 'परती परिकथा' के लोक नाट्य पर डॉ० रामगोपाल सिंह की टिप्पणी है—''जितेन्द्र के द्वारा आयोजित नाटक 'पंचचक्र' में कोसी के प्रकोप में डूबते हुए गाँव बहती हुई लाशें, चीख-पुकार से लेकर बाँध बाँधने के संघर्ष तथा परती के फसल के लहलहाने तक के दृश्यों में उपन्यास की समस्त कथा के मर्म को अपनी समस्त गहराई के साथ उभारकर भविष्य की कल्पना को साकार रूप प्रदान कर जनता में नई आशा का संचार किया गया है।''[२१८] परानपुर ग्राम की नाट्य समिति ग्राम में सांस्कृतिक सोना विकसित करने का प्रयास करतो है।[२१९] इसी प्रकार 'मैला आंचल' में लोक-नृत्य विदापतनाच का चित्रण मिलता है। शाम को घूर के पास 'लोरिक' या कुमर विज्जेभान की गीत-कथा होती है—

अरे राम राम रे देबा रे इसर रे महादेव,
बामें ठाढ़ी देवी दुरगा दाहिन बोले काग।

अपन मन में सोच करैये मानिक सरदार
बात से नाहीं माने वीर कनोजिया गुआर"।[२२०]

तो उधर लोहाबासा घर से, बेड़ी बाँध में जकड़ी सुन्दरि नैका रो-रोकर पुकारती रही—

एक पहर पीतल जे दुई पहरे, जे तेसरो पहर हो-ओ
रात कटे सुन्दरि छाती कुटै दैवा आंगन में।[२२१]

ग्रामीण मनोविनोद के साधन उनकी लौकिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक परंपरा, विरासत को उजागर करते हैं, साथ ही उनका शुद्ध मनोरंजन भी करते हैं। मनोविनोद के साथ-साथ समसामयिक समस्याओं से साक्षात्कार होता जाता है। जिस कठोर सत्य का उद्घाटन सामान्य अवस्था में नहीं हो सकता, उसी को लोकनृत्य, लोकगीत में सहज ही कह दिया जाता है। उसका प्रभाव 'कांता सम्मित उपदेश' के समान पड़ता है।

डॉ० सत्यपाल चुघ का यह कहना सर्वथा सही है कि रेणु ने अपने आंचलिक उपन्यासों में अंचल चित्र को अनुसंधान की सीमा तक पहुँचा दिया है। उन्होंने अपने सामान्य विवरण वर्णन तथा प्रतिनिधि अंचलीय पात्रों के आचार-व्यवहार आदि से ही अंचल को पर्याप्त नहीं समझा, आंचलिक अनुसंधानकर्त्ताओं के रूप में दो पात्रों की विशेष योजना भी की है।[२२२] उनका संकेत 'परती परिकथा' के भवेशनाथ तथा सुरपतिराय की ओर है।

वस्तुतः रेणु ने अपने आंचलिक उपन्यासों में उपन्यस्त अंचल के विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप को जिस गहराई, विस्तार और सूक्ष्मता से उद्घाटित किया है, वह हिंदी उपन्यास जगत में अन्यत्र दुर्लभ है। इस गाँव की वर्ग-व्यवस्था, जातिगत विषमता, पार्टी बन्दी, वर्गगत स्वार्थ, राजनीतिक तिकड़में, अंध-विश्वास, अशिक्षा, नारी समस्या, भूमि समस्या तथा आर्थिक समस्याओं के यथार्थवादी चित्रण से जहाँ इस अंचल के सामाजिक वातावरण का चित्र उभारा गया है, वहीं लोकगीतों, लोक-कथाओं, लोकनृत्यों, पर्व-त्योहारों, मनोविनोदों तथा विभिन्न पात्रों को चारित्रिक विशिष्टताओं के चित्रण से यहाँ की संस्कृति को।[२२३]

अन्य उपन्यासकारों से बढ़कर रेणु का ध्यान सदा व्यक्त अंचल के समाज को उसकी सीमा-शक्ति, दुर्बलता-सबलता, स्वप्न संभावनाओं के साथ स्वीकार की ओर है तथा उसके सम्यक् विकास की ओर भी। डॉ० प्रशांत हो या जित्तन, उनकी कल्पनाएँ विराट हैं और वास्तविकता की धरती पर आने को व्याकुल भी। यह अलग प्रश्न है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था और सीमाओं के कारण कहाँ-कहाँ बाधाएं उपस्थित होती हैं।

संदर्भ-संकेत

१. संपादक बी० डी० गुप्ता : साहित्य : समाजशास्त्रीय संदर्भ लेख-उपन्यास का समाजशास्त्र—डॉ० सुरेन्द्र प्रसाद साह, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३८
३. आलोचना, वर्ष १, अंक १, अक्तूबर १९५१, पृ० ४४ लेख—समाजशास्त्रीय आलोचना : डॉ० देवराज
४. श्याम सुंदर दास : साहित्यालोचन
५. डॉ० परमानंद श्रीवास्तव : उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा, पृ० ५८-५९
६. डॉ० स्वर्णलता : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, पृ० २९
७. वही, पृ० ३०
८. तुलसी शब्द सागर—संकलनकर्त्ता—स्व० पं० हरगोविन्द तिवारी, संपादक श्री भोलानाथ तिवारी, पृ० ४४५-४६
९. Mac Iver & C. H. Page : Society, Edition 1962, p. 6
१०. डॉ० श्याम सुंदर घोष : भारतीय मध्यवर्ग, भूमिका, पृ० ३
११. Alvin L. Bertrand : An Introduction to Theory & Method Basic Sociology, Newyork, 1967, p. 51.
१२. A Crowd is not company, and faces are but a gallery of pictures; and talk but a tinking cymbol where there is no love—Introduction to Sociology.
१३. वही।
१४. Ogburn and Nimkoff—A Hand Book of Sociology, p. 364.
१५. "An organisation comes into existence when explicit procedures are established to co-ordinate the activities of a group in the interest of achieving specified objectives. The collective efforts of men may become formally organised either because all of them have some common interest or because a subgroup has furnished inducements to the rest to work in behalf of its interest." —International Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. II, p. 297-298.

१६. "The organisation of a society Into subgroups, including, in particular those based on differences in age, sex, kinship, occupation, residence, property, privilege, authority and status."

—Fairchild : Dictionary of Sociology, 1944, p. 287.

१७. International Encyclopaedia of Social Science, Vol. II, p. 298.

१८. शम्भूलाल दोषी : समाजशास्त्र, सिद्धांत और विश्लेषण, पृ० ७

१९. वही, पृ० ४

२०. शंभूलाल दोषी : उच्च सामाजिक मानव-विज्ञान, पृ० १४०

२१. वही, पृ० १४१

२२. "It is a network of system of social relations including persistent social groups and differentiated social classes and social roles."

२३. International Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. III, p. 530.

२४. वही, पृ० ५३०

२५. Radcliff Brown, 1952, p. 195.

२६. सच्चिदानंद धूमकेतु-माटी की महँक, पृ० सं० ४०२

२७. फणीश्वरनाथ रेणु : परती परिकथा, पृ० ३७१

२८. वही, पृ० ४३२

२९. वही, पृ० ४३५

३०. उदय शंकर भट्ट : लोक और परलोक, पृ० ३३

३१. वही, पृ० ३३

३२. वही, पृ० ११६

३३. आलोचना, अक्तूबर, १९५७--'रेणु और परती परिकथा'—प्रो० गोपी कृष्ण प्रसाद, पृ० ७८

३४. आलोचना, वर्ष ५, अंक १, जनवरी १९५६
हिंदी उपन्यास में नए प्रयोग—ब्रजविलास श्रीवास्तव, पृ० ४५

३५. आलोचना, वर्ष ६, अंक ४, अक्तूबर १९५७, दुखमोचन--डॉ० ब्रजमोहन गुप्त, पृ० १०२

३६. "Marriage is the relation to each other of two people who are drawn together by a bound of sexual and

social sympathy which it is their wish to continue, if possible indefinitely.' —Havelock Ellis : Sex & Marriage, p. 52.

३७. सुभाषिनी शर्मा—स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास, पृ० ५१
३८. वही
३९. डॉ० शिवप्रसाद सिंह—अलग-अलग वैतरणी, पृ० ६६१
४०. वही, पृ० ६६१
४१. डॉ० शिवप्रसाद सिंह--अलग-अलग वैतरणी, पृ० ६५९
४२. गुरुदयाल सिंह—'मड़ी का दीवा', पृ० सं० १२३
४३. तारा प्रकाश जोशी, संचेतना, पृ० १५
४४. फणीश्वरनाथ रेणु—मैला आंचल, पृ० ७५
४५. वही, पृ० ७५
४६. वही, पृ० ६२
४७. परती परिकथा, पृ० ५५
४८. जयशंकर प्रसाद : कामायनी
४९. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० २९२
५०. डॉ० राही मासूम रजा-आधा गाँव, पृ० १९४
५१. डॉ० रामदरश मिश्र—पानी के प्रचार, पृ० २९
५२. वही, पृ० ५८
५३. वही, पृ० ३२७
५४. फणीश्वरनाथ रेणु : परती परिकथा, पृ० १८२
५५. सच्चिदानंद धूमकेतु : माटी की महँक, पृ० ३६६
५६. डॉ० रामदरश मिश्र—जल टूटता हुआ, पृ० १४४
५७. वही, पृ० १४६
५८. डॉ० रामदरश मिश्र : पानी के प्राचीर, पृ० १६४-१६५
५९. नागार्जुनः : दुखमोचन, पृ० ९२
३०. वही, पृ० १००
६१. फणीश्वरनाथ रेणु, परती परिकथा पृ० १३८
६२. भैरव प्रसाद गुप्त, गंगा मैया, पृ० ११३
६३. फणीश्वरनाथ रेणु, कितने चौराहे, पृ० २४
६४. उच्च सामाजिक मानव विज्ञान, शंभूलाल दोषी, पृ० १४९
६५. वही, पृ० १४९
६६. वही, पृ० १५०

६७. वही, पृ० १५१

६८. वही, पृ० १५१

६९. डा० ज्ञानचंद गुप्त—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० १०४

७०. वही, पृ० १०४

७१. वही, पृ० १०४

७२. संचेतना (दिल्ली) में विमला उपाध्याय का लेख 'तलाक समस्या का हल नहीं है'

७३. डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० १०५

७४. डा० रामदरश मिश्र : सूखता हुआ तालाब, पृ० १२

७५. नागार्जुन : रतिनाथ की चाची, पृ० १५५

७६. फणीश्वरनाथ रेणु : परती परिकथा, पृ० १५०

७७. ” : मैला आँचल, पृ० २८७

७८. उदयशंकर भट्ट : लोक-परलोक, पृ० ११६

७९. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० २०५

८०. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृ० १६५

८१. डा० ज्ञानचन्द्र गुप्त—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० २०८

८२. वही, पृ० २०८

८३. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रंथ में चार सांस्कृतिक क्रांतियाँ : रामधारी सिंह दिनकर

८४. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आँचल, पृ० ३३३-३३४

८५. वही, पृ० १७७

८६. परती परिकथा, पृ० ४७१

८७. डा० राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ० ४५

८८. भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, पृ० ४३८

८९. John R. Cuber : Sociolcgy—A Synopsis of Principles P. 566

९०. डा० ज्ञानचन्द गुप्त : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० १८९

९१. वही, पृ० १८९

९२. डा० राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ० ७

९३. सच्चिदानन्द धूमकेतु : माटी की मँहक, पृ० २५५
९४. वही, पृ० २२६
९५. C. E. M. Good—The Story of Civilization, P. 26
९६. मैला आँचल, पृ० १९२
९७. वही, पृ० १०
९८. परती परिकथा, पृ० ११८
९९. वही, पृ० ११९
१००. वही, पृ० ११३-११४
१०१. मैला आँचल, पृ० ४४
१०२. वही, पृ० ३२५-३२६
१०३. वही, पृ० २७१
१०४. नागार्जुन : रतिनाथ की चाचा, पृ० ५४
१०५. वही, पृ० ५४
१०६. परती परिकथा, पृ० ६८
१०७ मैला आँचल, पृ० ३२१
१०८. उदयशंकर भट्ट—लोक परलोक, पृ० ५२
१०९. सच्चिदानन्द धूमकेतु : माटी की मँहक, पृ० ३५२
११०. भैरव प्रसाद गुप्त : सती मैया का चौरा, पृ० २८३
१११. मैला आँचल, पृ० ८७
११२. रतिनाथ की चाची, पृ० ६०
११३. मैला आँचल, पृ० ९
११४. राजेन्द्र अवस्थी : जंगल के फूल, पृ० १०
११५. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ४२
११६. नागार्जुन : बलचनमा, पृ० ३१
११७. डा० रामदरश मिश्र : सूखता हुआ तालाब, पृ० ४३
११८. वही, पृ० ८२
११९. नागार्जुन : नई पौध, पृ० ४
१२०. बलभद्र ठाकुर : मुक्तावती, पृ० ३१७
१२१. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २१६
१२२. वही, पृ० २१७
१२३. वही, पृ० २१७
१२४. मैला आँचल, पृ० ६३

१२५. वही, पृ० ९२
१२६. परती परिकथा, पृ० १९०
१२७. मैला आँचल, पृ० ७३
१२८. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २२५
१२९. उद्धृत : 'फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला' कुसुम सोफ्ट, पृ० ३२
१३०. डा० राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० १८२
१३१. डा० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० ३८
१३२. हौलदार, पृ० ४
१३३. सागर लहरें और मनुष्य, पृ० ६५
१३४. डा० त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृ० ४००
१३५. मैला आँचल, पृ० २४८
१३६ परती परिकथा, पृ० २५८
१३७. मैला आँचल, पृ० १३१
१३८. हौलदार, पृ० २००
१३९. वही, पृ० १४८
१४०. बलचनमा, पृ० १८
१४१. वही, पृ० २७
१४२. जूलूस, पृ० ५५
१४३. डा० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ३३
१४४: मैला आँचल, पृ० १९२
१४५. वही, पृ० १९६
१४६. वही, पृ० २३
१४७. परती परिकथा, पृ० १३, ११०
१४८. वही, पृ० १८३-१८६
१४९. वही, पृ० ६०-७६
१५०. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों को शिल्पविधि पृ० १९७
१५१. परती परिकथा, पृ० ३६
१५२. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० ८२
१५३. समालोचक, १९५९ अगस्त, पृ० ३
१५४. मैला आंचल, पृ० २२४
१५५. वही, पृ० १३२

१५६. वही, पृ० १५३
१५७. वही, पृ० २२२
१५८. वही, पृ० ३९१
१५९. समालोचक, पृ० ३ (अगस्त १९५९)
१६०. डा० रामदरश मिश्र : पानी के प्राचीर, पृ० २१९
१६१. नागार्जुन : बलचनमा, पृ० ४६-४७
१६२. पानी के प्रचार, पृ० १५२
१६३. मैला आँचल, पृ० १८६
१६४. वही, पृ० १८६
१६५. Nanavati and Anjaria—'The Indian Rural Problem', Preface, Fifth Edition.
'The Indian Society of Agricultural Economic's Bombay, 1960
१६६. मैला आँचल, पृ० २०३, २०४, २०५, २०६
१६७. वही, पृ० ३१९
१६८. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ० ३०६, ३०७
१६९. Dr. I. P. Pandey : Regionlism in Hindi Novel, P. 83
१७०. विश्वम्भर मानव : हिन्दी साहित्य का इतिहास (गद्यखण्ड) पृ० ७५
१७१. डा० ज्ञानचन्द गुप्त : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० २०९
१७२. मैला आँचल, पृ० २०१
१७३. आधा गाँव, पृ० ३०८
१७४. वही, पृ० ३१०
१७५. डा० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० ३२
१७६. मैला आँचल, पृ० २३४, २३५
१७७. डा० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० ९०
१७८. अलग-अलग वैतरणी, पृ० ५९५
१७९. वही, ५९५
१८०. पानी के प्राचीर, पृ० १३५
१८१. आर० एम० मैकीबर एण्ड सी० एच० पेज, सोसाइटी, पृ० ३४८
१८२. वही, पृ० ३४९
१८३. ओम प्रकाश गाबा : समाज विज्ञान कोश, पृ० ३०-३१
१८४. मैला आँचल, पृ० १५

१८५. वही, पृ० १५
१८६. वही, पृ० ११०
१८७. वही, पृ० ११०
१८८. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० १६८
१८९. बलभद्र ठाकुर : आदित्यनाथ, पृ० २३५
१९०. परती परिकथा, पृ० ४७१
१९१. मैला आँचल, पृ० १२५
१९२. वही, पृ० १५३
१९३. वही, पृ० १८६
१९४. वही, पृ० २३४, २३५
१९५. वही, पृ० ३२०
१९६. परती परिकथा, पृ० २४२
१९७. वही, पृ० ३६
१९८. वही, पृ० १३३
१९९. वही, पृ० १४५-१४६
२००. वही, पृ० १४६
२०१. वही, पृ० १४६
२०२. शिवशंकर शुक्ल—मोंगरा, पृ० १३
२०३. परती परिकथा, पृ० १३५
२०४. डा० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० ५७८
२०५. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० १६७
२०६. मैला आँचल, पृ० ११४
२०७. सच्चिदानन्द धूमकेतु : माटी की महक पृ० ९८
२०८. वही, पृ० १९
२०९. मैला आँचल, पृ० १५५
२१०. अलग-अलग वैतरणी, पृ० ३५, ३५३
२११. मैला आँचल, पृ० १५५
२१२. परती परिकथा, पृ० २५८
२१३. जल टूटता हुआ, पृ० ३३
२१४. अलग-अलग वैतरणी, पृ० १३
२१५. आधा गाँव, पृ० १८

२१६. परती परिकथा, पृ० २४७

२१७. डा० शान्तिस्वरूप गुप्त—हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर, पृ० ८८

२१८. डा० रामगोपाल सिंह चौहान : आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० २२५

२१९. परती परिकथा, पृ० ४५६-४६०

२२०. मैला आंचल, पृ० ७९-८०

२२१. परती परिकथा, पृ० १५७

२२२. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० ४७२

२२३. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० १९८

अध्याय २

आंचलिक उपन्यासों का रूपात्मक विश्लेषण

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य में आख्यानपरक विधाओं का तात्विक विवेचन किया गया है। देश और काल के भेद से उक्त विवेचन में कथा-साहित्य के तत्वों और उसकी गणना के संबंध में स्वभावतः विभिन्नता मिलती है। किंतु जिन सामान्य आधारों अथवा धरातलों पर परंपरागत और आधुनिक अध्येता कथात्मक कृतियों का मूल्यांकन करते हैं, वे निम्नांकित हैं—कथानक, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। विशेष रूप से पश्चिमी संस्कृति से उपजे हुए भावबोध के आधार पर नाट्यपरक आख्यानों के मूल्यांकन क्रम में पाश्चात्य चिंतकों ने उक्त आधारों के अतिरिक्त द्वंद अथवा संघर्ष और कुछ ने कुतूहल अथवा द्वैधाभाव का भी उल्लेख किया है, लेकिन ये सभी तत्व उपर्युक्त सभी तत्वों के परिप्रेक्ष्य में नातिदीर्घ रूप से अंतर्निहित माने जा सकते हैं। कोई भी कथात्मक कृति किसी विचारित मानदंड को दृष्टि में रखकर सृजित नहीं होती। निश्चयपूर्वक प्रत्येक सजग रचयिता को पूर्ववर्ती रचना संस्कार और प्रेरक रचना-प्रतिमान प्राप्त होते हैं, लेकिन प्रत्येक रचना स्वभावतः परंपरा प्रयोग और वैयक्तिक प्रतिभा की पारस्परिकता से विशिष्ट भंगिमा से संपन्न होती है। इसलिए उपर्युक्त कथात्मक तत्व समान गुण और गुणवत्ता में किसी भाषा के संपूर्ण कथा साहित्य में अथवा किसी एक कथाकार की सभी कृतियों में समान नहीं होते। इसलिए इन सभी तत्वों को दृष्टि में रखते हुए कथा-साहित्य का विवेचन करना समीचीन है।

प्रस्तुत प्रबंध में औपन्यासिक कृतियों का समाजशास्त्रीय निरूपण किया गया है। किसी भी भूभाग की सामाजिकता में अभिव्यक्ति के साथ उसके तत्व भी विद्यमान होते हैं। अभिव्यक्ति या संप्रेषण की सबसे सुलभ और प्रभावशाली संवाहिका बनकर भाषा वस्तुतः अपने रूप और प्रयोजन में सामाजिक होती है। इसलिए कि प्रत्येक वक्ता में श्रोता और श्रोता में वक्ता व्यंजित होता है। फलस्वरूप रेणु के उपन्यासों के समाजशास्त्रीय अध्ययन में संबद्ध कृतियों का रूपात्मक विश्लेषण सर्वथा महत्वपूर्ण है।

कथा साहित्य के छः तत्व बताए गए हैं—कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य।[1](क) इसके अतिरिक्त कुछ ने द्वंद्व या संघर्ष (कनफ्लिक्ट) तथा कुतूहल या द्वैधाभाव (सस्पेंस) को भी कथातत्व माना है।[1](ख) वस्तुतः ये रचना कौशल के अंग हैं। उपर्युक्त छः तत्वों में भी कथावस्तु और पात्र को प्रधानता दी जाती है। देशकाल कथावस्तु का अंग है। यह तत्व संगी बनकर मूल तत्व को स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाता है। उद्देश्य वह परिणाम है, जिसे कथावस्तु द्वारा प्राप्त किया जाता है और संवाद तथा शैली उसे प्राप्त करने के साधन हैं।[1](ग)

कथानक

प्रायः उपन्यासों में एक से अधिक कथाएँ होती हैं। उनमें एक कथा प्रमुख होती है, जो आदि से अंत तक चलती है और वह कथा के प्रमुख पात्र (नायक) या पात्रों से संबद्ध होती है। यही कथा मुख्य कथानक कहलाती है।[2] कभी-कभी एक से अधिक कथानक समान प्रमुखता के साथ सम्मिलित हो जाते हैं। इ० एम० फास्टर ने उपन्यास में कहानी की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है – उपन्यास में कहानी होती ही है। यह उसका आधारभूत तत्व है, जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। यह सभी उपन्यासों में महत्तम समापवर्त्य है, पर मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यदि यह तत्व न होता, तो यह कुछ और होता—संगीत, माधुरी, सत्यानुभूति, न कि यह प्राचीन रूप-विधान।[3]

आंचलिक उपन्यासों में वस्तु संगठन का आधार कथा, पात्र या कोई आदर्श विशेष न होकर किसी सीमित स्थान, क्षेत्र या अंचल विशेष का समग्र जीवन अथवा किसी जाति विशेष की जीवनगत समस्याएँ होती हैं। अतएव, उनके कथानक अंचल आधृत होते हैं। आंचलिक उपन्यासों में रचनाकार के दृष्टि-केन्द्र के परिवर्तन या सीमित हो जाने के कारण इनके शिल्प में भी परिवर्तन हो गया है। अनांचलिक और आंचलिक उपन्यासों के वस्तु-संगठन में जो अंतर दिखाई देता है, उसका कारण भी यही है। सामान्य उपन्यासों में व्यापक जीवन को कथानक का आधार बनाया जाता है जबकि आंचलिक उपन्यास में एक अंचल विशेष के जीवन की समग्रता पर उपन्यासकार की दृष्टि केंद्रित रहती है।[4] आंचलिक उपन्यास की विषयवस्तु की विशिष्ट प्रकृति और उपन्यासकार के अवलोकन-बिंदु के इस परिसीमन के फलस्वरूप इसकी कथावस्तु के संयोजन-शिल्प में अंतर आ गया है।

आंचलिक उपन्यासों की कथावस्तु के उपादानों की विशिष्टताओं तथा इनके नियोजन में शिल्पगत नवीनताओं के परिणाम हैं कथागत बिखराव, कथानक में मंथरगतिशीलता तथा एकसूत्रता का अभाव आदि। ये सब अंचल-केंद्रित कथा की स्वाभाविक परिणतियाँ हैं। चूंकि किसी रचना का शिल्प विषय-विषयी सापेक्ष होता

है, इसलिए आंचलिक उपन्यास की कथावस्तु इस तरह की शिल्पविधि स्वीकारने के लिए नियतिबद्ध है।[५] इस शिल्पगत नव्यता या विशिष्टता के दो पहलू हैं—

(क) कथावस्तु उपादानों की विशिष्टता

(ख) कथावस्तु उपादानों की संगठनात्मक विशिष्टता अर्थात् वस्तु संयोजन-शिल्पगत वैशिष्ट्य।

कुछ प्रमुख आंचलिक उपन्यासों के कथानक के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होगी।

'मैला आंचल' की कथाभूमि 'मेरीगंज' अपनी कई विशिष्टताओं के कारण पूर्णिया जिले के या बिहार के अन्य गाँवों से सर्वथा भिन्न दिखाई देती है। 'परती परिकथा' दुलारीदाय के अंचल में फैले घूसर, वीरान, अंतहीन प्रांतर—वंध्या धरती, परती जमीन की कथा कहती है, साथ-साथ उस परानपुर गाँव के व्यापक जीवन की कथा भी कहती है, जिस गाँव की विशिष्टता बतलाने के लिए इतना ही कहना काफी है कि "लोग यहाँ दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट टटोलकर देख लेते हैं....और ट्रेन के चेकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चेकर को रोड़े और पत्थर से भाड़ा चुकाते हैं।"[६] 'अलग-अलग वैतरणी' में 'करैता' गाँव के जनजीवन में बन गई अलग-अलग वैतरणियों की कथा है, तो 'आधा गाँव' में 'गंगौली' गाँव के आधे हिस्से मे बसे मुस्लिम जन-जीवन की भीतरी बाहरी सच्चाइयों और परंपरागत यौन नैतिकता के तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। मायानंद मिश्र के 'माटी के लोग सोने की नैया' में कोशी नदी की उपधारा उदहा नदी के तट पर बसे 'नवटोलिया' गाँव में बसने वाले मछुओं के जीवन-संघर्ष की कहानी है, पर यह नवटोलियाँ गाँव कोशी के ही अंचल में बसे रेणु के 'परती परिकथा' के परानपुर गाँव से नितांत भिन्न समस्याओं से ग्रस्त है और इस गाँव के मछुओं की जीवन प्रणाली तथा उनके जीवन-संघर्ष उदय शंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' के 'बरसोवा' गाँव के मछुआरों से सर्वथा भिन्न है।

आंचलिक उपन्यासों के कथानकों की एक विशेषता है—आंचलिक समस्या-ग्रस्तता। उनके कथानक के निर्माण का धरातल व्यापक, बहुआयामी और वैविध्यपूर्ण होता है। उनमें सामयिक राजनीति से लेकर सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ, मानवीय रिश्ते तथा धार्मिक-नैतिक समस्या जैसी व्यापक मानवीय समस्याएँ होती हैं, लेकिन आंचलिक उपन्यासों के कथानक अनिवार्यतः उस सीमित क्षेत्र में रहने वाले लोगों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राजनीतिक आदि समस्याओं के आधार पर निर्मित होते हैं। ये आंचलिक समस्याएँ इतनी प्रबल एवं प्रभावशाली होती हैं कि

उनका तात्कालिक प्रभाव अंचलवासियों के जीवन पर पड़ता है और दूरगामी प्रभाव उनकी मानसिकता पर।[७]

रेणु का 'मैला आँचल' एक तरह से सम्पूर्ण आंचलिक समस्याओं का जीता-जागता चिड़ियाघर है। आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक और राजनीतिक—हर तरह की समस्या से ग्रस्त बिहार के पूर्णिया जिले का 'मेरीगंज' इस अंचल का प्रतीक है। यह यहाँ की भौगोलिक स्थिति और आबोहवा का प्रभाव है कि कालाजार और मलेरिया जैसी भयंकर बीमारियाँ यहाँ अड्डा जमाए रहती हैं। तभी तो "भूख, गरीबी, बीमारी और अन्धविश्वासों से पीड़ित लोगों को देखकर डा॰ प्रशांत रोगों की छान-बीन करने आया है। वह लोक-कल्याण करना चाहता है। मनुष्य के जीवन का क्षय करने वाले रोगों के मूल का पता लगाकर वह नई दवा का आविष्कार करेगा, जिससे सब रोग दूर हो जाएँगे।"[८]

'मैला आँचल' के कथानक-निर्माण में अंचलीय राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक समस्याओं की ऐसी-ऐसी सघन और संश्लिष्ट बुनावट है कि इसके एक-एक रेशे को अलग करना आसान काम नहीं है। "वस्तु-संरचना की इस रीति में विभिन्न प्रसंग, विभिन्न घटनावलियाँ परस्पर मिलकर नए-नए चित्र बनाती हैं और ये सभी चित्र ग्राम-जीवन के समग्र रूप को उजागर करते हैं।"[९]

'परती परिकथा' की कथावस्तु का फलक 'मैला आँचल' से भी अधिक व्यापक और समस्याग्रस्त है। इस उपन्यास के केन्द्र में परानपुर गाँव की समग्रता एवं मुख्यतः भूमि की समस्या है। 'परती परिकथा' का कथावृत्त धूल-धूसरित, वंध्या-वीरान परती धरती पर अधिकार के विभिन्न दावों, उपदावों, भूमि सम्बन्धी सरकारी सुधार नीतियों—लैण्ड सर्वे, चकबन्दी, जमींदारी उन्मूलन तथा इन समस्याओं से उत्पन्न अन्य अनेक समस्याओं से निर्मित है। धरती के लिए संघर्ष में जमींदार और किसान ही आमने सामने नहीं हैं, बल्कि एक ही परिवार के अलग-अलग सदस्य एक ही जमीन के लिए स्वार्थ की नंगी लड़ाई में कूद पड़े हैं। परानपुर गाँव मुकदमेबाजी, सामाजिक तनावों और सम्बद्ध परिवर्तनों की जकड़नों में बुरी तरह जकड़ गया है। "परिकथा स्वतन्त्रता के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन और भूमि के पुनर्विभाजन की पृष्ठभूमि पर ग्राम्य जीवन का चित्र है। अवश्य उसमें युगीन समस्याएँ हैं और इस युग के संस्कृत और विकृत दोनों चित्र उसमें चित्रित हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् युग की प्रवृत्तियों के समाहार का सफल प्रयास परिकथा करती है।"[१०]

अंचल के इन्सान इकाई नहीं, वर्ग बनकर आते हैं और अनेक खण्ड-चित्रों की तरह अंचल का एक सम्पूर्ण चित्र बनाते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आंचलिक उपन्यास में कथानक की सम्बद्धता पर ध्यान नहीं रखा जा सकता। अनेक मनुष्यों के

जीवन-वृत्त, भोगा हुआ यथार्थ-अनुभव और संघर्षरत रखती हुई अनेक समस्याएँ सब मिलाकर अंचल का कथ्य बनाते हैं। 'परती परिकथा' इसका उत्तम उदाहरण है।[११]

'परती परिकथा' पर प्रमुख आरोप ही यह लगाया जाता है कि उसमें केन्द्रीय कथावस्तु नहीं है। परन्तु आंचलिक कथा में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति होती ही नहीं। उसमें बिखराव की प्रवृत्ति होती है क्योंकि उसका उद्देश्य अंचल के जीवन को उसके समग्र रूप में प्रस्तुत करना होता है।[१२]

आंचलिक उपन्यासों में कथा का प्रारंभ और अंत अंचल से ही होता है अर्थात् यह अंचलधर्मिता आंचलिक कथा की प्रमुख प्रवृत्ति है। कथा समापन में मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं—[१३]

(क) परंपरागत रूढ़िवादी—सामंतवादी प्रवृत्तियों पर नई उभरती हुई प्रगतिशील चेतना की विजय और नई विकास योजनाओं द्वारा आंचलिक समस्याओं का समाधान तथा अंचल या गाँव की उन्नति। 'मैला आंचल', 'परती परिकथा', 'माटी के लोग सोने की नैया', 'सागर लहरें और मनुष्य' आदि का अंत ऐसा ही है। इनका समापन एक प्रकार की पूर्णता का आभास देता है।

(ख) प्रतिक्रियावादी—परंपरावादी शक्तियों-संस्थानों के साथ प्रगतिशील, विकासोन्मुख और नई चेतना-संपन्न शक्तियों-संस्थाओं के संघर्ष के बीच में ही उज्ज्वल भविष्य तथा दूसरे पक्ष की अवश्यंभावी विजय की ओर संकेत के साथ कथा समापन।

इस तरह समापन कथा की अपूर्णता या अधूरेपन का आभास देता है, यद्यपि संकेतों द्वारा संघर्ष की अनवरतता उद्देश्य की दृष्टि से एक प्रकार की पूर्णता ही कही जाएगी। 'बलचनमा', 'वरुण के बेटे', 'बाबा बटेसरनाथ', 'जल टूटता हुआ', 'सूखता हुआ तालाब', 'आधा गाँव', 'अलग-अलग वैतरणी', 'जंगल के फूल' और 'ब्रह्मपुत्र' आदि उपन्यासों में कथा-समापन में यही शिल्प दिखाई देता है।

चरित्र-चित्रण

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास मानव-जीवन के अधिक निकट रहने वाली विधा है। बेकर ने उपन्यास को गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या[१४] मात्र कहकर मानव जीवन के साथ उपन्यास के घनिष्ठ संबंध की घोषणा की है। हेनरी जेम्स ने यहाँ तक कह दिया है कि 'उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यह है कि वह जीवन के चित्रण का प्रयास करता है।'[१५] चूँकि मानव को उसके जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता, इसलिए उपन्यास का विषय मानव-जीवन बन जाता है। वस्तुतः स्टीफेन के इस कथन में बहुत सच्चाई

है कि "उपन्यास मनुष्य की यथार्थताओं से बना एक घर है।" प्रेमचंद ने उपन्यास को 'मानव जीवन का चित्र'[१६] भी कहा है।

आंचलिक उपन्यासों में पात्रों की सृष्टि तथा उनकी चरित्र-निर्माण-योजना के पीछे क्रियाशील लेखकीय कल्पना कई स्तरों पर परंपरागत उपन्यासों से भिन्नता लिए होती है। इसका प्रमुख कारण है लेखकीय दृष्टि-केन्द्र या उजागरीय-केन्द्र में परिवर्तनशीलता। किसी विशिष्ट अंचल की कहानी कहने या लिखने का विशिष्ट तात्पर्य उस अंचल के निवासियों की कहानी कहना होता है। अतः आंचलिक उपन्यासों में पात्र कल्पना की प्रमुख विशिष्टता समूह पात्र की सर्जना है। ऐसे उपन्यासों का उद्देश्य व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की कहानी कहना नहीं है, संपूर्ण अंचल की कहानी कहना होता है। अतः इन उपन्यासों में पारंपरिक उपन्यासों की तरह प्रधान पात्र या 'नायक' नहीं होता। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से इसकी नायक-शून्यता एक विशिष्टता है। "यहाँ अंचल स्वयं एक जीवंत विशिष्ट पात्र, समूह पात्र है और शेष सभी पात्र उसकी सामूहिकता के अंग हैं—मानो असंख्य पात्र स्वयं नहीं हैं, किसी के लिए हैं। इन असंख्य पात्रों का प्रतिनिधि प्रमुख पात्र—शास्त्रीय शब्दावली में नायक भी अंचल-रूपी महानायक के अधीन रहता है। इस तरह यह अंचल-पात्र सारे कथानक पर छाया रहता है और सभी पात्रों को संचालित करता रहता है।"[१७]

डॉ० जवाहर सिंह का पात्रों की बहुलता के संबंध में विचार है— "इस समूह पात्र की कल्पना के फलस्वरूप ही पात्रों का बाहुल्य और उनकी चरित्रगत विविधता आंचलिक उपन्यासों की दूसरी विशेषता बन जाती है। 'परती परिकथा', 'मैला आंचल', 'आधा गांव', 'अलग-अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'हौलदार' आदि उपन्यासों की विशाल-पात्र-सेना तथा उनकी चरित्रगत विविधता इसी बात की गवाही देती है। केवल आत्मकथात्मक (कब तक पुकारूं, बाबा बटेसरनाथ, बलचनमा तथा चरित्र-प्रधान से लगने वाले उपन्यासों दुःखमोचन, आदित्यनाथ, रतिनाथ की चाची) में पात्रों की संख्या उतनी अधिक नहीं है, फिर भी सामान्य परंपरागत उपन्यासों की पात्र संख्या से बहुत अधिक तो हैं ही।"[१८]

पात्रों की अधिकता सोद्देश्यपूर्ण है। आंचलिक जीवन को समग्रता में उभारने के लिए ऐसी योजना होती है। "अंचल की विविधता को रूप देने के लिए लेखक कभी इस कोण पर खड़ा होता है, कभी उस कोण पर, कभी ऊँचाई पर, कभी निचाई पर।"[१९] इसमें अनेक पात्रों की आवश्यकता होती है—हर पात्र की सत्ता का महत्व है। गाँवों में अत्याचार और शोषण के दंश और उसकी प्रवृत्तियाँ दिखाने के लिए ही 'अलग अलग वैतरणी' में जैपाल सिंह, 'पानी के प्राचीर' में राजेन्द्र बाबू, 'जल टूटता हुआ' में महीप सिंह, 'लोहे के पंख' में बच्चा बाबू, 'बलचनमा' में छोटे

मालिक, मंझले मालिक, 'रथ के पहिये' में मालगुजार धनपाल, 'नेपाल की वो बेटी' में जिम्मावाल महेन्द्र हमाल ऐसे पात्रों की सृष्टि हुई है। इनके नाम भले ही अलग-अलग हैं पर चेहरे और गुण एक ही हैं। ग्रामीण दलबंदी, टुट्‌टी अधकचरी राजनीति, धूर्तता और स्वार्थ की जैसी घिनौनी कालिख 'परती परिकथा' के लुत्तो और 'जल टूटता हुआ' के रामकुमार के चेहरों पर पुती है, वैसो ही 'पानी के प्राचीर' के मुखिया, 'अलग अलग वैतरणी' के हरिया और सिरिया के चेहरों पर भी पुती हुई है।

ग्रामीण विकास के लिए संघर्षरतता एवं प्रगतिशीलता को मानसिकता लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों के वैसे चरित्रों में एक जैसी देखी जाती है, चाहे वह दुखमोचन 'दुःख मोचन', नीरू 'पानी का प्राचीर', जगन मिसिर, खलील मियाँ और विपिन 'अलग-अलग वैतरणी' या सतीश 'जला टूटता हुआ', डॉ० प्रशांत, कालीचरण 'मैला आंचल', साल कुसाए 'जंगल के फूल', मन्नो मुन्ने 'सत्ती मैया का चौरा' और भोला माँझी हों। पात्रों की विशिष्टता की दृष्टि से विचार करें, तो 'मैला आंचल' के जोतखी जो, खलासी जी, 'रतिनाथ की चाची' का भोला पंडित तथा लोक परलोक के शंकरानंद ग्रामीण जीवन में व्याप्त अंधविश्वास, जादू-टोना और धार्मिक पाखंड का उद्‌घाटन करते हैं। 'बबूल' विवेकीराय के मनबोध मास्टर तथा 'जल टूटता हुआ' के सुगन मास्टर की पीड़ाएं और मानसिकता समान हैं।[२०]

इन उपन्यासों में सभी पात्रों के समग्र व्यक्तित्व का आकलन, विवेचन नहीं होता, अंचल विशेष की प्रवृत्तियों के दिग्दर्शार्थ माँग के अनुरूप होता है। "आंचलिक उपन्यासकार के पात्रों के रूपाकार में स्थानीय विशेषता और बहिरंग में स्थानीय वेश-भूषा की अनिवार्यता परिलक्षित होती है। इन पात्रों में अंचल का अंतरंग आत्म और बाह्य जीवित रूपाकार का ही मानवीकरण होता है, इसलिए वे जीवित और चेतन होते हैं। उपन्यास में अंकित जीवन को वे स्वयं जीते हैं। केवल प्रतिनिधित्व ही नहीं करते, वरन् उसे गति भी प्रदान करते हैं।"[२१] उनकी आंतरिकता का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए, तो अन्य आंचलिक उपन्यासों से भिन्न वैयक्तिक गुण और प्रवृत्तियाँ भी परिलक्षित होंगी। 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' के पात्रों में वर्गीय और वैयक्तिक गुणों-दुर्गुणों का समन्वय सर्वाधिक कलात्मक रूप में हुआ है। "रेणु के पात्रों में वर्गीय तथा व्यक्तिगत विशेषताओं का अद्‌भुत समन्वय हुआ है, जिससे अंचल-चित्रण के उद्देश्य साधन के साथ ये अपनो व्यक्तिगत सजीवता से भी पाठकों को प्रभावित कर सके।"[२२] 'मैला आंचल' के डॉ० प्रशांत तथा विश्वनाथ तहसीलदार और 'परती-परिकथा' के जितेन्द्र, शिवेन्द्र मिश्र तथा कामरूप नारायण सिंह, 'अलग-अलग वैतरणी' के जमींदार जैपाल सिंह, बुझारथ तथा त्रिपि।

और 'जल टूटता हुआ' तथा 'पानी के प्राचीर' के महीप सिंह तथा गजेन्द्र सिंह अपने सामंती संस्कारों और उच्चवर्गीय प्रवृत्तियों के कारण एक ही वर्ग में भले ही रखे जाएँ, परन्तु उनके चरित्र की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। वे उन्हें अलग-अलग व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। डॉ० प्रशांत को उसकी 'मिट्टी और मनुष्य की मुहब्बत' अपने वर्ग से अलग खींच लाती है और विश्वनाथ तहसीलदार को उसकी उदारता और सहृदयता, 'जित्तन जिद्दा की जिद्द' के कारण अलग से पहचाना जाता है। इस टूटते हुए गाँव में 'साबुत' और 'सनकी' आदमी भी एक-मात्र वही है।[२३]

शिवेन्द्र 'बिना ताज का बादशाह' है।[२४] लेकिन मिस्टर स्टोन की नजर में 'मोस्ट बदमास''''नोटोरियस और क्रिमिनल'[२५] है तथा मिसेज और मिस रोजउड के शब्दों में 'मक्खन जैसा मनवाला'[२६] है। जैपाल सिंह जमींदार होने के नाते गाँव वालों के लिए 'बूढ़ा बाप'[२७] है, पर बदली हुई परिस्थितियों में राजनीति के नए पैतरे खेलने में भी कम कुशल नहीं है। विपिन अपने ही मन के भीतर अतल में छिपे मिथ्या, प्रतिष्ठा और खानदानी बड़प्पन के जोम से हारते[२८] रहने वाला, 'निर्णय-भीरू', 'डरपोक' और 'सुविधा पसंद' है।[२९] बाबू महीप सिंह 'जड़ आदमी है', जो 'बदले हुए जमाने को नहीं समझते''' भीतर से सब कुछ टूटता जा रहा है, लेकिन बाबू महीप सिंह के कान बंद हैं, आँखें मुंदी हैं, इनके पास गाली है, मुक्का है, लात है और''''।'[३०]

आंचलिक जीवन से संयुक्त होकर चलने वाले मध्यवर्गीय पात्रों के दो रूप हैं—भले और बुरे। भले पात्र 'व्यक्ति' अधिक और बुरे पात्र 'टाइप' अधिक हैं। 'मैला आंचल' में बालदेव, लक्ष्मीदासी त्याग एवं तपस्यामय जीवन व्यतीत कर रही है। अनपढ़ होते हुए भी ज्ञान की बात समझती है। कालीचरण सच्चे जन-सेवक तथा जननेता के रूप में विकसित हुआ है। 'परती परिकथा' की मलारी चमार जाति में उत्पन्न होते हुए भी मध्यवर्गीय पात्र है—शिक्षित और सुचरित्र भी। अपने पिता की सीमाएँ वह जानती है, ''चिड़चिड़ा है, मदक्की है लेकिन गांव के बहुत भले लोगों से अच्छा है उसका बाप।''[३१]

परिवार तथा गांव के प्रति उसमें अनुपम प्रेम है। 'सत्ती मैया का चौरा' में मन्ने तथा मुन्ने नवीन जागृति के प्रतीक हैं। दोनों ही सांप्रदायिकता एवं गंदी राजनीति से दूर रहते हैं। 'रथ के पहिये' में मंडल पटेल नई चेतना के प्रसार में सहयोग देता है।[३२]

बुरे पात्र सामान्यतः एक जैसे हैं। 'परती परिकथा' के गरुड़धुज झा एवं 'मैला आंचल' के जोतखी जी और रामदास, 'लोक परलोक' के स्वामी शंकरानंद

और ललिता प्रसाद भ्रष्टाचार, पाखंड और लोलुपता में एक जैसे । हैं अन्य सामान्य पात्रों में 'सत्ती मैया का चौरा' का मन्ने का विरोधी कैलाश, 'परती परिकथा' का जितन का विरोधी लुत्तन खवास, 'सागर लहरें और मनुष्य' का माणिक, 'पानी के प्राचीर' का नीरू का विरोधी कुबेर पाण्डे और महेश, 'हौलदार' का डूंगर सिंह, 'रतिनाथ की चाची' का जयनाथ, 'सूरज किरन की छांह' का जोसेफ उद्देश्यों में हीन तथा आचरण में भ्रष्ट है।[३३]

आंचलिक उपन्यासों की चरित्र कल्पना में एक और भी विशिष्टता परिलक्षित होती है। पात्रों के बहिरंग चित्रण में स्थानीय वेश-भूषा तथा उनके रूपाकार मे आंचलिक या स्थानीय विशिष्टता आंचलिक उपन्यासकार अपने पात्रों को अंचल की विशिष्ट गंध, रूप-रंग वाली मिट्टी से गढ़ता है। उन्हें आंचलिक वेश-भूषा से सजाता है और आंचलिक उपादानों से ही उनके बाह्य रूपाकारों का निर्माण करता है। तभी 'बलचनमा' में किसी के 'दाँत दनुफ के फूल जैसे झक झक कर रहे हैं' [४] और किसी का 'चेहरा एकाएक सफेता मालदह जैसा'[३५] हो जाता है, किसी की 'दिया जैसी नाक' और 'खस की कूची के बाल'।[३६] 'परती परिकथा' के शिवेन्द्र मिश्र का रक्तचंपा की तरह शरीर का रंग, लाल होंठ, छोटी-छोटी किंतु संवरी हुई मूछें, गाढ़े लाल रंग की धोती, केसरिया रेशमी मिर्जई, ढाकाई झीनी चदरी, जिसके छोर पर सुनहरी कारीगरी[३८] देखते ही कोई दूर से पहचान सकता है कि यह मिथिलांचल का ही कोई संभ्रांत पुरुष है।

बहिरंग-चित्रण में एक बात ध्यातव्य है कि निम्नवर्गीय पात्रों के चित्रण में आंचलिकता या स्थानीयता का रंग जितना गाढ़ा होता है उतना उच्चवर्गीय पात्रों के चित्रण में नहीं। 'परती परिकथा' में अपूर्व सुंदरी ताजमनी की बाह्य आकृति में स्थानीय विशिष्टताएँ लेशमात्र भी नहीं दिखाई देतीं। "सुडौल शरीर और सुघड़ बनावट, चंपई रंग और बालिका सुलभ चेहरा, मेघवर्ण कुंचित केश-पाश, आँखों में परिपूर्ण प्राणों की गहरी छाया.... अजान सुजान उसे षोड़शी समझते हैं, किंतु गाँव की सोलह वर्ष की कन्याओं से वह बीस साल बड़ी है।"[३८]

परंतु 'मैला आंचल' में हलवाहे विरंची का बहिरंग चित्र बिल्कुल स्थानीय रंग में रँगा हुआ दिखाई देता है—"उसकी सूरत दियासलाई की डिबिया में जैसे हलवाहे की छापी रहती है—एकदम दुबला-पतला, काला-कलूटा, कमर में बिस्ठी वैसी ही है।[३९] 'माटी के लोग सोने की नैया' में रमेसर को हीतलाल का 'मुँह बड़ा कोमल-सा लगता है, भैंस के तुरत तुरत ब्याये हुए पड्डू की तरह।'[४०]

उच्चवर्गीय पात्रों में एक विशिष्टता दिखाई देती है। वे जन्म से आभिजात्य और उच्चवर्गीय हैं, परतु शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव तथा संवेदनशीलता के कारण ;

अपने वर्गीय चरित्र से भिन्न प्रगतिशील, सिद्धांतवादी और आदर्शवादी चरित्र बन गए हैं। 'मैला आंचल' का डॉ० प्रशांत निश्चित रूप से एक उच्चवर्गीय पात्र है, पर वह उच्चवर्गीय विशिष्ट चरित्र का प्रतिनिधि नहीं। उसे गाँव की मिट्टी से मुहब्बत है'[१], उसे गांव वालों की गरीबी, अशिक्षा और अंधविश्वास देखकर दुःख होता है। उसके अंदर की 'मिट्टी और मनुष्य से गहरी मुहब्बत' उसे ग्रामीणों के बीमार तन और बीमार मन के इलाज के लिए प्रेरित करती है और वह 'आंसू से भींगी हुई धरती पर प्यार की खेती' करने के लिए तथा 'एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये होंठों पर मुसकुराहट लौटाने'[४२] के लिए अपनी जिंदगी समर्पित कर देता है।[४३]

जितेन्द्र का चरित्र भी लगभग वैसा ही है। वह परानपुर के पतनीदार शिवेन्द्र मिश्र का पुत्र, स्वयं पतनीदार, खूब पढ़ा-लिखा, राजनीति कुशल तथा अपने हर आचार-व्यवहार और विचार से अभिजातवर्गीय लगता है। उसका जीवन एक राज-नीतिक क्रान्तिकारी के रूप में प्रारम्भ होता है, पर राजनीतिक पार्टी द्वारा पिस दिये जाने पर पारस्परिक शक्ति-संघर्ष की घिनौनी राजनीति उसे पसन्द नहीं आई। फलतः त्यागपत्र देकर उसे लुत्तो तथा शिवभद्दर जैसे 'राजनीतिक लंगीबाजों' से डटकर संघर्ष करना पड़ता है। परानपुर में सबका विरोध पाकर भी अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़ता, आदर्श के प्रति प्रतिबद्धता और सच्ची लगनशीलता के फलस्वरूप वह वीरान परती धरती पर गुलाब की खेती करने में सफल हो जाता है। सामन्ती परम्परा को ढलते देखकर नये आलोक को पहचानकर वह परिस्थिति से समझौता कर लेता है।[४४]

निष्कर्षतः वर्गगत पात्रों की प्रधानता के बावजूद उनके वर्गीय चरित्र का ही चित्रण नहीं हुआ है, पात्र की वैयक्तिक विशिष्टता का भी रेखांकन हुआ है। आंचलिक उपन्यासों में सर्वप्रधान पात्र अंचल ही होता है तथा अन्य सभी पात्र उस अंचल नायक के संश्लिष्ट जीवन के विविध पक्षों के परिचायक। इसलिए उन सबके समवेत् चरित्र का अंचल-नायक के बहुआयामी चरित्र में पूर्णतः पर्यवसित हो जाने में ही उनकी सार्थकता है।

। संवाद

आंचलिक उपन्यासों में स्वयं अंचल ही एक वैशिष्ट्यवान पात्र के रूप में उपस्थित रहता है, जिसका व्यक्त रूप 'समूह पात्र' होता है। यह समूह पात्र अंचल के भिन्न-भिन्न पात्रों या विविध व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों का समूह होते हुए भी एक स्वतन्त्र और विशिष्ट व्यक्तित्व 'सामूहिक व्यक्तित्व' वाला हो जाता है। जब यह समूह पात्र बोलता है, तो अंचल का प्रतिरूप बोलता है अर्थात् अंचल अलग-अलग लोग नहीं, स्वयं अंचल ही बोलता है।

रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में पहली बार इस समूह पात्र

को उपन्यास के रंग-मंच पर जीवंत पात्र के रूप में उपस्थित किया गया है और इसके वार्तालाप में सक्रिय हिस्सा भी लिया। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासकारों ने 'समूह वार्ता शैली' नाम की एक विशिष्ट शैली का निर्माण किया है। 'मैला आंचल' से इसका एक उदाहरण ध्यातव्य है—

"कॉमरेड वासुदेव और सुन्दरलाल भी गिरिफ्फ....कैसे नहीं गिरफ्फ होगा भाई ! एक साल पहले तक किसी ने कभी गंजी भी पहनते नहीं देखा सुनरा को, सो इस गरमी के मौसम में कोट, पैंट, गुलबन, मोजा, जूता, चश्मा लगाकर कटिहार जंकशन के मुसाफिरखाना में बैठने से लोग संदेह नहीं करेंगे ?....सुनते हैं आधा घण्टा में ही दोनों ने करीब-करीब सभी फेरी वालों को बुलाया और सौदा किया, 'ए चाहवाला सुनता है नहीं ? देहाती समझ लिया है क्या ?" चाह लाओ। बिस्कुट। बिस्कुट खाओगे जी सुन्नर ? अरे थड़किलासी बिस्कुट क्या खोओगे जी।' कटिहार के फेरी वाले कैसे चांई होते हैं, सो सबों को मालूम है। उन लोगों ने बहुत बड़े-बड़े लोगों को देखा है, पर ऐसा नहीं। भिखमंगे को चौअन्नी दे दिया, 'जाओ नाश्ता कर लो।' ... बस, सी० आई०डी० कहाँ नहीं हैं। तुरन्त दोनों को गिरफ्फ कर लिया। भगवान जाने अब और किसका-किसका नाम गिनाता है।

बासुदेव कालीचरण का भी नाम बताया है, सुनते हैं।

'ए....! कालीचरण है कहाँ ?'

'मंगला देवी को कटिहार रखने गया है।'[४४]

इस उद्धरण में समूह पात्र के संवाद की दो विशिष्ट शैलियों के रूप दिखाई देते हैं। कौन किससे बोल रहा है और किसको जवाब देता है, इसमें कुछ भी पता नहीं लगता, मानो अंचल-समूह में ही यह संवाद हो रहा हो। परन्तु आरम्भिक पंक्तियों में ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति जिज्ञासा भी करता है और उसकी व्याख्या भी, फिर दोनों अनुपस्थित पात्रों के संवाद का प्रस्तुतीकरण भी स्वयं करता है। परन्तु अन्त की पंक्तियाँ से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संवाद में दो या दो से अधिक आदमी शामिल हैं। परन्तु उनके नामोल्लेख बिना भी वार्तालाप चलता है। समूह-पात्र की यह वार्तालाप शैली आंचलिक उपन्यासों की एक नई देन है। रेणु के उन्पयासों के अतिरिक्त रामदरश मिश्र, शिवप्रसाद सिंह तथा मायानन्द मिश्र के उपन्यासों में भी वार्तालाप की यह शैली अपनायी गई है।[४५]

आंचलिक उपन्यासों के वार्तालाप में शैलीगत विविधता उसके पात्रों के विभिन्न सामाजिक और मानसिक स्तरों के कारण उत्पन्न होती है। 'मैला आंचल' में डॉ० प्रशान्त, कमला और तहसीलदार के बीच आपसी संवाद में जिस भाषा-शैली का रूप दिखाई देता है, उससे सर्वथा भिन्न रूप कालीचरण, बालदेव जी, फुलिया

की माँ तथा जोतखी जी के संवाद में दिखाई देता है। इसी प्रकार की भिन्नता जितेन्द्र और लुत्तो खवास (परती : परिकथा), बिपिन, जग्गन मिसिर, खलील मियाँ आदि ('अलग-अलग वैतरणी') की भाषा-शैली मे भी दिखाई देती है या अन्य कई उपन्यासों के भिन्न-भिन्न मानसिक सामाजिक स्तर के पात्रों में भी। इसका एकमात्र कारण यही है कि यथार्थवादी शैली अपनाने के कारण आंचलिक उपन्यासकार पात्रानुकूल भाषा-शैली वाले नियम का पूरी गम्भीरता से पालन करते हैं।

'परती परिकथा' में शैली के वैयक्तिक स्वरूप को प्रकट करने के लिए विभिन्न पात्रों के संवाद में बोलने के लहजे, शब्दों के विशिष्ट उच्चारण और यहाँ तक कि तुतलाने और नकियाकर बोलने का भी भेद दिखलाया गया है—

सुचितलाल मरड़ नाक के स्वर से बोलता है--

'हुंजूंर, बांबू सुंचितर लांल मडंर पैसंर बांबू विंचितर लांल ।'[४७]

मकबूल ज़ को ज, क़ को क और ग़ को ग़ कहता है। झिम्मल मामा ने अपनी एक अलग ही टेकनिकल भाषा बना ली है। अँग्रेजीनुमा उच्चारण वाले निरर्थक शब्दों से युक्त—झिम्मलीय भाषा-शैली 'कोच्छ नहीं, कोच्छ नहीं, आल एडेल्ट्रेशन विदाउट लिमिटेशन··· होल्डिंग डांग-ओ सावेज वाल्ह ।'[४८]

स्वगत संवाद में शैली सामान्यत: भावात्मक होती है, पर पात्र का वैयक्तिक वैशिष्ट्य उभर ही आता है। प्रशान्त के एक स्वगत संवाद का उदाहरण उल्लेखनीय है—

'··· वेदान्त····भौतिकवाद··· ···सापेक्षवाद······मानवतावाद हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याध के तीर से जख्मी हिरण-शावक-सी मानवता की पनाह कहाँ मिले ?···हा···हा···! अट्टहास। व्याघ्रों के अट्टहास से आकाश हिल रहा है। छोटा-सा, नन्हा-सा हिरण हँफ रहा है। छोटे फेफड़े की तेज धुकधुको।···· नोलोत्पल। नहीं, नहीं ! यह अँधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूंजती है—पवित्र वाणी। उन्हें प्रकाश मिल गया है तेजोमय।'[४९]

प्रबुद्ध पात्र के इस संवाद में तत्सम शब्दों से निर्मित बिम्बात्मक भाषा-शैली, छोटे-छोटे वाक्य, एक-एक शब्द के वाक्य, गहरे अर्थ संकेतों से भरे वाक्य हैं। आंचलिक उपन्यासों के संवादों में शैलीगत विशिष्टता एक प्रमुख कारण है—आंचलिक या स्थानीय भाषा-बोली के शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा विकृत स्वरूप वाले अंग्रेजी, हिन्दी के बहुतायत प्रयोग के अतिरिक्त उन स्थानीय भाषा-बोलियों की विशिष्ट रचना पद्धति, उनकी लय तथा टोन और कथन-भंगिमाओं का अपना विशिष्ट स्वरूप। एक फौजी के संवाद में उसके वैयक्तिक वैशिष्ट्य के साथ उसके पेशे से जुड़ी

शब्दावली द्रष्टव्य है—"मन की विरक्ति को डूंगर सिंह ने होठों और भवों को तिरछा कर व्यक्त किया—'गाँधी महाराजा की लाम जब से बनी, सिपाहियों की फुड़फुड़ाहट जैसी हो गई, सैपर मर जाये—लाठी चलाने, बन्दूक चलाने की टरेनिंग एक टैम एक हो गया। अरे, भला बन्दूक की सात जात की मशीनरी जब इस लाम के हपसर नहीं समझते, तब सिपाहियों को क्या समझाएंगे ?…और चाँदमारी की फैर करने की कही, तो लगा आसन, पड़ोसी थाल छोड़ के दौड़ो।…यहाँ तो बस सिपाही की छठी हुई नहीं, कि कुकमारच, डबल मारच और चाँदमारी की फैर… अरे ऐसी हांक द्दांक तो जर्मनी जपैन की लड़ाई के बखत भी नहीं हुई होगी ?……"[५०]

कई बार ऐसा होता है कि एक ही अनुच्छेद में बिना पंक्ति बदले बातचीत इस प्रकार हो जाती है जैसे यह विवरण का ही एक अंश हो। इस शैली का सबसे अधिक प्रयोग नागार्जुन ने किया है। 'रतिनाथ की चाची' में लगभग एक पृष्ठ के एक अनुच्छेद की अन्तिम पंक्तियों में वार्तालाप इस प्रकार दबा हुआ है—

'एक बार पंचगंगा घाट पर बैठे-बैठे सुशीला ने कहा—बहता पानी ही धार कहलाता है। देखो सुबह-शाम हजारों आदमी नहाने आते हैं। मगर तुम जिस जात में, जिस समाज में पैदा हुए हो, वह जिन्दा नहीं मुर्दाघर है….।'[५१]

इसमें उद्धरण चिह्नों का प्रयोग भी नहीं है। इसलिए कई बार वार्तालाप विवरण के साथ मिल जाते हैं। परन्तु वार्तालाप का रूप उस समय बिल्कुल परिवर्तित हो जाता है जब यह पता ही नहीं लगता कि वास्तव में वार्तालाप हैं या उपन्यासकार के कथन। यथा—

'सचमुच गियानी आदमी हैं बालदेव जी। आन्डोलन, अनसन और….और क्या ?… हिंसाबात ! किसी ने समझा ? गियान की बोली समझना सभी के बूते की बात नहीं।'[५२]

यह बात किसी के कहे बिना सबके मन की है। उपन्यासकार ने इसे अपनी ओर से इस प्रकार कहा है कि वह सभी के मुँह की बात लगे। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के दरवाजे पर पंचायत बैठी है—

'ओ ! यह पंचायत सिरफ बेजमीन वालों को ही सीख देने के लिए बैठाई गई है !… चुप रहो ! तहसीलदार जो कह रहे हैं नहीं समझ रहे हो ! पक्की बात कहते हैं तहसीलदार !….काबिल आदमी हैं…!'[५३]

इसमें लेखक की मौन सम्मति का भी आभास मिलता है, यद्यपि इसकी अनिवार्यता आवश्यक नहीं। भावनापूर्ण उपन्यासों में पूरे-पूरे खण्ड के इस प्रकार के वार्तालाप ग्रीक नाटकों के 'कोरस' का कार्य सम्पन्न करते हैं।

आंचलिक बोलियों, भाषाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव संवादों पर पड़ता है। भोज-

पुरी, मैथिली, अवधी, कुमायूंनी, ब्रजी, गोंड तथा भीलों की बोलियों और बारसोवा के मछुओं की विशिष्ट बोली (सागर लहरें और मनुष्य), कुल्लू घाटी की बोली (आदित्यनाथ), मणिपुरी भाषा (मुक्तावली) एवं असमिया भाषा (ब्रह्मपुत्र) आदि के प्रभाव से संवादों की शैली अलग-अलग स्वरूप धारण कर लेती है।

भारत के पूर्वी प्रदेशों के विभिन्न अंचलों पर आधृत आंचलिक उपन्यासों के वार्तालाप की शैली पर पूर्वी हिन्दी (भोजपुरी, मैथिली आदि) की शैलीगत विशेषताएँ प्रभाव डालती हैं। वाक्य-गठन में समान ध्वनि वाले शब्द-युग्मों की प्रधानता परिलक्षित होती है—मेला-ठेला, गाछ-बिरिछ, दबा-बिरो, घास-पात, खेती-बारी, माल-जाल आदि। कुछ विशिष्ट आंचलिक गालियों का प्रयोग स्थानीय बोलियों की स्वाभाविकता में शामिल है—

'...स्साले मुसहर[५४], ...स्साला घमण्डी। मादर चो...ने बकरी का मूता पिया था।'[५५]

आंचलिक बोलियों के बहुत सारे मुहावरे लगते अश्लील हैं शब्द प्रयोग के स्तर पर। अर्थ-स्तर पर सारगर्भित हैं। वार्तालाप की शैली को ये मुहावरे विशिष्ट आंचलिक रंग प्रदान करते हैं। मिथिलांचल के पात्रों का तकियाकलाम है 'जुलुम'। फलतः 'जुलुम बात, जुलुम हँसी, जुलुम खुसी'।[५६]

संवादगत शब्दों के उच्चारण के रूप में ही आंचलिक प्रभाव नहीं, क्रिया-रूप तथा वाक्य-रचना में भी उसे देखा जा सकता है—किदर (किधर), मग (मगर), कू (को), ई (ही), तो (तो), रैंगा (रहेगा), बी (भी), काय (क्यों) आदि।[५७]

संवाद की उपर्युक्त शैलीगत विशेषताएँ आंचलिक उपन्यासों की शैली-शिल्प के क्षेत्र में नई उद्भावनाएँ और विशिष्ट देन हैं। इनसे परम्परागत शैलियों का आयाम तो विस्तृत हुआ ही है, लोकभाषा की ताजा शिल्प-विधियों से हिन्दी-भण्डार भी समृद्ध हुआ है।

कथा-शैली

उपन्यास की वस्तु से तात्पर्य उसकी विषयवस्तु है, जो कहानी के रूप में रूपायित होती है। उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है यह। इ० एम० फास्टर ने इसे उपन्यास का आधारभूत तत्व कहा है—'उपन्यास मे कहानी होती ही है। यह उसका आधारभूत तत्व है, जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। यह सभी उपन्यासों में महत्तम समापवर्त्य है, पर मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यदि यह तत्व न होता, तो यह कुछ और होता—संगीत माधुरी, सत्यानुभूति, न कि यह प्राचीन रूप-विधान।'[५८]

कथा का स्वरूप अलग-अलग उपन्यासों में कथा की प्रवृत्ति या कथावस्तु की

माँग और उपन्यासकार के दृष्टिकोण के अनुसार बदलता रहता है। वह स्थूल-सूक्ष्म, प्रमुख-गौण, सुगठित या ढीली, शृङ्खलित-विशृङ्खलित, तीव्रगतिशील-मंथरगतियुक्त हो सकती है। इसलिए कथावस्तु की संरचना के अनुसार उपन्यासों के दो भेद किए जा सकते हैं।

(क) जिनकी कथावस्तु असम्बद्ध, विशृङ्खलित और मंथरगतिशील होती है (नावेल्स आफ लूज प्लॉट)

(ख) जिनकी कथावस्तु सुशृङ्खलित, सुगठित और गतिशील होती है (नावेल्स आफ आरगेनिक प्लॉट)

आंचलिक उपन्यासों की कथा में बिखराव, कथानक की मंथरगतिशीलता तथा एकसूत्रता का अभाव आदि शिल्पगत नवीनता के द्योतक हैं। अंचल-केन्द्रित कथा की यह स्वाभाविक परिणति है। डा० जवाहरसिंह कथा-शैली की विशिष्टता के दो पहलू स्वीकार करते हैं—[५९]

(क) कथावस्तु उपादानों की विशिष्टता।

(ख) कथावस्तु उपादानों की संगठनात्मक विशिष्टता अर्थात् वस्तु संयोजन-शिल्पगत वैशिष्ट्य।

'मैला आँचल' की कथाभूमि मेरीगंज अपनी कई विशिष्टताओं के कारण पूर्णिया जिले या बिहार के कई गाँवों से भिन्न दिखाई पड़ती है। 'परती परिकथा' दुलारीदाय के अंचल में फैले धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर-बंध्या धरती, परती जमीन की कथा के अलावा उस परानपुर गाँव की व्यापक जीवन-कथा भी कहती है। उस गाँव की विशिष्टता बताने के लिए कथा का एक सूत्र ही पर्याप्त है—

'लोग यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पॉकेट बार-बार टटोलकर देख लेते हैं...और ट्रेन के चेकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चेकर को रोड़े और पत्थर से भाड़ा चुकाते हैं।'[६०]

अपनी ग्राम-केन्द्रित कथावस्तु और कतिपय स्थानीय रंग और संस्पर्शों के कारण कुछ उपन्यास भ्रमवश आंचलिक मान लिए गए हैं। उनकी कथावस्तु न तो अंचल-केन्द्रित है और न आंचलिक शिल्प की अन्य विशिष्टताएँ ही इनमें हैं। ऐसे उपन्यासों में 'जुलूस' और 'दीर्घतपा' (रेणु), 'कोहबर की शर्त' (केशवप्रसाद मिश्र), 'बया का घोंसला और साँप' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'सत्ती मैया का चौरा' और 'गंगा मैया' (भैरवप्रसाद गुप्त), 'साँप और केंचुल' (जवाहर सिंह), 'दो अकाल गढ़' (बलवन्त सिंह), 'सेठ बांकेमल' (अमृतलाल नागर) एवं 'मलैय' (गोविन्द सिंह बल्लभ) के नाम परिगणनीय हैं।

अधिकांश उपन्यासों की कथावस्तु भूमि से सम्बन्धित है। इसलिये कि भूमि भारतीय ग्रामीणों का जीवन-केन्द्र है, जिसके द्वारा उनकी सामाजिक और नैतिक समस्याएँ निर्मित और विघटित होती रहती हैं।[६१] 'परती परिकथा' और 'मैला आँचल' में भूमि-समस्या उभर कर सामने आई है। आंचलिक समस्याओं को समग्रता में उभारने और उसे औचित्य की वाणी देने में 'मैला आँचल' को उद्धरित किया जा सकता है। उसकी कथा का मूल बिन्दु आंचलिक समस्याओं से साक्षात्कार ही है। रेणु का 'मैला आँचल' तो एक तरह से सम्पूर्ण आंचलिक समस्याओं का चहचहाता चिड़ियाघर है।'[६२]

'मैला आंचल' की कथा में अंचलीय राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक तथा प्राकृतिक समस्याओं की ऐसी संश्लिष्ट और सघन बुनावट है कि उसके एक-एक रेशे को अलग करना आसान काम नहीं है। 'वस्तु संरचना की इस रीति में विभिन्न प्रसंग, विभिन्न घटनावलियाँ परस्पर मिलकर नये-नये चित्र बनाती हैं और ये सभी चित्र ग्राम-जीवन के समग्र रूप को उजागर करते हैं।'[६३] ये सभी समस्याएँ पूर्णतः आंचलिक और यथार्थवादी हैं।

'परती : परिकथा' की मूलकथा धरती तक ही सीमित नहीं रहकर ग्रामीण मन की परती की भी कथा कहती चलती है। प्रमुख पात्र जितेन्द्र कहता है—'बेचारी जनता का क्या दोष? ऊपर से थोपे हुए सुख को वे क्या समझे? मन की परती ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है। वीरान होती जा रही है। लगता है, मन को छूने वाला मन्त्र ही हम भूल गये हैं।'[६४]

नागार्जुन के 'दुःखमोचन', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' और 'बलचनमा'—सभी उपन्यासों का कथांचल मिथिलांचल ही है। यद्यपि मिथिलांचल उत्तरी बिहार का ही एक क्षेत्र है और रेणु का 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' की कथा-भूमि पूर्णिया जिले के कोशी अंचल के बहुत करीब है, फिर भी मिथिलांचल की कुछ खास सांस्कृतिक-सामाजिक और भौगोलिक विशिष्टताएँ हैं।

कथा की योजना करते समय कल्पना और यथार्थ को भावना की पृष्ठभूमि पर अंकित किया जाता है। जितना ही शुद्ध आंचलिक उपन्यास होगा, भावना की पृष्ठभूमि उतनी ही अधिक मुखर होगी।[६५] आंचलिक उपन्यासों में कई बार कोई मानवीय कथा आधिकारिक कथा लगने लगती हैं। इसके दो कारण हैं—(क) पात्र विशेष का प्रखर व्यक्तित्व (ख) पात्र विशेष का भावात्मक निरूपण। इन दोनों ही स्थितियों में कोई एक कथा अन्य कथाओं की अपेक्षा प्रमुखता पा लेती है—यथा 'मैला आंचल' में डा० प्रशान्त व कमला की कथा अथवा 'परती : परिकथा' में जितन व ताजमनी की कथा, 'सागर लहरें और मनुष्य' में रत्ना की कथा, 'कब तक पुकारूँ'

में मुखराम की कथा, 'आठवीं भांवर' में सदानन्द की कथा आधिकारिक कथा होने का आभास देती है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।[६६]

डा० प्रशान्त व कमला की कथा तथा जितन व ताजमनी की कथा दोनों ही उपन्यासों की अत्यन्त गौण कथाएँ हैं, परन्तु अनुभूति की जिस गहराई से इन चारों पात्रों का चित्रण किया गया है वे हमारी भावना को इस सीमा तक जाग्रत कर देते हैं कि उनकी कथाओं में हमें गहरी रसानुभूति प्राप्त होने लगती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मेरीगंज के जीवन एवं समस्याएँ तथा परती भूमि की कथा महत्व खो बैठती है।[६७]

आंचलिक उपन्यासों की कथा की प्रेरणा स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी आई है। 'मुक्तावर्ती' का कथानक मणिपुर की घाटी में बसे मैतई जाति की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों की कथा कहता है। यहाँ की प्रमुख समस्या है मैतई जाति के लोगों का अन्य प्रान्तों से आये व्यापारियों तथा नौकरी-पेशा लोगों के साथ कटुतापूर्ण सम्बन्ध और मणिपुर नरेश के विरुद्ध राजनीतिक-आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए जोरदार संघर्ष। उपर्युक्त समस्याओं को बड़े व्यापक परिपार्श्व में रेणु के आंचलिक उपन्यासों की कथा ने उकेरा है।[६८]

इन आंचलिक उपन्यासों की कथावस्तु के विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है —[६९]

(क) इन आंचलिक उपन्यासों की कथावस्तु अनिवार्यतः विशिष्ट आंचलिक समस्याओं के आधार पर गठित हुई है।

(ख) ये समस्याएँ उन अंचलों की विशिष्ट भौगोलिक प्राकृतिक परिस्थितियों की देन हैं।

(ग) इन समस्याओं में भूमि-सम्बन्धी आर्थिक तथा सामाजिक प्रथाओं और नैतिकता सम्बन्धी समस्याओं की प्रमुखता है।

(घ) चूंकि इन आंचलिक उपन्यासों की रचना के पीछे स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की प्रेरणा है, अतः इनमें उठायी गई आंचलिक समस्याओं में प्रगतिशील नई चेतना का प्रवेश भी हो गया है।

(ङ) प्राचीन आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाओं और मुमूर्ष जीवन-मूल्यों के साथ नई समाजवादी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाओं तथा नये मानव-मूल्यों की टकराहट और प्राचीन पर नवीन की विजय—इन समस्याओं की विशिष्ट प्रकृति है।

(च) अंचल-जीवन में नई चेतना का प्रादुर्भाव आंचलिक और बाहर से आये दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा हुआ है।

(छ) कथा अंचल-केन्द्रित है, अतः उसका प्रारम्भ और अन्त दोनों वृत्ताकार रूप मे ग्रहण कर अंचल को वलयित करते हैं।

कथा-शैली के प्रारम्भ और अन्त पर विचार किया जाए, तो पता चलेगा कि अधिकांश उपन्यासों की कथा का आदि अन्त अंचल या गाँव से ही होता है। कहीं आंचलिक समस्या के मध्य से कथारम्भ होता है। समस्या के समाधान अथवा समाधानार्थ संघर्ष से अन्त। सामान्य उपन्यासों की कथा व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के जीवन की कथा होती है, पर आंचलिक उपन्यासों की कथा एक पूरे अंचल के सतत प्रवहमान जीवन की कथा होती है अतः उसका एक निश्चित समापन भी नहीं हो सकता।[७०] लोकतत्वों की प्रचुरता प्रत्येक कथा में रहती है। 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' लोक संस्कृति का महाकाव्य है। 'मेरीगंज की लोक-संस्कृति का चित्रण 'मैला आंचल' में इस व्यापकता से हुआ है कि इसे वहाँ की संस्कृति के इतिहास का पृष्ठ कहा जा सकता है।'[७१] 'एक प्रकार से रेणु ने लोक संस्कृति को 'मैला आंचल' से भी अधिक महत्व 'परती : परिकथा' में दिया है।'[७२]

'परतीः परिकथा' में विभिन्न प्रकार के लोक उपादानों के द्वारा कथावस्तु को विशेष आंचलिक रंगत प्रदान की गई है—लोककथाएँ 'रानी डूबी'[७३] तथा 'कोहबर रांडी'[७४] आदि की कथाएँ। लोकगीत—बरसाती लोकगीत[७५], पहाड़ी लोकगीत[७६]। लोकगीत कथाएँ—सुन्नरि नैका की गीत कथा।[७७] लोक कहावतें[७८], लोक-पर्व—शामा चकेवा पर्व,[७९] लोक-खेल—चक्कर-परती खेल[८०], 'मैला आंचल' में विपदानाच[८१], जाट जट्टिन अभिनय,[८२] बारहमासा[८३] तथा अनेक किस्से कहानियां, ग्रामीण तुकबंदियाँ और लोकगीतों के विपुल प्रयोग से इसकी कथावस्तु बस पूर्णिया के कोशी अंचल की ही बनकर रह गई है। यह दूसरे अंचल की कथा हो ही नहीं सकती। आंचलिक भाषा और लोकभाषा के शब्दों के प्रयोग ने भी 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' को अपना विशिष्ट आंचलिक रंग प्रदान किया है।

आंचलिक उपन्यासों की कथा शैली पर आंचलिक समस्याग्रस्तता का प्रभाव रहता है, विशिष्ट आंचलिक रंगत और लोक उपादानों का उद्घाटन भी किया जा सकता है। अनुभव की प्रामाणिकता एवं भोगे गए दर्द की छटपटाहट एवं उज्ज्वल भविष्य (अस्मिता की रक्षा या उससे जुड़े प्रश्न) के लिए अनवरत संघर्ष का स्वर मुखरित होता रहता है। एक ओर युगसत्य का उद्घाटन, समय की सच्चाई की पहचान तो दूसरी ओर भव्य भविष्य की संभावनाओं की ओर संकेत, समस्याओं के

समाधान के प्रति प्रतिबद्धता का स्पष्ट प्रभाव कथा शैली पर है। कथा शैली सदा रमाने वाली है और आंचलिक जीवन की विशिष्टता की सच्ची तस्वीर भी।

भाषात्मक

भाषा मूलत: और अंतत: एक संस्था है। वह अपनी चरम प्रयोजन की प्रासंगिकता में सामाजिकता की प्रतीक और प्रमाण होती है। कोई भी रचनाकार जिस भाषा के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है, वह उसे उत्तराधिकार के रूप में समाज से मिलता है, साथ ही जिस विषयवस्तु या रचना के किसी पक्ष अथवा अंग के बारे में कोई कृति विधात्मक संरचना द्वारा भावों अथवा विचारों को व्यक्त करती है उसमें भाषा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से विषय बनकर आती है। इस प्रकार औपन्यासिक कृतियों में भाषा समाज-शास्त्रीय निरूपण का एक आधार सिद्ध होती है। उपन्यास से जुड़े हुए विद्वानों का यह अनुभव है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कथा भाषा-प्रयोग और उसके संस्कार की सबसे उर्वर धरातल होती है। इसलिए किसी चिंतक ने उपन्यास को भाषा निर्माण का कारखाना कहा है। इसलिए कि उपन्यास सबसे अधिक व्यक्ति में सामाजिकता और समाज में वैयक्तिकता को उद्घाटित करने का सशक्त एवं संवेदनशील प्रयास है। समाज और भाषा के अंर्तसंबंधों को यह परिभाषा रेखांकित करती है—

'Language is a system of arbitrary vocal symbols by which members of social group interact and co-operate.'

—Prof. Sturtevant

गुंफर्ज द्वारा संपादित पुस्तक में बर्न्स्टाइन ने अपने निबंध में यह बताया है कि किसी भी समाज में मनुष्य जो कुछ कहता है, उसे कैसे कहता है और कब कहता है, यह सामाजिक संबंधों पर निर्भर है, ये संबंध निश्चित करते हैं कि शब्द चयन और वाक्य रचना के स्तर पर वह किस तरह की भाषा-सामग्री का व्यवहार करता है।

डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि 'कुछ समाजशास्त्री पहले समाजी भाषा विज्ञान की ओर झुके, फिर उन्होंने इसे अपूर्ण समझकर भाषा के समाजशास्त्र का नाम देकर विवेचन को अधिक व्यापक और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। समाजी भाषाविज्ञानी यह मानने लगे हैं कि जब सामान्यत: भाषाविज्ञान यह स्वीकार कर लेगा कि सामाजिक संदर्भों के बिना भाषा का विश्लेषण संभव नहीं है, तब भाषाविज्ञान शब्द से ही काम चल जाएगा, लिंग्विस्टिक्स में अलग से सोशियो जोड़ने की आवश्यकता न होगी।'—भाषा और समाज—भूमिका, पृ० ४६।

भावों और विचारों की सफलतम और सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति का सशक्त तथा व्यावहारिक माध्यम भाषा है। शब्द भाषा-संरचना की प्रथम अनिवार्य इकाई

है। शब्दों के संयोजन से ही पद और वाक्यों की रचना होती है, जो मानवीय भावों और विचारों के संवाहक बनकर भाषा का निर्माण करते हैं और हर प्रकार की भाषिक अभिव्यंजना के माध्यम बनते हैं।

आंचलिक उपन्यासकारों ने उपन्यास के अन्य तत्वों की तरह उसके भाषिक रचाव के क्षेत्र में भी अपनी नवोन्मेषी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है। आंचलिक भाषा के अभिनव प्रयोग द्वारा न केवल साहित्य की समृद्धि की है, वरन् गद्यभाषा के क्षेत्र में नवीन प्रयोग का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

जिस प्रकार कथा के क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासकारों में नागरिक संभ्रांतता एवं आभिजात्य श्रेष्ठता का मुखौटा उठाकर लघुमानव और उपेक्षित अंचल को प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में जनभाषा और बोलियों को भी साहित्यिक गरिमा प्रदान की है। घिसी-पिटी, पुरानी और निष्प्राण पड़ती हुई साहित्यिक भाषा तथा परिवर्तित समय के साथ बदली हुई नई मानसिकता की अभिव्यक्ति में अक्षम होते हुए उस भाषा के शब्द, मुहावरे, प्रतीक एवं बिंबों के स्थान पर धरती-पुत्रों की बोलियों से ताजा, अकृत्रिम, जीवन-रस में पगे और धरती की सोंधी गंध से भरे शब्दों, मुहावरों और बिंबों को लाकर आंचलिक उपन्यासों ने गद्य भाषा को नई प्राणवत्ता और अर्थवत्ता प्रदान की है।[८४]

मनुष्य है एक सामाजिक प्राणी। उपन्यास है समाज का चित्रण और भाषा है माध्यम जिसके द्वारा उसका समाज से संबंध स्थापित होता है। कहना नहीं होगा कि मनुष्य अपने विचारों, भावों तथा इच्छाओं को, दूसरे व्यक्तियों पर भली-भाँति केवल भाषा के माध्यम से ही प्रकट कर सकता है। वस्तुत: भाषा मानव-जीवन के साथ इतनी घुल-मिल गई है कि उसके महत्व, स्वरूप की ओर हम लोगों का जल्दी ध्यान नहीं जाता।[८५]

शब्दावली

अर्थ-संकेतित शब्दों या पदों का समूह 'भाषा' है और भाषा के अंग-प्रत्यंग का विवेचन-विश्लेषण व्याकरण या 'शब्दानुशासन'। व्याकरण में सार्थक शब्दों पर विचार होता है यानी विचार शब्दों पर होता है, परंतु ध्यान अर्थ पर रहता है। शब्द कहलाता है 'वाचक' और अर्थ 'वाच्य'।[८६]

शब्दों को व्याकरणिक कार्यकारिता की दृष्टि से आठ वर्गों में रखा जाता है, किंतु यह वर्गीकरण बड़ा उथला और मात्र व्यावहारिक है जैसा कि येस्पर्सन आदि ने दिखाया है। अपने यहाँ नाम, आख्यान, उपसर्ग, निपात रूप में जो चार या सुबंत, तिङन्त और अव्यय रूप में जो तीन वर्ग बनाए गए हैं, वे भी अपेक्षाकृत ठोस होते हुए भी बहुत दूर तक नहीं टिकते। कार्यकारिता को छोड़ दिया जाए, तो वर्गीकरण के दो आधार बच रहते हैं—[८७]

(१) रचना—रूढ़, यौगिक एवं योग रूढ़

(२) इतिहास—तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी

रचना की दृष्टि से शब्दावली का अध्ययन उतना आवश्यक नहीं, जितना इतिहास की दृष्टि से आवश्यक है। ऐसे उपन्यासकार या अभिजात वर्ग के पात्रों द्वारा जो कथन और वक्तव्य कराए जाते हैं, उसकी भाषा यौगिक एवं योगरूढ़ है—पंचचक्र, भोजपत्र, प्रफुल्ल-वदन[८८], कुलव्यवहार, मिश्रवंश, पंचचक्रपूजन, पंचकन्याओं, हाथीदाँत[८९], पुस्तकालय, वाचनालय, कार्यालय-मंत्री, कन्या पाठशाला, हरिजन-संदेश, रसोईघर, सचित्र साप्ताहिक[९०] भूदान, भूदान-संकीर्तन, जमीन-वितरण, भूदान-कार्यालय, कार्यकर्त्ता[९१] आदि। राम-किसून आसरम (आश्रम का अपभ्रंश)[९२] घोड़ा गाड़ी, माइक-स्टैंड[९३], पुष्पवृष्टि, चरणधूलि, स्वयंसेवक, प्रेस रिपोर्टर, नवपल्लव आदि शब्द भी इसी कोटि में परिगणनीय हैं।[९४]

इतिहास की दृष्टि से भी शब्दावली पर विचार करना वांछनीय है। संस्कृत के शुद्ध या अविकृत शब्द तत्सम कहलाते हैं। प्रकृति चित्रण, अभिजातवर्गीय वक्तव्य, प्रेम-सौन्दर्य के कथन आदि में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। 'परती परिकथा' की इन पंक्तियों में तत्सम शब्दावली की भरमार के साथ काव्यात्मक गद्य का सुंदर उदाहरण देखा जा सकता है—

"स्थिर-निबद्ध, तीव्र दृष्टि

विनिद्र सुरपति ने शरद पूर्णिमा के चाँद को देखा, हवेली के पोखरे में।

सहस्र कमल दल पर शशिकला।

सुरपति की आँखों में स्नेह-सिंचित लावनी की झलक—दूध की सुगंध चारों ओर। प्रकृति के अंग वात्सल्य-गंध से सराबोर। सरोवर में दूध ही दूध।"[९५]

केवल भाषा ही काव्यमयी और शब्दावली ही तत्सम-प्रधान नहीं है सतरंगी कवि-कल्पनाएँ भी शब्दों में रंग भरकर चित्र बनाने में लग जाती हैं—

"अमलतास के पीले फूल नववधू की पीली ओढ़नी की याद दिला रहे थे। योजन-गंधा शाम की हवा में पागलपन बिखेर रही थी। शिरीष के फूलों की पंखुड़ियाँ मंगल अशीष की तरह झड़ रही थीं। × × × चैत की गोधूलि में अपनी सारी तेज़ी खोकर सूरज ने श्याम सलोनी संध्या के आंचल में अपना मुँह छिपा लिया था। दूर तक फैली हुई ताड़ों की पंक्तियाँ, कुछ मटमैली कुछ सिंदूरी-सी पृष्ठभूमि में गर्दन ऊँची करके सूरज की अतल गहराई में डूबते देख रही थीं। गाय और बैलों के साथ घर लौटते हुए चरवाहे सावित्री नाच का गीत गा रहे थे—

'आहे सखी चलू फुलवारी देखऽहे

देखबो सुन्दर रूप

नाना रसना फूल अनूप, चतू, फुलवारी देखऽ है ।'[९६]

इसमें तत्सम की अपेक्षा तद्भव शब्दों की प्रधानता है ।

"ताम्रमूर्ति के ओठों पर एक वक्र मुस्कुराहट अंकित हो गई, ताजू की मुस्कुराहट !...वही वक्रता ।"[९७]

"भोजपत्र पर अंकित पंचचक्रों को देखकर प्रफुल्ल वदन हुआ जितेन्द्र-नाथ ।"[९८]

तत्सम शब्दावली से युक्त वक्तव्यों के उदाहरण हैं ।

'स्नेह, प्रेम, माया-ममता आदि की मधुर धारणाएँ भी परिवर्तन की प्रचंड-गति के आघात से विकृत हो गई हैं'[९९] ऐसे उदाहरणों को 'परती-परिकथा' में देखा जा सकता है ।

तत्सम शब्दों के बीच में पक-पककर पटपटाना, 'फरफराना' जैसी ध्वनि-मूलक आंचलिक भाषा की क्रियाओं के द्वारा आंचलिक वातावरण निर्माण किया गया है । सामान्यत: नागार्जुन के उपन्यासों की शब्दावली परिष्कृत और परिमार्जित है । उसमें हिन्दी, संस्कृत और उर्दू के शब्द अपने तत्सम और तद्भव रूप में आए हैं— "आठ दस दिन बीतते-बीतते छिवही के आम पकपककर पटपटाने लगे । दिन-भर की प्रचंड गर्मी, दोपहर को रात तक की ठिठकी हवा और उसके बाद रात्रि-शेष में जब दक्षिण पवन ग्रीष्म ऋतु की श्रांत शिथिल अलग प्रकृति नटी के सिमटे हुए आंचल को फरफराने लगता है तो छिवही के विशाल वृक्ष की निस्पंद टहनियाँ उच्छवसित हो उठतीं, टपटपकर आम गिरने लगते ।"[१००]

तद्भव शब्दावली

संस्कृत से निकले विकृत या विकसित शब्दों को 'तद्भव' कहते हैं । तद्भव एवं देशज (विशेषकर आंचलिक, ग्राम्य) शब्दों का बाहुल्य आंचलिक उपन्यासों में हैं । नागार्जुन के उपन्यासों से एक उदाहरण ध्यातव्य है—

'आगे खेतों में धान के हरे हरे पौधे लहरा रहे थे । उनसे परे आमों के नील-निविड़ कुंज थे । उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश में हिमालय की धवल-धूमिल चोटियाँ थीं जो उगते सूरज की पीली किरणों से उद्भासित होकर स्वर्ग-शृंग से लग रही थीं ।'[१०१]

(अग्र-आगे, क्षेत्र-खेत, हरित-हरे, धान्य-धान, आम्र-आम, सूर्य-सूरज, पीत-पीली) 'चार परानी का परिवार'[१०२] (चार प्राणी के परिवार की जगह) ऐसे शब्द नागार्जुन की भाषा में देखे जा सकते हैं । आंचलिक पात्रों के वार्तालाप के प्रसंग में आंचलिक बोली के शब्द तथा तत्सम तद्भव शब्दों के लोकोच्चरित रूप अधिक दिखाई

देते हैं—'चिकाउर', 'इजोरिया', 'गरचुन्नी', 'इच्वा', 'बिकौआ', 'पख', 'पगहा', 'टीसन', 'जिनगी', 'लाटफारम', 'मजूरी' तथा' 'सैतान', 'सिनेह', 'इसकूली', 'असरम', 'अकास' आदि ।[१०२] इसका कारण है उनकी अशिक्षा । उन्हें शब्दों का मूल रूप देखे बिना सुनकर उनका उच्चारण करना पड़ता है ।

'परती परिकथा' से तद्‌भव प्रधान शब्दावली का एक उदाहरण ध्यातव्य है :

''एक करकट बुद्धि किसान ने अपने हलवाहों को बुलाया । हठात् अपने मालिक को कृपालु देखकर हलवाहे सतर्क हुए । उन्होंने आपस में कानाफूसी की । आँखों-ही-आँखों में बातें भी हुईं — क्या बात है ? रात में खस्सी बकरा काटकर भोज क्यों खिला रहा है ?—मामला संगीन समझ, बहाना बनाकर वे भाग खड़े हुए ।''[१०३]

'मैला आंचल' में लछमी कालीचरण के बारे में जो वक्तव्य देती है, उसमें भी तद्‌भव का बाहुल्य है—'कालीचरन असल नियायी आदमी हैं । गाँव के सभी बड़े लोग सिर्फ कहने को बड़े हैं । काली बाबू का सुभाष जरा तिव्र है, लेकिन दुनिया के लोग अब इतने कुटिल हो गए हैं कि सीधे लोगों की यहाँ गुजर नहीं । फिर सुभाव में जरा कड़ापन तो सुपुरुख का लच्छन है ।''[१०४]......'उनसे छिमा माँगना होगा ।'[१०५]

तत्सम, तद्‌भव प्रधान शब्दावली के भी कई उदाहरण देखे जा सकते हैं—''कजरी का हृदय पानी भरा बादल था । प्यारी सुलगते काठ-सी धुआँ दे रही थी । दोनों की पैनी दृष्टियाँ टकराईं और उससे जो आग निकली, वह साकाररूप बनकर सुखराम की याद बन गई । वह केंद्र ढूंढ़कर अतल समुद्र में डूब गई ।''[१०६]

विदेशी शब्दावली

विदेशी शब्द उन्हें कहते रहे हैं, जो बाहर से आए हों, जैसे अंग्रेजी रेल, मोटर, फोटो या अरबी किताब आदि । 'विदेशी' के स्थान पर उन्हें गृहीत या आगत कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इनके लिए आवश्यक नहीं कि ये विदेशी भाषा के हों । दक्षिण की भाषाओं से हिंदी में आया शब्द 'दोसा' भी इसी श्रेणी का है ।' (डा० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान, पृष्ठ ४०४)

'परती परिकथा' के झिम्मल मामा ने एक शब्दावली ही बनाई है, जिसमें न केवल विदेशी (अंग्रेजी) शब्दों की वरन् उनके विकृत रूपों और प्रयोगों की बहुलता देखी जा सकती है—

''मैंने मार्क करके देखा है, बीस बार उसने......वाटरमेक किया है, उस पेड़ के पास बैठकर ।...झिम्मलोय नाम—ओरिजनल । ओरिजनल कहता है—इतना टाइम कैसे किल किया जाए ?' प्लेइंग कार्ड नहीं लाया है कोई ?...दो गेम...।''[१०७] सर्वे, सोशलिस्ट पार्टी, मेंबर, अररिया कोठ[१०८] फ्रेंचकट कामरेड, ग्रेजुएट, मैट्रिक पास[१०९]

ऐसे 'विदेशी' शब्द अनेक मिलेंगे। एक-एक पृष्ठ ऐसे शब्दों से भरा है। परती परिकथा का पृष्ठ २०० का ही उदाहरण लें—कैण्टीन, रेड-रोड व्हाइट रोड, टाइपरायटरों, कॉलिंग बेल, कैचमेंट एरिया, रोड ब्रिज, माइनर रोड ब्रिज, हाइडैम, मैन कैनाल, बराँज, लार्ज रेगुलेशन, स्मॉल फॉल्स ऐंड रेगुलेशन, एक्विडक्ट साइफून, क्रॉस ड्रेनेज, रिजर्वायर, सैण्डी सॉयल, कैंप, चेन, कैरमबोर्ड, ड्राइवर, पियन, बैरा, मिनट, जीप, ओवरसियरों, पैट्रोमैक्स, पार्टी, लीडर, डिमोरलाइज, सी० आई० डी० (कुल मिलाकर चौवालीस शब्द)।[११०]

विदेशी शब्दों का प्रचलन उस पेशे से जुड़े लोगों में है, जिसका प्रभाव उनसे संपर्कित लोगों एवं कालांतर में उस अंचल पर पड़ता है। निरक्षरता कम पढ़े-लिखे (जिन्हें अंग्रेजी एकदम नहीं आती) लोग विदेशी शब्दों का प्रयोग करते है, पर उच्चारण सौकर्य एवं अज्ञानता के कारण उन्हें विकृत कर देते हैं।

मेजरौटी-मेजेरेटी[१११]

"गाँव में अँग्रेजी शब्दों के शुद्ध और अपभ्रंश रूप का धड़ल्ले से व्यवहार होता है—'नामनेशन, मेजरौंटी, पौलटीस, पौलीसी··· झिग्मल मामा के गढ़े शब्द का प्रचलन हो रहा है, धीरे-धीरे—दिमाकृषि, प्रद्युस, ट्रा—अर्थात् डेमोक्रेसी, प्रोड्यूस टेलीग्राम।"[११२]

'बौण्डोरी ! बौण्डोरी !! अर्थात् बाउंड्री।'[११३]

'इस 'इंडरजस' आदमी को मैं पानी पिला-पिलाकर जिलाऊँगा और नाच नचाकर मारूँगा।'[११४]

'तुरत मैण्ड' चकराने लगता।'[११५]

'जेल की जगह 'जेहल'[११६], 'फौक्सिंग'[११७] सिडल[११८] 'फिलिम'[११९] आदि उदाहरण उल्लेखीय हैं।

'टैन'[१२०] (ट्रेन के लिए) 'अररिया कोठ'[१२१] (अररिया कोट के लिए), टीशन[१२२] (स्टेशन के लिए) 'मेंबरी'[१२३] (मेम्बरशिप के लिए) ऐसे प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि उनमें विदेशी शब्दों के प्रति लगाव ही नहीं है, वे उसे अपनी सुविधानुसार तोड़-मरोड़कर बोलते भी हैं। सुननेवाला अर्थ समझ लेता है।

देशज शब्दावली

देशज शब्द उन्हें कहते हैं, जो उपर्युक्त तीन में से किसी में न हों अर्थात् जिनकी व्युत्पत्ति का पता न हो, जो उसी क्षेत्र में जन्मा हो। दूसरे शब्दों में, जो इन तीनों में न होकर देश में उत्पन्न या विकसित हुए हों। 'देशज' वस्तुतः निश्चयात्मक नाम है, जबकि इनकी व्युत्पत्ति के बारे में निश्चय के साथ हम कुछ नहीं जानते। इसीलिए 'देशज' के स्थान पर डा० भोलानाथ तिवारी 'अज्ञात व्युत्पत्तिक' नाम का प्रयोग करना उचित मानते हैं।[१२४]

देशज शब्दावली का बाहुल्य आंचलिक उपन्यासकार की विवशता किंवा क्षमता का दस्तावेज कहा जा सकता है। आंचलिक उपन्यासों में लोक-भाषा या स्थानीय बोलियों के प्रयोग की अनिवार्यता के संदर्भ में आंचलिक उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विवशता रही है अनुभूतियों की निश्छल, अकृत्रिम, सच्ची और ईमानदार अभिव्यक्ति तथा भोगे हुए जीवन-यथार्थ को उसके यथार्थ प्राकृतिक परिवेश में चित्रित करने की प्रतिबद्धता।[१२५]

'मैला आँचल' में शहर पूर्णिया का प्रारम्भिक परिचय इस प्रकार दिया जाता है—

'सहर पुरैनियाँ। यही है सहर पुरैनियाँ—पक्की सड़क, हवा गाड़ी, घोड़ा-गाड़ी और पक्का मकान।·····एक रत्ती चिनगी चिनग जाय, सहर पुरैनियाँ लूटल जाये ?·· क्या है बोलो तो ?'···'आग।'·····गाँव के बच्चे आज भी बुझौवल बुझाते समय शहर पुरैनियाँ का नाम लेते हैं। मेरीगंज के इस जुलूस में चार आदमी ऐसे भी हैं जो शहर पुरैनियाँ पहले भी आये हैं। बहुत-से तो आज ही पहली बार रेलगाड़ी पर चढ़े हैं। कलेजा धक्धक् करता है। जिसके हाथ में गन्ही महतमा का झंडा रहता है, उस गाट बाबू, चिकिहर बाबू टिकट नहीं माँगता है। सचमुच में रेलगाड़ी, जै जै काली छै-छै पैसा' कहते हुए दौड़ती है। × × × यह है इसपिताल। अपने गाँव का इसपिताल तो इसके सामने बुतरु है।''[१२६]

देखने से लगता है कि पूर्णिया शहर का यह परिचय कोई ठेठ देहाती दे रहा है, परन्तु यह स्वयं उपन्यासकार द्वारा दिया गया परिचय है। भाषा में तद्भव शब्दावली ही नहीं, आंचलिक रूप दिखाई पड़ता है। अंग्रेजी के शब्द तो विकृत रूप में प्रयुक्त होते ही हैं हिंदी-शब्दों का स्थानीय उच्चारण देखते ही बनता है—टिकस, गन्ही महतमा, गाट बाबू, चिकिहर बाबू, पुरैनियाँ सहर आदि। आंचालिक उपन्यासकार अपने आपको भी आंचलिक पात्र ही समझता है। फलतः उसके माध्यम से स्वयं अंचल ही बोलता है।

'दंता राकस' के चित्रण में भी उपर्युक्त भाव के दर्शन किए जा सकते हैं—

''और एक सहस्र राकस धरती पर दाँत मारते हैं—खच्चाक
ढाक्···ढक्कर····ढाक्····ढक्कर···
कोड़ भैर्रा—र्रा—आ—हे। फोड़ भैर्रा—आ--हे।
भरी रात में खोदाय, पनिया छह छह छहाय
नदिया दे बो बहाय-य-य
हेय आँख मारे।
होय दाँत मारे—रे—ए—ए···खच्चाक
खट्टक। ढाक····ढक्कर, ढाक ढक्कर···

कुंह कुं वकां, कुंह कुं वकां।[१२७]

इसमें भाषा की रूपायण शक्ति के साथ चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता, गतिमयता, प्रक्रिया एवं काल-बोध के प्रकटीकरण एवं उसके समग्र प्रभाव को आंकने की क्षमता है। केवल लोकगीतों और शब्दों से ही नहीं, निरर्थक-सी लगने वाली वाद्य ध्वनियों और पशुपक्षियों की बोलियों से भी गहरे अर्थ-ग्रहण करने की क्षमता रेणु में है। कालीचरण के अखाड़े में कुश्ती के समय ढोलकिया ढोल की ध्वनियों से कुश्ती का निर्देश करने लगता है—

'ढिन्ना ढिन्ना, ढिन्ना ढिन्ना।....

—आजा आजा आजा आजा।

सभी अखाड़े में आये। काछी और जाँघिया चढ़ाया, एक मुट्ठी मिट्टी लेकर सिर में लगायी और 'अज्जा' कहकर मैदान में उतर पड़े।....तब शोमन ताल बदल देता है—

"चटधा गिड़धा, चटधा गिड़धा...."

—आजा भिड़जा, आजा भिड़जा।

अखाड़े में पहलवान पैंतरे बदलते हैं। कोई किसी को अपना हाथ भी छूने नहीं देता। पहली पकड़ की ताक में है। वह पकड़ा...

"धागि ड़ागि, धागिड़ागि, धागिड़ागि......."

—उठा पटक दे उठा पटक दे।

"गिड़ गिड़ गिड़ धा, गिड़ गिड़गिड़ धा...."

—वाह वा, वाह वा, वाह बहादुर।"[१२८]

इनके उपन्यासों में मैथिली, भोजपुरी, बँगला, अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, पर स्थानीय बोली की प्रकृति तथा स्थानीय उच्चारण प्रक्रिया की विशिष्टताओं के कारण इन सबका रूप एक ही साँचे में ढलकर आंचलिक बन गया है। इसीलिए अर्जेन्ट से अजरंटी, कालेज से कौलेजिया, बाइकाट से वेकार, सोशलिस्ट से सुशलिंग, कम्युनिस्ट से कौमलिस्ट, इन्साफ से निसाफ, खुराक से खोराक, बन्दूक से बन्नूक, राक्षस से राकस, अक्षर से अखर, अमृत से अमरित तथा कुछ से कोच्छ बन गये हैं। देशज शब्दों को आंचलिकता के कलेवर में रखकर इस प्रकार देखा जा सकता है—[१३०]

(क) स्थानीय बोली के शब्द—मुरुकवा, झोंटा, अंगमरवी, कीहिस, गमकौआ, छापी, चिहना, डेग केहुनाठ रखना, तिकड़म जोगाड़, कटहा बात आदि। इनमें संज्ञा, विशेषण तथा क्रियाएँ भी हैं।

(ख) हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू के शब्दों का लोकोच्चरित रूप—लारायण

(नारानण), इसपिताल, इमामधरम, डाकडर, इनकिलास-जिन्दाबाध, परसताव, निसाफ, अचहर, जमाहिरलाल, जहेल, रिचरब, फेलियर आदि ।

(ग) हिन्दी, अँग्रेजी, उर्दू, संस्कृत आदि के तत्सम तद्भव रूप—आफताब, महारुम, जहालत, ब्राइट, लेट, फैशन, मर्डर, वेदान्त, भौतिकवाद, सापेक्षवाद आदि ।

उपसर्ग लगाकर शब्द बोलने की प्रवृत्ति रेणु के उपन्यासों में देखी जा सकती है—कर-कचहरी खर-खजाना, गर-गरामित, घर-घरहट, चर-चुमौना, जर-जमीन, पर-पंचायत, फर-फौजदारी, बर-बरात, मर-मुकदमा, मर-महाजन, अली-गली आदि ।'[१३१]

इसी तरह खटखटाना, दुरदुराना, धबधबाना, सरसराना, टप-टप आम गिरना आदि जैसी अनेक ध्वनिवाचक क्रियाओं का निर्माण उनकी कृतियों में हुआ है ।

कहीं-कहीं अँग्रेजी का पूरा वाक्य ही देवनागरी लिपि में मिलता है—'थैंक यू वेरी मच ! इट्स सो काइंड' फ यू' रियली आइ' म ग्लैड-टु सी यू···। यू'र सो···।'[१३२] कहीं 'एबनार्मल' एवं 'लिटन-लॉर्ड क्रिश्ना'[१३३] (बालकृष्ण के लिए), 'गोइंग डराडून' (देहरादून जाने के बारे में), 'टु केलकटा'[१३४] (कलकत्ता को) ऐसे प्रयोग इसलिए मिलते हैं कि रेणु पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं । ऐंग्लो इंडियन, अँग्रेजीदाँ अधिकारी, अभिजात वर्गीय चरित्र बीच-बीच में बिना अंग्रेजी के शब्द, वाक्य एवं वाक्यांश बोले अपनी बात पूरी कर नहीं पाते । कहना नहीं होगा कि एक ओर रेणु ने आंचलिकता को जीवन दिया, तो दूसरी ओर उससे सम्बन्धित पात्रों की जीवन्त भाषा को भी रूपायित किया पूरी विश्वसनीयता के साथ । यही कारण है कि बोलचाल में रोजमर्रे के व्यवहार के लिए उर्दू, अरबी, फारसी आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है ।

धर्मदर्शन, कृषि, खानपान वेशभूषा सम्बन्धी शब्दावली

आंचलिक, देशज शब्दों के बहुल प्रयोग से कोई उपन्यास आंचलिक नहीं हो जाता । शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' को ग्रामीण बोली के प्रयोग के बावजूद आंचलिक नहीं कहा जा सकता और न तथाकथित आंचलिक उपन्यास 'बलचनमा' को । यदि 'मैला आंचल' को परिनिष्ठित हिन्दी में रूपान्तरित या अंग्रेजी में अनूदित कर दिया जाए, तो भी उस उपन्यास की आंचलिकता समाप्त नहीं हो जाएगी । किसी विशेष प्रकार की भाषा-शैली के प्रयोग का सम्बन्ध उपन्यास की यथार्थवादिता से है । यथार्थ-चित्रण और विश्वसनीय पात्रों की रचना में यह चिन्ता हमेशा बनी रहती है कि कथा को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए, जिससे सत्यता का भ्रम (इल्यूशन ऑफ

रियलिटी) पूर्णरूपेण पैदा हो सके। इसके लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है, जो आंचलिक जीवन के धर्म-दर्शन, वेशभूषा, पेशा, कृषि, खानपान आदि को अभिव्यक्त कर सकें। शब्दावली के इस विभाजन से एक साथ समग्र अंचल मूर्त हो उठता है। वहाँ फैले धार्मिक पाखण्ड, व्यभिचार, मूल्यों का पता चलता है, तो वेश-भूषा सम्बन्धी शब्दों से गरीबी, प्रचलन, आंचलिकता की विशेषता का बोध होता है। अंचल अक्सर पिछड़ा और आधुनिकता की रोशनी से दूर होता है। इसका अनुमान उसके द्वारा अपनाये गये पेशों से चल सकता है। कृषि प्रधान देश है भारत। सत्तर प्रतिशत लोगों की जीविका का आधार कृषि है। इसकी उत्पादकता पर ही खान-पान का स्तर निर्भर करता है। इसका विश्लेषण कृषि एवं खानपान सम्बन्धी शब्दावली से किया जा सकता है।

इसलिए 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' से उपर्युक्त शब्दावली का चुनाव किया गया है, जिससे अध्ययन में सुविधा हो। शब्दों के साथ पृष्ठ संख्या अंकित कर दी गई है।

मैला आंचल

धर्म-दर्शन

साधु सुभाव, आचार-विचार, नियम-धरम, भक्ति-भाव खजड़ी -२३ सतगुरु, साहेब-२३, निर्गुणवाणी-२३, सतसंग, प्रात की, बीजक, चेला, आधार, अधिष्ठान मणिपूरण-२४ मुरती, बालभोग, प्रसाद, सतगुरु आज्ञा-२५, बैस्नबजन-३१, बीजक-३५, जटा, कमंडल, समाधि-४८, रामायण, महाभारत, सावित्री सत्यवान, पार्वती-मंगल, शिव-पुराण, महादेव-७५ कंठी, दासी, मठ, नियम-धरम, नेम-टेम-२१८, उपदेस, माया, वाणी-२२०

वेशभूषा

कनफूल, बुलाक-८३, पाजामा कुर्ता, खद्दर का दुपट्टा-१७६, कनपासा, पीतर का फूल, शीशी का रंग-१७७, सन्तीपुरी साड़ी, नीली कमीज, पान-जर्दा-१७८ अंगिया और नक्शा, कोर की सफेद साड़ी-१७९ सफेद मलमल की साड़ी-२२० बॉक, हँसुली, बाजू, कंगना-अनन्त, चूर, झंझनी-२४५ गमकौआ साबुन और चमेली का तेल-२५५, विस्टी-३२४

कृषि

ताड़, खजूर, जंगल, काला जगल-१३, नील-१४ नदी, तालाब, पेड़-पौधे, जंगल-मैदान, जीव-जानवर-१८५, धान, बीहन-१९५, धनहर-३०३, मन कुत्ता-३२४

पेशा

हल - फाल - कोड़ - कमान-१८, कर्मकार (कमार) -१२९, करघा, चर्खा, तांत, धुनिया-१७६ नाई-१८१, मोची-३२१

खान-पान

दूध घी-१७, धान समर आलू-१८, चूड़ा गुड़-४१, चाय-४६, बंधा का झोल-७४, शकरकंद-७९, चावल का आटा, गुड़ और तेल, बथुआ और पाट का साग-१५३, बासीमान-१६०, बिस्कुट-१६७, सुपारी, सौंफ और दालचीनी के टुकड़े-१७९, पूरी मिठाई-१८३, आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी-१८५, आम कटहल, नून, बड़हल, कागजी नींबू-१९८, दूध-मलाई, बिहदाना (बेदाना) संतोला (संतरा)-२२२, गाँजा-२७१, बुआरी मछली का कुट्टा-३०८

धर्म-दर्शन

देवी मन्दिर का खाँड़ा-८ मंगलाचरण गुरु, सुभाना -८ गुन मंतर-१०, तंग-साधना-१२ हज-तीरथ, देवता, देव-१३, तपस्या-१४, ब्रह्मपिशाच, ओझागुनी-१५, पंचचक्र सिद्धि-४१, अच्छत परमादेव, पूजा की डाली, देवता की असवारी-८१, अगिन सागर, मान-मनौती, अच्छत, चंदन, फूल-पान, केला-अमरूद, दही-दूध, सिंघाड़े-मखाने -८२ श्रीचक्र, गोमुखी रुद्राक्ष का दाना-८४, कारन (माँ काली को उत्सर्ग की हुई शराब), प्रसाद (माँ काली को चढ़ाया हुआ प्रसाद) प्रतिमा, संकीर्तन, साधक, तपा हुआ मन दीपक-२१८ रक्त चंदन, तिलक चिह्न-२४९ भैरवीचक्र-२७६, स्वामी विवेका-नन्द-२९० माँ तारा-*

वेशभूषा

रेशमी पटोर, सोना के गहनवाँ-१०, आँखों पर धूपछाँही चश्मा, सिर पर ताड़ की पत्तियों का बड़ा कनटोप-२१, लाल गम बूट, वाटरप्रूफ कोट, वाटरप्रूफ शाल, वाटर-प्रूफ कैप, स्कार्फ या दुशाला, मालपत्र तथा बाँस की खपच्चियों का बना हलवाही हैट-३९ कोट पतलुम, टोपा अच-कन-९० चदरा ९७ छार्पा साड़ी, रेशमी चादर, रबर का जूता-१२१ सत्तर प्लेट्स प्रिंट करवाकर-१८१ रेशमी साड़ी-२२३ साड़ी, पैंट, कमीज-२३०, कुर्ता-पैजामा, बाघ छाप कपड़ा-२७५ बनारसी साड़ी-२८८

---

*३१६, परमपावनी क्षमा स्वरूपा माँ तारा-३१७

पेशा

बूढ़ा भैंसवार-१३, खेती, ट्रैक्टर कल-कारखाने, हल-१४, ठेकेदार-१५ राजमिस्त्री, मजदूर-१७, जरीब की कड़ी तखती, राइटेंडल, गुनियाँ, कंपास, अमीन, जरीब-२२ कमार, कुम्हार, चमार, खवास, हलवाहा-३० हवलदार, कांस्टे-बिल-४६ धोबी, चमार-९० हलवाहा, चरवाहा, नौकर-मजदूर-१०६, बीमा एजेन्ट-१३६, डाक्टरनी १३६ मछली के मांस का कारबार-१८८ सिलाई २००

कृषि

भूमि, जमीन, धरती धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रांतर-७, दूब, बरसात-७, हरियाली, नदियाँ-७ बबूल, झखोर, खैर, साँहुड़, पनियाला, कुल्हड़िया आँकी, पहड़िया पानी-११, कछुआ पीठ जमीन-१२ हल-१४, फसल-१४ बँटाई करने वाले किसान-१२१ बिहार टेनेन्सी एक्ट की दफा-४०-२२ लैंड सर्वे-२२, प्लाट-२३ खेत-खलिहान, घाटबाट, बाग-बगीचे, पोखर-महार, नक्शा-२५, चकबन्दी, आधी-दारी-२७, गीली बलुआ-ही मिट्टी-४० कुदाल, हलवाहा-१०६, पौधा, पानी-१७७, गेहूँ, जड़ी बूटियाँ-२४५, मूसलाधार वृष्टि-३४०

खानपान

मकई के दाने-८ सुपारी, नारियल, साबूदाना खस्सी बकरे-१६, पोठी मछलियाँ-२१ काबली बादाम-३४, चाय, स्पेशल टी राटी, लेमन, पाल्युड्रिन-३६ भुना हुआ चूड़ा, केसरिया, दूध, आम-सेवई-३७, बम्बई आम, गछप के आम, आम पायस-४१, एक मुट्ठी भात दाल, मसाला-८८, पनपियाई और भत्ता-९०, पान जर्दा-९७, दारू-११९, घी-१२३, गुड़, ऊख मिठाइयाँ-१५९, धान, दही दूध-१६८ चावल-२१२, टमाटर साग-सत्तू-२१३ मछली, महीन सुगन्धित चावल, पके केले, नारियल, मिसरी कंद, शहद, ऊँख, मिठाई-२२३, पुरुटई, मेवे-२३१, चिलम तबाकू-२३५,

वाक्य-विन्यास

आंचलिक उपन्यासकारों विशेषकर रेणु ने एक ही वाक्य में एक शब्द के साथ उसके यथार्थ का भी प्रयोग किया है। इसका कारण है एक शब्द के भिन्न-भिन्न समानधर्मा अर्थ पर वे बल देना चाहते हैं।

'परती परिकथा' का दूसरा ही वाक्य है: 'पतिता भूमि, परती जमीन, बंध्या धरती।'[१३५] भूमा के समस्त सुख ऐश्वर्य को लुटाने वाली भूमि चुक गई है। अपने बेटों के प्रति कर्त्तव्यबोध से च्युत हो गई है। इसलिए पतिता कहलाई। जहाँ तक भूमि का ऊपरी भाग है, जिस पर कृषि होती है, जोत होती है—वह जोती नहीं गई, इसलिए 'परती जमीन' का प्रयोग हुआ है। धरती का अर्थ धारण करना होता है। 'धृ' धातु से धारण बना है और धरती भी। धरती पर फसल लगाई जाए, बीज वपन हो, पर उगे नहीं, तो उसे बाँझ कहा जाएगा—'बंध्या धरती।' इस प्रकार रेणु ने एक ही वाक्य में पर्याय के द्वारा कृति के कथ्य को गहन संवेदना के स्तर पर प्रकट कर दिया है। 'परती-परिकथा' परती, वीरान भूमि की ही विशेष कथा है।

'कच्छप पृष्ठ सदृश भूमि! कछुआ पीठ जमीन?'[१३६] पहले शब्द में लेखक ने संस्कृत के सामासिक शब्द का सहारा लिया (कछुए की पीठ के समान भूमि—कर्मधारय समास), परंतु इससे उसे संतोष नहीं हुआ। मन के क्षितिज पर संशय के मेघ मँड़राए कि अंचलवासी न समझ पाएँ यह शब्द, तो चट उसका हिंदी अनुवाद कर दिया पर्याय की तरह ही। इस दूसरे शब्द के द्वारा वह उस पूरी जमीन का वर्णन करना चाहते हैं, जो वसुंधरा (वसु-ऐश्वर्य धारण करने वाली) इसलिए नहीं कहला पाई कि उसका आकार कछुए की पीठ की तरह है। बीच में ऊँचा, चारों ओर ढालुआ। फलतः पानी टिक नहीं पाता। जमीन उपजाऊ नहीं होती।

'न रहे कोई देवता, नहीं रहे देव'[१३७] 'हज तीरथ करने चले जाते हैं'[१३८]। 'देवता और देव' के अर्थ में विशेष अंतर नहीं दीखता पर 'तीरथ हज' के द्वारा रेणु साईं-गुसाईं और पीर-फकीर दोनों के तीर्थस्थल की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं—समत्व बुद्धि से। "फूलों के मौसम में लाल आसमान को मैंने देखा है—अपलक नेत्रों से, अचरज-भरी निगाहों से।"[१३९] अपलक नेत्रों से सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। वहाँ सौन्दर्य ऐसा है कि पलकें नहीं गिरतीं, पर वहाँ भेद-दृष्टि नहीं है। 'निगाहों' में विचार, समझ, परख, अवलोकन, निरीक्षण तथा ध्यान का भाव है।[१४०] इसीलिए वैसा सौन्दर्य देखकर आश्चर्य का उदय होता है।

'काली असल नियायी आदमी है। गाँव के सभी बड़े लोग सिर्फ कहने को बड़े हैं काली बाबू का सुभाव जरा तिव्र (तीव्र) है, लेकिन दुनियाँ के लोग अब इतने

कुटिल हो गए हैं कि सीधे लोगों की यहाँ गुजर नहीं। फिर सुभाव में जरा कड़ापन तो मुपुरुख का लच्छन है।....'

यहाँ स्वभाव की तीव्रता और उसका 'कड़ापन' दोनों पर्याय बनकर आए हैं। तीव्रता सहज ही तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करने, आक्रामक होने में विश्वास करती है, जबकि 'कड़ापन' निर्णय लेने में कठोरता, अपनी बात पर डटने में दृढता, समझौते के लिए तैयार नहीं होने के अर्थ में है। इस प्रकार रेणु संस्कृत के शब्दों का पर्याय अन्य शब्दों (उर्दू, देशज आदि) से भी देते हैं, बशर्ते उनका अभीष्ट सम्यक् अभिव्यक्ति पाए।

कई बार ऐसा होता है कि एक शब्द का प्रयोग कर रेणु को संतोष ही नहीं होता उसकी संप्रेषण क्षमता पर। इसलिए लगे-हाथ पर्याय के रूप में दूसरा शब्द ला देते हैं—ऐसा शब्द जिसे वह मन की आँखों से देख सकें, अनुभव कर सकें—'जितेन्द्र की आँखों के आगे पहिये-ही-पहिये, चक्र नाच रहे थे।'[१४२] चक्र के अनुकरण पर ही पहिये का निर्माण हुआ, परंतु विष्णु के हाथ में अनवरत घूमते हुए चक्र में जो गति है, वह शायद 'पहिये' से प्रकट न हो। पहिये के घूमने में अनेक बाधाएँ हैं, जिनमें पृथ्वी की अवरोधकता उसका रुखड़ापन मुख्य हैं। परंतु चक्र को अपेक्षाकृत कोई ऐसी बाधा नहीं। इसीलिए लेखक को 'पहिये' मात्र से संतोष नहीं होता। वह लगे हाथ 'चक्र' का भी प्रयोग करता है। फिर 'पंचचक्र'[१४३] पूजन का उल्लेख करने लगते हैं।

कुछ स्थलों पर शब्दों के पर्याय के स्थान पर वाक्यांश या पूरे वाक्य का प्रयोग मिलता है। इसे विशेषण कहें या उद्देश्य या विधेय का विस्तार, पर लगता है कि लेखक पर्याय देने के लोभ में चित्र-विधान करने लगता है। अभीष्ट शब्द को उसकी समग्रता में आँकने का प्रयास। शब्द के चित्र के साथ तज्जन्य ध्वन्यांकन भी द्रष्टव्य है --

'झूमकर बरस रहे हैं बादल। हिमालय से उतरे हुए बादलों को पहली विशाल परती मिली है। जित्तन बाबू देखते हैं - असंख्य नर्तकियाँ, झीनी जलछाँही चुनरियों में मोती बाँधकर नाच रही हैं। मोती झर रहे हैं— झर झर, झहर झहर।'[१४४] बादल का झूमना, बरसना, नर्तकियों के रूप में मोती बाँधकर नाचना आदि चित्र उससे उत्पन्न ध्वनियों का समाँ बँध जाता है। रेणु को अभिधात्मक, सामान्य कथन 'झूमकर बरस रहे हैं बादल' भर से अहसास नहीं होता कि उनके अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होगी ही, इसलिए वह इतने विस्तार में जाते है-- कहीं पर्यायात्मक शब्द, कहीं वाक्यांश का ही प्रयोग मिलता है।

'पूर्ण विराम' शब्द से काम चलता नहीं दीखता— शायद तत्सम शब्द

समझ में न आए। इसीलिए इसके साथ 'बटन ऑफ' करने का आग्रह भी किया है। कारण गाँव का मूर्ख भी 'आफ' होने का अर्थ बंद होना, करना जानता है—

'कृपया पूर्ण विराम ! बटन ऑफ कीजिए कथा-कलक्टर साहब !'[१४५]

एक नारी नर मात्र नहीं है—वह अपने महान गुणों के कारण देवी है। विकराल, कराल और दुर्धर्ष हो जाए, तो दुर्गा, काली है। वह गंभीर और शांत है, तो शांति की साकार रूप लगती है। इसीलिए रेणु का पात्र झिम्मल मामा एक ही पंक्ति में पर्यायवाची शब्दों द्वारा नारी के इन विविध रूपों पर प्रकाश डालता है—

'झिम्मल मामा साष्टांग दंडवत् कर धरती पर लेट गये, औरतों की टोलियों के सामने वाले बरामदे पर। हाथ जोड़े उठ खड़े हुए—हे देवियों ! दुर्गाओं ! कालियों ! करालियों ! करांतियों ! शांतियों, कृपया शांत हों।'[१४६]

व्याकरणिक गठन की दृष्टि से वाक्य के तीन भेद हैं—साधारण वाक्य, जिसमें एक उद्देश्य और एक विधेय हो जैसे—'राम जाता है।' रेणु के उपन्यासों में अनुच्छेद का प्रारम्भ प्राय: साधारण वाक्यों से होता है—

'बलभद्दर चौधरी बोले।'[१४७]

शिवभद्दर बहुत देर से कुछ कहना चाहता था।'[१४८]

'मेरे दिमाग में एक बात आई है।'[१४९]

'सिविया दीदी ने कहा'।[१५०]

'लुत्तो ने पुकार कर कहा।'[१५१]

'हम समझ गए।'[१५२]

'झंडा आसमान में लहरा रहा है।'[१५३]

संयुक्त वाक्यों में दो या दो से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। ऐसे संयुक्त वाक्यों की भरमार मिलती है, यथा—

'जितेन्द्रनाथ को अचरज हुआ, ताजमनी के कंठ में बैठकर माँ बोल रही है।'[१५४] यहाँ संयोजन 'कि' लुप्त है।

'मुझे भरोसा है, मेरा बेटा इसका कोई सही अर्थ निकाल लेगा।'[१५५]

रेणु ऐसे संयुक्त वाक्य में संयोजक का लोप कर देते हैं। इससे अभिव्यक्ति में सहजता और प्रवाह आ जाते हैं।

'मँझला बीरभद्दर मैट्रिक पास करने के बाद तम्बाकू का कारबार करता है और आजकल कांग्रेसी भी हो गया है।'[१५६]

'हीरा दरबान के मार्फत उसने हमें समझाया, पिछले आठ-दस वर्षों से वह, इस फूल की झाड़ी को फुलवारी में रोपना चाहता है।'[१५७] यहाँ वाक्य बड़ा है, 'कि' का लोप है।

अभिव्यक्ति के सहज प्रवाह में अक्सर ऐसे वाक्य आ जाते हैं। संयोजक युक्त उदाहरण भी हैं—'भीषण कलरव और कोलाहल में किसी को समझ में नहीं आया कि क्या हुआ।'[१५८]

'तुम नहीं जानते, विश्वास करने में कितना सुख मिलता है मुझे ! किंतु मन में जमता ही नहीं है।'[१५९]

मिश्रित वाक्यों से भरा पड़ा है उपन्यास। इसमें संज्ञा-उपवाक्य अपेक्षाकृत कम हैं।

'कल रात मलारी के जी मे आया कि पंडित सरबजीत चौबे जी से पूछे।'[१६०]

'वहाँ जब मैं गया तो स्टेशन पर एक हजार पब्लिक मुझे सिर्फ देखने के लिए जमा हो गई थी।'[१६१]

'एक सखी ने पूछा कि हे सखी, तुम्हारे पास में न तीर है न तलवार।'[१६२]

'अच्छी तरह जानते हैं कि रामदास इस मठ का चेला है।'[१६३]

'पंजिका हिसाब निकालकर बता देंगे कि यह पक्ष सूखेगा कि झरेगा।'[१६४]

विशेषण उपवाक्य अपेक्षाकृत अधिक हैं। लगभग प्रत्येक पृष्ठ में तीन-चार उदाहरण मिलेंगे—

'जिसको परतीत न हो, उसकी खुशामद तो नहीं करने जायेगी, मलारी।'[१६५]

'ताजमनी के चेहरे पर फिर आकर लटक गई, वक्र मुस्कुराहट··· लगाम से कसी हुई मुस्कुराहट।'[१६६]

'जिसको परतीत न हो, उसकी खुशामद तो नहीं करने जायगी, मलारी।'[१६७]

'ऐसी सहधर्मिणी की आवश्यकता थी जो कुँआरी हो, सुन्दर और स्वस्थ हो, रबर-स्टेट के कारोबार को समझकर व्यापार में उसका हाथ बँटा सके।'[१६८]

'रह-रहकर लहेरिया सराय जाने के लिए रोता है—जहाँ भूखों मर रहा था।'[१६९]

'जो लोग अखबार नहीं पढ़ते हैं, वे दुनिया की बातों से वाकिफ कैसे हो सकते हैं।'[१७०]

'जो लोग अखबार गजट पढ़ते हैं वही जानते हैं कि कितना खराब जमाना आ रहा है।'[१७१]

इसमें विशेष्य को स्पष्ट करने तथा उसके बारे में आवश्यक सूचना देने का कार्य बड़ी विदग्धता से किया गया है।

क्रिया-विशेषण उपवाक्यों की कभी कमी नहीं है। 'यदि वह पढ़ता तो पास

होता' ऐसे वाक्यों की बहुलता देखी जा सकती है। लगता है लेखक छोटी-छोटी बातों के प्रति जागरुक है। उसका समाधान चाहता है। सोच-प्रक्रिया में समाधान की शर्तें भी रखता चलता है।

'यदि अकाल पड़ गया तो जो सुराज मिलने वाला है, वह नहीं मिलेगा।'[१७२] रेणु जानते हैं कि स्वराज्य के लिए सैन्य-संगठन में अन्न की आवश्यकता है। अन्न का मुख्य स्रोत कृषि है। अकाल पड़ने पर न खेती होगी, न अन्न उपजेगा, न स्वराज्य का स्वप्न साकार हो पाएगा।

इसलिए अगले ही वाक्य में शर्त का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है—

'यदि मिलेगा भी तो उसकी सारी ताकत तो लोगों को खिलाने में ही लग जाएगी।'[१७३]

फिर मालिक लोग धान नहीं दे पाएँगे, फलतः खेती नहीं हो सकेगी। परती रह जाएगी जमीन। धरती, उसका दर्द, उसकी संतान का दर्द रेणु के वाक्य-विन्यास में भी उभर-उभर आता है।

'मालिक लोगों से ही यदि धान माँगोगे तो कहाँ से देंगे मालिक लोग ?'[१७४]

इसके साथ जूझने, डटने का दमखम भी बोलता है। अपनी रक्षा के लिए प्रभु से प्रार्थना का स्वर भी।

'यदि इस तरह रैयतों के साथ दुश्मनी करेंगे, कम-से-कम हमारे यहाँ के रैयतों से, तो फिर बात बिगड़ जायगी।'[१७५]

'यदि गाँव में इधर-उधर कुछ किये तो पीठ की चमड़ी भी उधेड़ लें।'[१७६]

'यदि गाँव के बाहर का कोई बाहरी हम पर हमला करे तो इसका मुकाबला सभी को करना होगा।'[१७७]

'यदि बाहर वाले इस गाँव के जमीनवालों पर हमला करें तो सबों को सहायता करनी होगी।'[१७८]

'यदि लगातार पाँच दिनों तक घनघोर बरसा हुई और खेतों के आल डूबे कि '... जरा एक सप्ताह सबूर करो महाराज।'[१७९]

'यदि उनका मिजाज अच्छा रहा तो प्रार्थना पर विचार कर एक सप्ताह सब्र कर गए।'[१८०]

'नक्षत्रों की गणना में यदि स्त्री-स्त्री का संयोग हुआ तो शून्य, पुरुष-पुरुष संयोग निकला तो शून्य।'[१८१]

'संयोजक जी जो कहेंगे, उसे काली टोपीवाले नौजवान प्राण रहते नहीं काट सकते हैं।'[१८२]

'बृन्दावन में घूमेगी नहीं, मस्ती में झूमेगी नहीं तो श्यामा को कैसे भूलेगी ?'[१८३]

'नखसिखू छौड़ियों से कह दो, बेकार गला न मांजे नहीं तो मेरा मन खराब हो जाएगा।'[१८४]

'किसी बड़े कार्यकर्ता को ले आइए बुलाकर, नहीं तो कुछ नहीं होगा।'[१८५]

लगे हाथ इसके साथ दूसरा वाक्य भी क्रियाविशेषण उपवाक्य है—

'जब आये हैं तो एक सप्ताह रहकर रंगरुतबा देख लीजिए।'[१८६]

शीघ्रता में अपनी बात कहने, उसे प्रभावक बनाने के लिए क्रियाहीन वाक्यों का सहारा भी जगह-जगह लिया गया है—

'माँ का विश्वास निर्मल गंगाजल।'[१८७]

'मंगल कामना में तन्मय नारी की प्रतिमूर्ति और श्रद्धा से अवनत पुरुष का प्रतिविम्ब।'[१८८]

'सामने की दीवार पर प्रतिबिम्बित छाया! मिकी-माऊस की आकृतियाँ!'[१८९]

'माँ माँ की मृदुगन्ध!'[१९०]

'एक-से-एक।'[१९१]

'और मेरा अपराध।'[१९२]

'मैला आँचल' के प्रारम्भ में ही क्रियाहीन वाक्य हैं—

'धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर।'[१९३]

'पतिता भूमि, परती जमीन, वंध्या धरती....।'[१९४]

'कच्छप पृष्ठ सदृश भूमि! कछुआ पीठ जमीन?'[१९५]

प्रेम प्यार की अभिव्यक्ति में भी क्रियाओं की परवाह नहीं रहती—

'तुम पर कुर्बान यह प्राण।'[१९६]

कई स्थलों पर क्रिया की जगह बिन्दुओं से काम चलाया गया है। क्रिया वहाँ प्रकट नहीं है—

'महारानी चम्पावती...'[१९७]

'मैया रे मैया! बाबा हो बाबा!...'[१९८]

'पीत वसन मकराकृत कुण्डल...!'[१९९]

पदक्रम विचलन और पदलोप के कई उदाहरण ध्यातव्य हैं। हर भाषा में वाक्यों के पदों का विशेष क्रम होता है किन्तु साहित्यिक भाषा इस पदक्रम का अनुसरण सर्वदा नहीं करती।[२००] रेणु की भाषा में भी पदक्रम विचलन का प्रयोग बल देने या भावावेश को व्यक्त करने के लिए प्रायः होता है। 'मैला आँचल' से कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं—

'इसी में मदद कीजिए सब मिलकर।'[२०१]

'यही है मर्के साहब की कोठी।'[२०२]

'वहाँ है नील महने का हौज ।'[२०३]

पहले वाक्य में क्रिया ('मदद कीजिए') पहले देकर मदद करने पर बल दिया गया है, तो दूसरे वाक्य में 'साहब की कोठी पर', तीसरे वाक्य में 'नील महने के हौज' पर ।

'खादी भण्डार में खांटी गाय का घी भेजो देहात से बालदेव ।'[२०४]

'बड़ा ऐयाश है राजा भूपत ।'[२०५]

यहाँ पहले वाक्य में 'घी भेजने' पर तो दूसरे वाक्य में 'भूपत के ऐयास होने' पर बल दिया गया है ।

'परती परिकथा' के प्रारम्भ से ही यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है —

'कफन की तरह फैली हुई हैं बालूचरों की पंक्तियाँ ।'[२०६]

'कथा होगी अवश्य इस परती की भी ।'[२०७]

'सो रहा पेड़ की छाया में—माँ के मुँह से सब कथा सुनने की आशा में ।'[२०८]

'दोनों अंक हैं मेरे कंठ में ।'[२०९]

वाक्य में जब आवश्यक सभी पद तथा सहायक शब्द (परसर्ग, संयोजक तथा सहायक क्रिया आदि) हों तो वह पूर्ण व्याकरणिक वाक्य होता है, किन्तु प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि इनमें एक या अधिक की कमी हो जाती है । इस बात का भी अध्ययन वाक्यविज्ञान में किया जाता है कि किस भाषा मे किस प्रकार के लोप की प्रवृत्ति अधिक है । ऊपर क्रियाहीन तथा क्रिया के विचलन के उदाहरण दिए गए हैं । यहाँ पदलोप के कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं—

'सिर्फ दिन ही नहीं, दिनरात ।'[२१०] (क)

'कभी नहीं कभी नहीं...'[२११] (ख)

'चल भाग...।'[२१२] (ग)

'इस्स एक हजार ?'[२१३] (घ)

'क' वाक्य में 'सिर्फ दिन ही नहीं दिनरात काफी है' होना चाहिए, जबकि 'ख' वाक्य में 'कभी नहीं कभी नहीं हो सकता' । 'ग' वाक्य में 'चलें' लुप्त है, तो 'घ' वाक्य में आश्चर्य और प्रश्नबोधकता के कारण आधा वाक्य ही छूट गया है—'इस्स एक हजार पब्लिक जमा हुई थी !'

'मैला आँचल' से भी दो उदाहरण दिए जाते हैं—'यही चालीस'[२१४] ('यही चालीस वर्ष उम्र है' होना चाहिए), 'इसमें क्या सन्देह'[२१५] (इसमें क्या सन्देह है या हो सकता है) । रेणु ने भाव के प्रवाह में पदों के लुप्त होने पर ध्यान नहीं दिया है । उनकी दृष्टि आंचलिक जीवन की आत्मा की गहराई मे उतरने की है । अपने कथन

को प्रभावक और सशक्त बनाने की है ।[२१६] इसीलिए विचलन और पदलोप के इतने उदाहरण सुलभ हैं।

रेणु 'परती परिकथा' और 'मैला आँचल' में एक रूप-विशिष्ट आंचलिक भाषा का सर्जनात्मक उपयोग कर सके हैं, जिसमें चित्रकला और संगीत के स्वभाव या रागधर्म की विशिष्टता निहित है। वस्तु और क्रियाओं की नितान्त स्थानीय व्यंजनाओं को लेकर कुछ आपत्तियाँ जरूर उठाई गई हैं, जिनपर विचार किया जाना चाहिए। पर रेणु की भाषा की भीतरी पर्तों में छिपी हुई सहज आत्मीयता (यहाँ व्यंग्य और राग के उदाहरणों में अधिक अन्तर नहीं है) से इनकार करना कठिन है। यह आत्मीयता प्रवाह से अधिक संयम की ओर हमारा ध्यान खींचती है।[२१७]

'दाहिने पूरे पर अँगुलियाँ फिरकी की तरह नाचने लगीं—धृकिट धिन्ना ना तिन्ना ना तिन्ना ना ना। तो मृदंग के पूरे की सूखी चमड़ी मानो जी उठी, साफ आदमी की तरह बोली निकली ठुट्ठी पाखैर तक चोर घेरलक हो, चोर घेरलक' (मैला आँचल)।

इस प्रकार रेणु ने भाषा की विशिष्टता के द्वारा आंचलिक जीवन की समग्रता को चित्रित करने का प्रयास किया है। इसी प्रवाह में पद-लोप, पद-क्रम-व्यतिक्रम, विचलन आदि के उदाहरण भी मिलते हैं। रेणु अंचल जीवन के कुशल पारखी हैं, चतुर चितेरे हैं, इसीलिए उन्हीं की भाषा को जीवन्त कर देते हैं।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

शैली का सम्बन्ध विचारों या अनुभूतियों की मात्र अभिव्यक्ति से ही नहीं है, बल्कि विषय-वस्तु की पूर्ण, प्रभावपूर्ण तथा औचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति—विषय एवं व्यक्तित्व-प्रेरित वैशिष्ट्यों से युक्त अभिव्यक्ति से है। अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा और मुहावरों, लोकोक्तियों, बिंब, प्रतीक, संकेत तथा रंग आदि के प्रयोग द्वारा उसमें वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है।

'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' की भाषिक संरचना की आधारशिला है लोकभाषा या आंचलिक बोली। पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप में और लेखक के वर्णन तथा विश्लेषण की भाषा में सर्वत्र लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग द्रष्टव्य है।

"अरे, हाँ हाँ, बेटा-बेटी केकरो, घी ढारी करे मंगरो। चलनी कहे सूई से कि तेरी पेंदी में छेद। हाथ में कँगना तो चमका रही हो, खलासी को एक पुरिया सिंदूर नहीं जुटता है।"[२१८] अनुच्छेद का पहला ही वाक्य लोकोक्ति (बेटा-बेटी केकरो घी ढारे मंगरो) से प्रारम्भ होता है। फिर दूसरे वाक्य में—'चलनी कहे सूई से कि तेरी पेंदी में छेद' (अनेक छिद्रों वाला एक छिद्र वाले को क्या दोष दे सकता है) ऐसी

लोकोक्तियों से ही दो ग्रामीण स्त्रियों (फुलिया की माँ और रामजू की स्त्री) की वाग्विदग्धता का पता चलता है।

उसका उत्तर भी उसी प्रकार मुहावरायुक्त है—"मुंह संभालकर बात कर नेंगड़ी। बात बिगड़ जाएगी। खलासी हमारा बहन-बेटा है। बहन-बेटा लगाकर गाली देती हो ? गाली हमारी देह में नहीं लगेगी। तेरे देह में तो लगी हुई है। अपने खास भतीजा तेतरा के साथ भागी तू और गाली देती हो हमको ? सरम नहीं आती है तुझको। बेसरमी, बेलज्जी ! भरी पंचायत में जो पीठ पर झाड़ू की मार खाई थी सो भूल गई ? गुअर टोली में कलरु के साथ रात-भर रसलील्ला करती थी सो कौन नहीं जानता है ? तू बात करेगी हमसे ?"[२१६] यहाँ आक्रामकता की स्थिति में सामासिकता, संक्षिप्तता एवं तीक्ष्णता लाने में मुहावरों का प्रयोग बड़ा सटीक लगता है। मुहावरों की बौछार सी हो रही है—मुंह संभालकर बात करना, बात बिगड़ना, गाली देह में लगना, किसी के साथ भागना, शर्म आना, भरी पंचायत में मार खाना, रासलीला करना आदि।

प्रत्युत्तर में भी मुहावरों की चासनी है—किसी की रखेल होना, लुकाचोरी में खेलना, मुँह-दिखौनी मिलना आदि।

बात-बात पर मुहावरे, वाक्य-वाक्य में लोकोक्तियाँ। ग्रामीण पात्रों में उनके प्रयोग की अजीब क्षमता है। उच्चारण-दोष भले ही हो जाएँ, पर सटीक प्रयोग अवश्य होगा—'मास की गन्ध लगी'[२२१] 'गयी गुजरी होना।'[२२२] 'मिटिन'[२२३] (मिटींग' के लिए) बोलने वाली बालगोबिन की स्त्री भी कहती है—'अब तो शहर की हवा लग गई है।'[२२४] 'तुम पर कुर्बान यह प्राण' [२२५], 'कसम-पर-कसम नहीं खायगी'[२२६], 'मुँह लाल होना' [२२७] 'दवा करना'[२२८] ऐसे मुहावरों से पृष्ठ-का-पृष्ठ भरा है।

अश्लील और वीभत्स वर्णन में छोटे-छोटे मुहावरों की छटा वस्तुस्थिति तक पहुँचाने में प्रकाश स्तम्भ का काम करती हैं—

'खून से लथपथ सरफराज, घायल भेड़ियों की तरह उसे दबोच लेता है अपने जबड़े में।'[२२९]

'अब बंद करो अपना तमाशा। बहुत नाच चुकी।'[२३०]

उपर्युक्त दो उद्धरणों में खून से लथपथ होना, घायल भेड़िया, जबड़े में दबोचना, तमाशा करना, नाच करना मुहावरे हैं।

जहाँ रेणु स्वयं टिप्पणी देते हैं, वहाँ भी मुहावरे के प्रयोग से बाज नहीं आते—

'विचारशील नौजवानों के मन में इरावती और जितेन्द्र की बातें घर कर गई हैं' (घर करना)।

जहाँ रेणु को ग्रामीण आदर्शों का आलोक फैलाना है; दुर्बलता के कर्दम में सज्जनता का कमल खिलाना है, वहाँ प्राचीन ऐतिहासिक, स्थान, पात्र वाले मुहावरों का प्रयोग होगा। राजा भूपत के बेदाग छूटने की कथा का लेखक अंजाम देता है सीसी बाबू की प्रतिज्ञापरायणता और अविरल मेधा और उनकी नेकनीयती में। इसलिए इस कथा का समापन होता है—'अब न तो वह अयोध्या है और न वह राम।'[२३१]

कभी-कभी भारतीय देवी-देवता के नामों के आधार पर बने मुहावरे अपने अर्थ-गांभीर्य और सामासिकता के कारण इतना कुछ कह जाते हैं, जितना कई पृष्ठों में भी कहना संभव नहीं। डॉ० प्रशांत की सरलता, निष्कपटता आदि को व्यक्त करने के लिए रेणु एक मुहावरे का प्रयोग करते हैं—'माटी का महादेव।'[२३२] कहीं-कहीं मुहावरे लक्षणा के साथ अभिधा का कार्य भी करते हैं—'मेरी पीठ पर आला लगाकर देखो, मेरे दिल की बात सुनो।'[२३३] यहाँ आले से दिन की धड़कन सुनना अभिधात्मक कथन है, तो 'दिल की बात सुनना' 'दिल की बीमारी का पता लगाना' कमला के प्रसंग में लक्षणात्मक।

रेणु को ग्रामीण पात्रों के मध्य वार्तालाप में मुहावरों से जान फूंकने की आदत है। कभी ऐसा नहीं हुआ कि उनका एक ठेठ देहाती पात्र भी मुहावरों के सटीक प्रयोग में कोई कमी आने दे। एक ही अनुच्छेद में लोकोक्तियाँ और मुहावरे दोनों के प्रयोग मिलते हैं—

'अरे, बालदेव जी तो मुर्दा हो गए मुर्दा! अब उनको कौन पूछता है। उनको अब एक बच्चा भी मुँह नहीं लगाता है। कँगरेस में भी उनकी बदनामी हो गई है। वह तो हम लोगों के बल पर ही कूदते थे।....कोठारिन तो सत्तर चूहा खाई हुई है। बालदेव जी को उनके फेर में पड़ने तो दो.... ....चरखा सेंटर पर अपना ही कब्जा समझो। मास्टरनी जी बिना कालीचरण से पूछे पानी भी नहीं पीती हैं।....एक बौनदास है सो डेढ़ बित्ते का आदमी कर ही क्या सकता है?'[२३४]

'मुर्दा होना, किसी का पूछना, मुँह लगाना, किसी के बल पर कूदना, बिना पूछे पानी पीना, डेढ़ बित्ते का आदमी मुहावरे हैं तो एक लोकोक्ति भी है—'सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज को।' लोकोक्ति का उत्तरार्द्ध अव्यक्त होकर भी व्यक्त है और कोठारिन के समग्र चरित्र का रेशा-रेशा उधार देता है। ग्राम पंचायत में झगड़े की चरमसीमा दिखानी हो तो रेणु धड़ाधड़ मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग सामान्य भाषा को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए करने लगते हैं—

"पंचों को लकवा मार गया है, साधुओं की हालत खराब है। पंचों के ऊपर हवाइयाँ उड़ रही हैं। और सबों के बीच कालीचरण हाथ में दलील लेकर सिकन्दरशाह बादशाह की तरह खड़ा है। पलक मारते ही क्या से क्या हो गया।....जैसे रामलीला का धनुषजग हो गया।"[२३५]

आंचलिक जीवन के पात्रों के ज्ञान के अनुसार मुहावरों का चुनाव बड़ा उपयुक्त लगता है—"यादव टोली के लोगों ने बालदेव से माफी माँग ली है—"बालदेव भाई···हम लोग मूरख ठहरे और तुम गियानी । हम कूप के बेंग हैं ।"[२३६]

भंडारे के सम्बन्ध में हिबरन सिंघ के बेटे ने कहा—"बालदेव यदि इंतजामकार रहेगा तो महंथ साहब का भंडारा मंडल होगा ।"[२३७]

'रामकिसन बाबू का 'अलबत रूप था ।'[२३८] 'कान भरने के लिए सिबजी कहते हैं 'कागभुसुण्डी इसके कान में मंतर पढ़ रहा है ।"[२३९]

आंचलिक भाषा के मुहावरों और विशेषकर लोकोक्तियों के प्रयोग ने इनकी भाषा को आंचलिक रंग में रंगकर आंचलिक यथार्थ की अभिव्यक्ति में बड़ी मदद की है—'आन्हर कुकुर बतासे भूके, गाँव भागा जाए, भगमनियाँ कहे मोर टाँग टाँकि दे, कहिया पूत जनमलें कहिया झाँकरि भइल ।'[२४०]

रेणु की अपेक्षा डॉ० रामदरश मिश्र की भाषिक संरचना की सबसे बड़ी विशेषता बिंबात्मकता और लाक्षणिक प्रयोग है । मुहावरों को भी वे भावानुसार गढ़ लेते हैं । उपन्यासों के शीर्षक स्वयं चमत्कारी हैं, मुहावरे की तरह लाक्षणिक 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ ।' अभिव्यक्ति की नई भंगिमा एवं नए तेवर के कारण मुहावरे भी उसी अनुरूप ढाले गए हैं—

"नगारे की आवाज पर रात थरथरा रही थी । ढोलक और झाल से होड़ लेता हुआ चौताल गाँव की गलियों में उफना रहा है···"[२४१]

'नंगी धरती का किसानों द्वारा चीरा जाना', 'पीठ पर जिंदगी ढोना, 'मकान के भीतर से फूट-फूटकर स्मृतियों का बहना', 'चेहरों से अंधकार का पुतना', 'भूख का लोटना' तथा मन के दर्द का तैरना' आदि प्रयोग लेखक की भाषिक विशिष्टता एवं क्षमता के परिचायक कहे जा सकते हैं ।

आंचलिक उपन्यासकारों ने लोकजीवन से नई-नई उपमाएँ, लोकोक्तियाँ और मुहावरे लेकर संश्लिष्ट अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति की है । 'बिना बान क चन्नन के साथ माथ पिराना है', 'मेहर न लड़िका चले दुवारिका', 'कोई अपना टेंटर नहीं देखता', 'दूसरे की पुल्ली सब देखते हैं', 'पहले चुम्मा बाद गाल कटउअल' तथा 'बर बतियाय, चमार लतिआये' ऐसे उदाहरण उल्लेखनीय हैं ।

रेणु के आंचलिक उपन्यासों के भाषात्मक अध्ययन से पता चलता है कि शब्दावली हो या वाक्य-विन्यास, मुहावरे हों या लोकोक्तियाँ व्याकरणिक संरचना में सदा उनमें विपथनशीलता के दर्शन होते हैं । उनकी विपथनशीलता सर्वाधिक विचारणीय है । इसके कारण उनकी भाषा में विचित्र प्रयोग मिलता है । यादृच्छिक विपथनशीलता के कारण रेणु अपनी व्याकरण-सम्बन्धी भूलों के प्रति बहुत उदार थे ।

व्याकरण की साधारण भूलें वे निस्संकोच किया करते थे। भाषा के व्याकरण-सम्मत संस्कार से नातिपरिचित आंचलिक लेखक के रूप में रेणु की शैली में विपथनशीलता आई और वही उनकी भाषा की विशिष्टता की जननी बनी। उसने उनके बाह्य व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनकी भाषा को अनन्वय बना दिया।[२४२] इसमें शुद्धि और पांडित्य नहीं, अभिव्यक्ति की सटीकता और यथार्थानुकृति ने प्राथमिक महत्व प्राप्त कर लिया है।

संभवतः अब तक रेणु की भाषा-शैली का अध्ययन उसमें न्यस्त विपथनशीलता की दृष्टि से नहीं किया गया है। मानक भाषिक विधान से विपथन शैली विज्ञान का विषय है। इस दिशा में कार्य हो, तो रेणु की भाषा की बुनावट की सुषमा का अनुमान लगाया जा सके।

इस अध्याय में मेरा ध्यान महत्वपूर्ण भाषात्मक उपादानों, अवधारणाओं, उपकरणों, अंगों से साक्षात्कार कराना है, जिससे आंचलिकता का सौंदर्य निखरे। साथ ही उसकी आत्मा में अवगाहन कर सत्य का संधान किया जा सके।

स्थानीय शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियों आदि के प्रयोग से आंचलिक यथार्थ को उभारने में रेणु को सफलता मिली है। आंचलिक भाषा के विभिन्न उपादानों के प्रयोग में बड़ा ही संयम दिखाया गया है। फलतः कृत्रिमता, बनावटीपन या अस्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते।

अपने विशिष्ट विषयवस्तु, उद्देश्य, अवलोकन-बिंदु तथा विषय की प्रकृति और प्रवृत्ति को रेखांकित करने के लिए भाषा-संरचना के क्षेत्र में रेणु का प्रयोग क्रांतिकारी और सार्थक है। वस्तुतः भाषा की यही ताजगी एवं नवीनता आंचलिकता की आत्मा है, जिसे रेणु आंतरिक अभिव्यंजना क्षमता के उद्घाटन के लिए आवश्यक मानते हैं।

संदर्भ-संकेत

१. (क) साहित्य कोश भाग १, पृ० १५७
१. (ख) वही, पृ० १५७
१. (ग) वही, पृ० १५७
२. वही, पृ० १५७
३. 'The novel tells a story that is the fundamental aspect without which it could not exist, that is the highest factor common to all novels and wish that it was not so that it could be something different melody

or perception of the truth not this atavistie form; E. M. Forster, Aspect of novel, P. 27

४. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ७७

५. वही, पृ० ७७

६. परती परिकथा, पृ० १७-१८

७. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ८०

८. समालोचक, १९५९ अगस्त, पृ० ३

९. डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त : आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प, पृ० ३७

१०. डॉ० धनंजय वर्मा : 'आलोचना', पूर्णाङ्क २४७, पृ० ८०

११. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० ३८

१२. डॉ० आदर्श सक्सेना : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि, पृ० १२८

१३. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० १२३

१४. 'The interpretation of human life by means of fictitious prose in narrative'.

—Rechard Church, 'The Growth of the English novel, P. 18

१५. The only reason for the existence of novel is that it does attempt to represent life.

—Henry James, 'The Art of fiction, P. 293

१६. 'प्रेमचंद : कुछ विचार', पृ० ३८

१७. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ५५७

१८. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि पृ० १३०

१९. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, पृ० १८९-९०

२०. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० १३२

२१. डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी : हिन्दी उपन्यास, पृ० ७९-८०

२२. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ५९५

२३. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० १३२

२४. परती परिकथा, पृ० ४४३
२५. वही, पृ० २६८
२६. वही, पृ० २८५
२७. अलग अलग वैतरणी, पृ० ४७
२८. वही, पृ० ६३०
२९. वही, पृ० ६३०
३०. जल टूटता हुआ, पृ० ४९
३१. परती परिकथा, पृ० २३८
३२. डॉ० आदर्श सक्सेना : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि, पृ० १८०
३३. वही, १८१
३४. बलचनमा, पृ० ५
३५. वही, पृ० १२०
३६ वही, पृ० ८
३७. परती परिकथा, पृ० २८५
३८. परती परिकथा, पृ० ८२-८३
३९. मैला आंचल, पृ० २३४
४०. 'माटी के लोग सोने की नैया', पृ० ३९
४१. मैला आंचल, पृ० १५३
४२. वही, पृ० ३३४
४३. वही, पृ० ३३४
४४. डॉ० प्रेमशंकर : आलोचना, पूर्णाङ्क २४७, पृ० ६८
४५. मैला आंचल, पृ० १६९-१७०
४६. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ० २५१
४७. परती परिकथा पृ० ३१२
४८. वही, पृ० ८७
४९. मैला आंवल, पृ० ३३२-३३३
५०. हौलदार, पृ० ४
५१. रतिनाथ की चाची, पृ० ८५
५२. मैला आंचल, पृ० २५
५३. वही, पृ० २३३
५४. अलग अलग वैतरणी पृ० १९३-१९४

५५. वही, पृ० ३८
५६. मैला आंचल, पृ० ३३२-३३३
५७. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २५४
५८. 'The novel tells a story that is the fundamental aspect without which it could not exist, that is the highest factor common to all novels and I wish that it was not so that it could be something different melody or perception of the truth, not this atavistie form'.
—E. M. Forster, 'Aspect of Novel' P. 27
५९. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि पृ० ७७
६०. परती परिकथा पृ० १७-१८
६१. प्रो० गोपी कृष्ण प्रसाद : आलोचना, पूर्णाङ्क २४, पृ० ७५
६२. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ८२
६३. डॉ० ज्ञानचंद्र गुप्त : आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प, पृ० ३७
६४. परती परिकथा, पृ० ४९८
६५. डॉ० आदर्श सक्सेना : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि, पृ० १३४
६६. वही, पृ० १३५
६७. वही, पृ० १३६
६८. जनचेतना के चतुर चितेरे फणीश्वरनाथ रेणु—डॉ० मृत्युंजय उपाध्याय, युवा रश्मि, लखनऊ
६९. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ९३-९४
७०. वही, पृ० १२०
७१ राधेश्याम कौशिक : 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' पृ० ७४
७२. वही, पृ० १
७३. परती परिकथा, पृ० १३
७४. वही, पृ० ११०
७५. वही, पृ० ६०
७६. वही, पृ० ७६
७७. वही, पृ० १८३-१८४
७८. वही, पृ० ३८८
७९. वही, पृ० २६०

८०. वही, पृ० ५४
८१. मैला आंचल, पृ० ६८-१०८
८२. वही, पृ० ३३६-३३८
८३ वही, पृ० २४३-२४४
८४. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २१५-२१६
८५. डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १
८६. किशोरीदास वाजपेयी : शब्दानुशासन, पृ० १२१-१२२
८७. डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान, पृ० ४०४
८८. परती परिकथा, पृ० ८७
८९. वही, पृ० ८७-८८
९०. वही, पृ० ८९
९१. वही, पृ० २१५
९२. मैला आंचल, पृ० ९३
९३. वही, पृ० १३९
९४. वही, पृ० १३९
९५. परती परिकथा, पृ० २७५
९६. मैला आंचल, पृ० १५४-१५५
९७. परती परिकथा, पृ० ८७
९८. वही, पृ० ८७
९०. वही, पृ० २९१
१००. रतिनाथ की चाची, पृ० ५३
१०१. वही, पृ० ११५
१०२. बलचनमा, पृ० ५५-१२०
१०३. परती परिकथा, पृ० १०६
१०४. मैला आंचल, पृ० १३१
१०५ वही, पृ० १३१
१०६. कब तक पुकारूँ, पृ० १८८
१०७. परती परिकथा, पृ० १४४
१०८. वही, पृ० १४५
१०९. वही, पृ० १५४
११०, वही, पृ० २००
१११. वही, पृ० १८
११२. वही, पृ० १९

११३. परती परिकथा, पृ० २२
११४. वही, पृ० ३२
११५. वही, पृ० ३२
११६. मैला आंचल, पृ० १९१
११७. परती परिकथा, पृ० १५९
११८. वही, पृ० १५९
११९. वही, पृ० १५९
१२०. परती परिकथा, पृ० १३४
१२१. वही, पृ० १३४
१२२. वही, पृ० १३५
१२३. वही, पृ० १३५
१२४. डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान, पृ० ४०४
१२५. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २१६
१२६. मैला आंचल, पृ० ९२
१२७. परती परिकथा, पृ० १९०
१२८. मैला आंचल, पृ० ७३
१२९. वही, पृ० ७३
१३०. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २२६
१३१. मैला आंचल, पृ० ९२
१३२. परती परिकथा, पृ० १९५
१३३. वही, पृ० १८३
१३४. वही, पृ० १८३
१३५. वही, पृ० ७
१३६. वही, पृ० ७
१३७. वही, पृ० १३
१३८. वही, पृ० १३
१३९. वही, पृ० १५
१४०. बृहत हिन्दी कोश : मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, कालिका प्रसाद एवं राजबल्लभ सहाय, पृ० ७१०
१४१. मैला आँचल, पृ० १२१
१४२. परती परिकथा, पृ० ८७
१४३. वही, पृ० ८७
१४४. वही, पृ० ४०
१४५. वही, पृ० १२८

१४६. वही, पृ० १२६
१४७. परती परिकथा, पृ० १०२
१४८. वही, पृ० १०३
१४९. वही, पृ० १०२
१५०. वही, पृ० १३०
१५१. वही, पृ० १३१
१५२. मैला आँचल, पृ० ८७
१५३. वही, पृ० ६३
१५४. परती परिकथा, पृ० ८७
१५५. वही, पृ० ८७
१५६. वही, पृ० १०२
१५७. वही, पृ० १८४
१५८. वही, पृ० २०८
१५९. वही, पृ० २०६
१६०. वही, पृ० १६१
१६१. वही, पृ० १६०
१६२. मैला आँचल, पृ० ६०
१६३. वही, पृ० ६६
१६४. वही, पृ० १६६
१६५. परती परिकथा, पृ० १६१
१६६. वही, पृ० ८७
१६७. वही, पृ० १६१
१६८. वही, पृ० १८३
१६९. वही, पृ० २१७
१७०. मैला आँचल, पृ० १६८
१७१. वही, पृ० १८८-८६
१७२. वही, पृ० १८६
१७३. वही, पृ० १८६
१७४. वही, पृ० १८६
१७५. वही, पृ० १६०
१७६. वही, पृ० १६०
१७७. वही, पृ० १६१
१७८. वही, पृ० १६१

१७९. वही, पृ० १९१
१८०. वही, पृ० १९१
१८१. वही, पृ० १९१
१८२. वही, पृ० १८१
१८३. परती परिकथा, पृ० १७१
१८४. वही, पृ० १७१
१८५. वही, पृ० २१३
१८६. वही, पृ० २१३
१८७. वही, पृ० ८६
१८८. वही, पृ० ८६
१८९. वही, पृ० ८६
१९०. वही, पृ० १८६
१९१. वही, पृ० १८७
१९२. वही, पृ० १८२
१९३. वही, पृ० ७
१९४. वही, पृ० ७
१९५. वही, पृ० ७
१९६. परती परिकथा, पृ० १६१
१९७. मैला आँचल, पृ० १९०
१९८. वही, पृ० २०२
१९९. वही, पृ० २१२
२००. प्रेमचन्द की शैली : डा० भोलानाथ तिवारी, आलोचना अप्रैल-जून ८० पृ० ८६-८७
२०१. मैला आँचल, पृ० ११
२०२. वही, पृ० १२
२०३. वही, पृ० १३
२०४. वही, पृ० ९३
२०५. वही, पृ० ७६
२०६. परती परिकथा, पृ० ७
२०७. वही, पृ० ७
२०८. वही, पृ० ९
२०९. वही, पृ० ६२
२१०. वही, पृ० १०५

२११. वही. पृ० १०४
२१२. वही, पृ० १०५
२१३. वही, पृ० १६०
२१४. मैला आँचल, पृ० २१०
२१५. वही, पृ० २१०
२१६. युवारश्मि (लखनऊ), मार्च १९८१ में, डा० मृत्युंजय उपाध्याय का लेख 'जनचेतना के चतुर चितेरे फणीश्वरनाथ रेणु'
२१७. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २२२
२१८. मैला आँचल, पृ० ६३
२१९. वही, पृ० ६४
२२०. वही, पृ० ६४
२२१. परती परिकथा, पृ० १३४
२२२. वही, पृ० २२२
२२३. वही, पृ० १३४
२२४. वही. पृ० १३४
२२५. वही, पृ० १६१
२२६. वही, पृ० १६१
२२७. वही, पृ० १६१
२२८. वही, पृ० १६१
२२९. दीर्घतपा, पृ० ८३
२३०. वही, पृ० १६२
२३१. मैला आँचल, पृ० ७७
२३२. वही, पृ० ७५
२३३. वही, पृ० ७४
२३४. वही, पृ० १७१
२३५. वही, पृ० १२२
२३६. वही, पृ० १८
२३७. वही, पृ० ३४
२३८. वही, पृ० ४४
२३९. वही, पृ० ५१
२४०. डा० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २३०
२४१. पानी के प्राचीर, पृ० ३०
२४२. नया प्रतीक, मार्च १९७८; 'रेणु की याद में' शीर्षक लेख—डा० कुमार विमल

अध्याय ३

आंचलिक उपन्यासों की तुलनात्मक समीक्षा

समीक्षा को वैज्ञानिक बनाने के लिए उसे तुलना और इतिहास के आधार पर प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। वैज्ञानिक समीक्षा साहित्य के व्यवस्थित तथ्यों को लेकर चलती है। व्यवस्थित ज्ञान को आधार बनाकर तुलनात्मक समीक्षा साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करती है।[1] शास्त्र में समीक्षा का अर्थ है भाष्य के बीच प्रकृत विषय को छोड़कर दूसरे विषय पर विचार करना। यद्यपि कुछ विद्वान 'चारों ओर से देखना', 'आलोचना' और सम्यक दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करना (समीक्षा) में अन्तर उपस्थित करते हैं, तो भी व्यावहारिक रूप में आलोचना और समीक्षा का प्रयोग लगभग एक ही अर्थ में होता है। आलोचना के अन्तर्गत उन बिन्दुओं पर विचार किया जाता है, जिनपर समीक्षा के अन्तर्गत किया जाता है।[2] इसीलिए समीक्षा के लिए यहाँ आलोचना शब्द का प्रयोग भी चल सकता है।

तुलनात्मक आलोचना में कृतियों के विचारात्मक सत्यान्वेषण एवं परम्परागत परीक्षण की चेष्टा की जाती है। दो कृतियों के गहन अनुशीलन के पश्चात् ही आलोचक और पाठक दोनों को विचारों का नवनीत मिलता है। तुलनात्मक आलोचना जब आन्तरिक तथ्यों की तुलना की चेष्टा करती है तो वह कुछ ज्यादा गहन हो जाती है क्योंकि परम्परागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहास के बदले इसमें केवल विचारों के इतिहास पर बल दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचना में साहित्य अभिव्यंजना का साधनमात्र नहीं, मनुष्य के भावों और विचारों का प्रतिबिम्ब या प्रतीक है। वह सामाजिक चेतना का दर्पण है। यह इतिहास के माध्यम से साहित्यिक कृतियों की मीमांसा करता हुआ उस स्रोत तक पहूँचता है जहाँ से साहित्यकार को प्रेरणा मिलती है। इसीलिए दो साहित्यकारों की समसामयिक परिस्थितियों एवं तज्जन्य विचारों का प्रभाव कवि के मानस पर पड़ता है। अतः तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करनेवाला आलोचक व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान देता है। इसके लिए वह विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की मानसिक एवं अन्य प्रकार की प्रगति का भी अवलोकन करता है।[3]

तुलनात्मक आलोचना समस्त संकीर्णताओं और पक्षपातों से रहित होकर दो विशिष्ट कृतियों के पारस्परिक गम्भीर अध्ययन-मनन और चिन्तन की चरम परिणति है। विभिन्न विद्वानों के विचारों के अध्ययन तथा विविध आलोचनात्मक कृतियों के आधार पर तुलनात्मक आलोचना के कुछ तत्व उद्भूत होते हैं—

(क) दो कृतियों की विषयगत एवं भावगत समानता।

(ख) दो कृतियों का सन्तुलित, सूक्ष्म एवं गम्भीर पर्यवेक्षण।

(ग) विभिन्न भाषाओं की मर्मज्ञता एवं विश्व-संस्कृति एवं साहित्य के प्रति अपार श्रद्धा।

(घ) निरपेक्षता एवं तटस्थता।

(च) निर्णयरहित विश्लेषण एवं सौंदर्यपरक मूल्यांकन।

(छ) पूर्वाग्रही वृत्ति एवं संकीर्णता का परित्याग तथा विशाल सहृदयता एवं संवेदनशीलता।

(ज) जीवन और साहित्य के शाश्वत एवं सर्वमान्य विचारों और नियमों का समादर।

(झ) तथ्यों की वैज्ञानिक परीक्षा।

तुलनात्मक समीक्षा के आधार :
समाजशास्त्रीय, औपन्यासिक एवं भाषा-शैली

आंचलिक उपन्यासों के समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हुए यह ध्यान रखा गया है कि न केवल सामाजिक संरचना, संगठन, व्यक्तित्व आदि को आंचलिक उपन्यासों में निरूपित किया जाए, उनकी जाँच-पड़ताल की जाए, वरन् समानधर्मा उपन्यासों के समाजशास्त्रीय पक्ष की यथासाध्य तुलना भी की जाए। आंचलिक उपन्यासों में व्यक्त विभिन्न अंचलों का सामाजिक जीवन भिन्नता लिए हुए हो सकता है, पर उनमें अन्तर्स्यूत जो भारतीय जीवनधारा है—वह एक ही है। उसके सामाजिक पक्ष को समग्रता में आँकने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में किसी सामाजिक संरचना, संगठन आदि के सम्बन्ध मे आंचलिक उपन्यासकारों में साम्य, वैषम्य का परीक्षण, मूल्यांकन मेरा अभीष्ट है, साथ ही उससे प्राप्त स्थापनाओं एवं निष्कर्षों का आकलन भी। इससे समाजशास्त्रीय अध्ययन को गति मिलेगी। शोध गवेषणा के नए क्षितिज विकसित होंगे।

औपन्यासिक एवं भाषा-शिल्प की दृष्टि से भी अध्ययन हुआ है। कथा-शैली, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, वार्तालाप एवं भाषा-शैली के विभिन्न घटकों, उपादानों, प्रकारों एवं विशिष्टताओं को विशदता में विवेचित किया गया है। अधिक ध्यान रेणु के आंचलिक उपन्यासों पर रहा है, परन्तु इस अध्याय में अन्य उपन्यासकारों के साथ

औपन्यासिक एवं भाषा-शिल्प की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास किया जाएगा।

समाजशास्त्रीय

आंचलिक उपन्यास में काल-क्रम को बाधित कर कथा को–विशिष्ट स्थान की कथा को–सन्निधान शैली में समकालिकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् औपन्यासिक आंचलिक कथा के कालिक (टैंपोरल) विकास को बाधित कर उसे स्थानिक या स्थानीय आयाम में फैला देती है। ऐसी स्थिति में आंचलिक उपन्यासकार को स्थानीय सीमाओं का निर्धारण करना पड़ता है। लेखक के लिए औपन्यासिक कार्य-व्यापार के स्थान का भौगोलिक निर्देश और निरूपण अनिवार्यत: आवश्यक हो जाता है और वह इस निश्चित भौगोलिक स्थान का विशिष्टीकरण करता है। यही विशिष्टीकृत भौगोलिक स्थान उपन्यास की प्रमुख संरचना है और उसकी समग्रता और सम्पूर्णता लेखक का परमलक्ष्य।[५] यहीं उसका सीधा और गहरा लगाव समाज-शास्त्र से हो जाता है। इसीलिये समाजशास्त्रीय अध्ययन की अनिवार्यता आती है।

वर्ण-व्यवस्था

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय ग्रामीण सामाजिक वर्णव्यवस्था के परंपरागत निम्नस्तरीय वर्ण के अन्य वर्गों में स्वयं को उच्च समझने एवं प्रदर्शित करने की चेतना उत्पन्न हुई। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने भी निम्न वर्ग में अवतरित इस नवीन चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की। उदयशंकर भट्ट के शब्दों में—

'सब वर्गों में कोई चेतना थी तो केवल अपने को बड़ा मानने में। लोधे और अहीर अपने को क्षत्रिय कहलाना पसंद करते। बढ़ई 'विश्वकर्मा' ब्राह्मण बनकर जनेऊ पहनने लगे। चमार 'जाटव' कहलाकर गर्व का अनुभव करते।'[६]

युग युग से शोषित, प्रताड़ित, शापित, तापित शूद्रों में जागरण एवं चेतना के उदय के पीछे समाज सुधारकों का हाथ है। भट्ट के शूद्रों में उच्चता का भाव जगा, तो शिवशकर शुक्ल के पात्रों में आर्थिक आत्म-निर्भरता एवं युगानुरूप प्रगति के पथ पर कदम-में-कदम मिलाकर चलने का संकल्प जगा। छत्तीसगढ़ अंचल में चरणदास चमार सरकार की सहायता से गाँव में मुर्गी पालने के लिए मंगतू का मकान किराये पर लेता है।[७] जातिगत पेशा छोड़कर अन्य पेशा अपनाने का भाव उनमें सरकारी सहाय्य के कारण जगा है।

बिहार अंचल में हरिजन मलारी पढ़-लिखकर अध्यापिका बनकर परंपरागत ब्राह्मण का कार्य अपने हाथ में लेती है।[८] गाजीपुर अंचल में परसराम (हरिजन)

एम० एल० ए० होकर परंपरागत क्षत्रिय का कार्य करता है।[९] इस प्रकार कहीं-कहीं वर्णव्यवस्था की प्राचीन मान्यताएँ पूर्ववत हैं।

समसामयिक भारतीय ग्रामीण समाज में परंपरागत वर्ण-व्यवस्था के बंधन टूट रहे हैं। उनमें जागरण का प्रभात फूट रहा है। इसीलिए डॉ० रामदरश मिश्र संध्या से कहलाते हैं—

'आजकल के पढ़े-लिखे लोग दूसरी जाति में विवाह करते हैं, तुम्हें ताज्जुब क्यों होता है ? जाति-पाँति तो झूठे बंधन हैं।'[१०] परंतु युग-युग से जकड़े प्राचीन आदर्शों एवं संस्कारों को वे एकबारगी फेंक नहीं सकते। इसीलिए संध्या के उत्तर में चाची का कहना है—

'जाँति-पाँति सनातनी चीज है। वह किसी के तोड़ने से टूटेगी भला ?'[११]

'मैला आंचल' में मेरीगंज गाँव के सुधार के लिए प्रतिबद्ध डॉ० प्रशांत से पूछा जाता है—'डॉ० प्रशांत कुमार, जात ?'...यहाँ हर आदमी जाति पूछता है।.... सिर्फ हिन्दू कहने से ही पिंड नहीं छूट सकता। ब्राह्मण है ? कौन ब्राह्मण, कौन मूल ' गाँवों में बिना जाति के आपका पानी नहीं चल सकता।'[१२]

जातिवाद के वर्चस्व होने के साथ उनमें पारस्परिक मन-मुटाव, वैमनस्य आदि का बोलबाला है। फलतः आए दिन संघर्ष कलह की नौबत आती रहती है। मेरीगंज में राजपूतों एवं कायस्थों का मन-मुटाव चल रहा है। उधर ब्राह्मण तीसरी शक्ति का काम कर रहे हैं। यादवों को सरकार ने राजपूत मान लिया है।[१३] गंगोली गाँव और करैता भी ऐसे कलह का केन्द्र बन गया है।[१४]

जातिप्रथा में अनेक प्रतिबंध हैं—भोजन, यौन संबंधों की स्थापना तथा अस्पृश्यता संबंधी। मेरीगंज के बिरंची ने कचहरी के तहसीलदार साहब के साथ पूड़ी जलेबी खाई थी। फलतः उसका जातिगत बहिष्कार हुआ और पाँच रुपये जुर्माना तथा एक जोड़ा धोती पंडित को देकर ही हुक्का-पानी खुल सका।[१५] उसी प्रकार महंथ साहब के भंडारा में सब मिलकर साथ नहीं खाते। सिपहिया टोला के लोग भी ग्वाले लोगों की पंगत में एक साथ नहीं खाते।[१६] 'पानी के प्राचीर' हो या 'जल टूटता हुआ', रेणु की 'परती परिकथा' हो या 'मैला आंचल' सभी आंचलिक उपन्यासों में यौन-संबंधी क्षुधा की तृप्ति के लिए विजातीय युवतियों की देह से खिलवाड़ किया जाता है। 'जल टूटता हुआ' में इस प्रतिबन्ध का साधारणीकरण कर दिया गया है। डलवा सम्पूर्ण ग्राम के छिपे हुए यौन सम्बन्धों को स्थापना के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण आत्मविश्वास के साथ सुनाती है—

'छिपे-छिपे तो यहाँ पर खूब चलता है। डलवा क्या कोई एक डलवा है ?

गाँव-गाँव मुहल्ले-मुहल्ले डलवा फैली हुई हैं और ये बामन लोग ? किसे-किसे नहीं जानती मास्टर साब ? दीनदयाल बाबा से कोई जूठी हाँडी बची है ? जब से दुलहिन मरी है ये यही सब करते घूम रहे हैं और मास्टर साब धीरे-धीरे लोग यह भी कहने लगे हैं कि अपने छोटे भाई की जोरू से भी ...।'[१७]

इतना ही नहीं यौन भ्रष्टाचार गाँव-गाँव में फैला है। सारा-का-सारा मेरीगंज गाँव अनैतिक भ्रष्टाचार के रोग से ग्रस्त है। अंधा महंत सेवादास कोठारिन लक्ष्मी के पीछे पागल है। लरसिंघदास, रामदास और नागा बाबा भी उसी लक्ष्मी को पाने के लिए अपनी कण्ठी माला तोड़ने को तैयार हैं। रमपियरिया की माय सात बेटों के बाप छीत्तन से फँसी है। मंगलादेवी से 'मिलने वालों में कॉलेज के विद्यार्थी, एम० एल० ए०, साहित्य गोष्ठी के मंत्री जी, चर्खा संघ के कार्यकर्त्ता तथा नई हिन्दी दैनिक के सहायक सम्पादक भी हैं।'[१८] कालीचरण भी उनकी सेवा में हाजिर ही रहता है। नोखे की स्त्री और रामलगन का बेटा, उचितदास की बेटी और सरबन महतो, बालदेव और कोठारिन और तहसीलदार, हरगौरी और उसकी खास मौसेरी बहन के यौन सम्बन्ध अनैतिक है।[१९]

अस्पृश्यता का प्रतिबन्ध भी कम मारक नहीं है। रहपुरा गांव का मंगलू ब्राह्मण चरणदास चमार को मुर्गीपालन के लिए अपना मकान किराए पर दे[२०] या परानपुर में सुवंश मलारी का जीवन-बीमा कराये, हर हालत में अस्पृश्यता की आग भड़क उठती है।[२१] लेकिन अस्पृश्यता के खिलाफ भी हवा तैयार हो गई है। सरकार के संरक्षण एवं कानूनी सहायता के बल पर बदलाव आ रहा है। सुवंश और मलारी के खिलाफ बोलने वालों को दारोगा साहब चालान करने वाले हैं।[२२] निम्न जाति के लोग सरकारी सहायता पा रहे हैं। इस आर्थिक प्रलोभन ने सवर्णों की उच्च भावना को भी झकझोर दिया है। परानपुर का गरुड़धुज झा तीन महीने तक कचहरी की दौड़-धूप अपने को 'हरिजन-ब्राह्मण' की सूची में डालने के लिए करता है।[२३] इससे शूद्र जाति के प्रति सवर्णों में पनप रही घृणा भावना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

आर्थिक सहाय्य का ही परिणाम है कि जातिगत संकीर्ण भावना और अस्पृश्यता की दहशत से वे ऊपर उठ रहे हैं। उनमें नए जीवन की खुशी फूट रही है।[२४] सामाजिक विषमता मिट रही है। हरिजन आदि निम्न जातियों का मन्दिर-प्रवेश हो रहा है।[२५] गंगौली का हरिजन परसराम एम० एल० ए० बनकर अपने गाँव की आर्थिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिए कार्य कर रहा है।[२६]

श्रम को प्रतिष्ठा मिलने लगी है। श्रम-विभाजन के महत्व को समझा जाने लगा है। फलतः समता का भाव पनपा है। इसीलिए भगत (चमार) तिरिया कहबा

है—'इज्जत तो सबकी एक ही है बाबू ! चाहे चमार की हो, चाहे ठाकुर की । हम आपका काम करते हैं, मजूरी लेते हैं । हमें गरज है कि करते हैं । आपको गरज है कि कराते हैं । इसका मतलब ई थोड़े हो गया कि हम आपके गुलाम हो गए ।'[२७]

निष्कर्षत: आंचलिक उपन्यास में व्यक्त ग्रामीण समाज में जाति-व्यवस्था के परम्परागत प्रतिबन्ध विशृङ्खलित हो रहे हैं । जन्म से चली आ रही विषमता की खाई पट रही है । परन्तु युग-युग के संस्कार से उत्पन्न कुण्ठा, हीन ग्रन्थि को जल्दी हटाना सम्भव नहीं दीखता ।

पारिवारिक व्यवस्था

बिहार अंचल के रामपुर गाँव पर आधारित आंचलिक उपन्यास 'माटी की महक' में दो वंशों के संयुक्त परिवार के ह्रास का वर्णन है, जिसका कारण आर्थिक दशा है । अच्छे खाते-पीते गृहस्थ भी दूसरों की जमीन बटाई करने को विवश हैं । आत्म प्रदर्शन और अपनी श्रेष्ठता दिखाने में बहुत परिवार कंगाल हो गये ।[२८] ठीक यही हालत परानपुर गाँव के प्रत्येक परिवार की है । गरुड़धुज झा को घर-घर की जानकारी है कि परिवार का एक-एक प्राणी दूसरे प्राणी को संदेह की दृष्टि से देखता है । एक-एक आदमी अपने को एक किला बना रहा है ।[२९] घर-घर में शाम होते ही लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है । महिला-पुरुष सब लड़ते हैं । एक घर की आग दूसरे घर में भी पहुँच जाती है ।[३०]

'लोक-परलोक' के पद्मपुर गाँव की भी यही दशा है । पिता पुत्र को संबोधित करते हुए कहता है—'साले मुंह तोड़ दूंगा । समझा क्या है तूने'[३१] पुत्र का उत्तर अपेक्षाकृत अधिक घातक है—

'तुमने पालो तो कोई ऐसान करो का ।'[३२] परिवारों के इस विघटन, वैमनस्य और कटुता का कारण है पुरातन एवं नवीन पीढ़ी के विचारों में संघर्ष । मूल्यदृष्टि एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोण का अन्तर । यह संघर्ष करैता गांव में साफ-साफ देखा जा सकता है ।[३३] तारा प्रकाश जोशी का कहना है कि लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों में आजादी के बाद १५ वर्षों तक होने वाले परिवर्तनों को उस अंचल के उभरते हुए प्रभावों को, संयुक्त परिवारों के टूटने, आर्थिक आधार पर बनते गये परिवारों की दूरियों को, व्यक्ति चेतना की ओर वर्ग-चेतना को, आर्थिक व नैतिक आधारों पर बनते व टूटते जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया गया है ।[३४] निष्कर्षत: पारिवारिक व्यवस्था के परम्परागत आदर्शों का खण्डन और पारिवारिक सम्बन्धों में अर्थोन्मुखता का प्राधान्य देखा जा सकता है ।

परिवार में नारी की स्थिति

'जल टूटता हुआ' में शारदा के वक्तव्य से पता चलता है कि परिवार में

लड़कियों की स्थिति शोचनीय है। वे पांव तले की जूती हैं। लड़के-लड़की में गहरा अन्तर है। लड़कियाँ जन्म से मृत्यु तक शोषण की शिकार रहती हैं। इसीलिए परमात्मा को कोसा जाता है—'हाय ईश्वर ! तूने लड़की जाति पैदा ही क्यों की ?'[३५] 'आधा गाँव' के फुस्सु मियाँ का लड़की होते ही मुँह लटक जाता। माँ भी बच्ची को कोसने लगती। घर में मुहर्रमी आलम छा जाता।[३६] परिवार में लड़के का ऐसा वर्चस्व था कि फुस्सु मन्नतें-वन्नतें मनाकर और गण्डे ताबीज में जकड़ जकड़ाकर फिर कोशिश में लग जाते।[३७] लड़के की कामना के साथ अन्ध-विश्वास, टोने-टोटके को भी प्रश्रय मिलता। पुत्री के बड़े होने पर दहेज-प्रथा के कारण धनाभाव वाले परिवार में वह पहाड़ बन जाती। फलतः कभी अनमेल विवाह कभी बेमेल विवाह कभी आजीवन कौमार्य का व्रत। तज्जन्य परिणाम भी सामने आ जाता—कुपथ में पाँव जाने से बदनामी, असमय बुढ़ापा, कुण्ठा, दमित लालसाओं से उत्पन्न परिणाम।'[३८]

पत्नी की पारिवारिक स्थिति भी संतोषजनक नहीं है। पति से सदा निम्न स्थिति, उसी पर समर्पित जीवन। पति का देहान्त हुआ तो वैधव्य काट खाने दौड़ता है। पग-पग पर लांछन, भर्त्सना, उपेक्षा की शिकार नारी परिवार के लिए स्वयं अभिशाप बन जाती है।[३९] रेणु के उपन्यासों में भी वैधव्यग्रस्त नारी का मार्मिक चित्रण है। उसकी मूल समस्या है आर्थिक संरक्षण, पोषण की तथा परिवार के दकियानूसी संस्कार से उत्पन्न भयावह स्थिति की।[४०] पुत्री जनने वाली नारी को भी व्यंग्य, उलाहना का पग-पग पर शिकार होना पड़ता है। इससे बदतर स्थिति है निःसंतान, बाँझ महिला की। ऐसी स्त्रियों की पारिवारिक सामाजिक समस्या का स्पष्ट विवेचन मिलता है 'जल टूटता हुआ'[४१] एवं रेणु की 'परती परिकथा'[४२] में।

वरसोवा अंचल की स्त्रियों की पारिवारिक स्थिति कुछ दूसरी ही है। यहाँ स्त्रियों का राज है। घर गृहस्थी, हाट-बाजार वही सँभालती है। पुरुष मछली पकड़ता है और घर में नौकर की तरह रहता है। नैतिक बन्धन शिथिल है। इसीलिए स्त्रियाँ पति के होने पर भी प्रेमी रखती हैं और अपनी वासना-पूर्ति करती हैं।[४३]

'नई पौध' में आर्थिक अभाव के कारण लड़कियाँ बेची जाती हैं। कोई गूंगे के हाथ, कोई बौड़म के हाथ तो कोई तीन जिला पार पहुँचा दी गई। फलतः वैधव्य का असमय अभिशाप। किसी का पागल होना, किसी का आग लगाकर जलना, किसी का घर से भागकर गर्हित जीवन बिताने के लिए विवश हाना। आर्थिक विरूपता के कारण सम्पन्न अनमेल विवाह की त्रासदी की ओर लेखक का स्पष्ट संकेत है—'पन्द्रह साल की कच्ची छोकरी पचास साल के पठकोस दूल्हा के साथ किस तरह अपनी जिनगी काटेगी ? हे राम !'[४४] 'रतिनाथ की चाची' में भी अनमेल विवाह का भयावह रूप देखा जा सकता है। भोला पण्डित ऐसे विवाह आयोजित

कराने में निपुण माने जाते हैं—'कितने ही लूले लँगड़े, अंधे अपाहिज और बूढ़े भोला पण्डित की कृपा से अधखिली कलियों जैसी बालिकाओं को गृहलक्ष्मी के रूप में पाकर निहाल हो गये।'[४५] 'जल टूटता हुआ' की गीता पैसे के अभाव में ऐसी ही समस्या बन गई है। उसका 'पनबहे पुरवैया' गीत समाज के खोखलेपन को बेनकाब करता है और दहेज ऐसी समस्या से उत्पन्न परिणाम की ओर सोचने के लिए विवश भी।[४६]

दहेज-प्रथा के प्रचलन के कारण अमीर लोग अनेक पत्नियाँ कर लेते हैं, तो गरीब लोगों को अपनी फूल सी सुकुमारी बेटी को बूढ़े, अपंग, पागल को सौंपना पड़ता है।[४७]

परन्तु प्रगतिशीलता के कारण नारियाँ अपने 'स्व' को पहचानने लगी हैं। अपनी अस्मिता की तलाश करने लगी हैं। फलतः विधवा के पुनर्विवाह की ओर ध्यान जाने लगा है। वे परम्परागत बन्धनों को त्यागकर नई चेतना से ओत-प्रोत हो रही हैं। अपनी बेटी गौरी (विधवा) के अपने देवर से अवैध सम्बन्ध पर उसकी माँ का वक्तव्य विधवाओं की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालता है साथ ही उसके नये तेवर और अहम् निर्णय पर भी टिप्पणी देता है—

'कोई क्या कर लेगा हमारा ? बिटिया को मैं प्याज की तरह जमीन में दबाकर नहीं रख सकती। इसके चलते जो कुछ हो।'[४८] 'बलचनमा'[४९] और 'गंगा मैया'[५०] में भी विधवा की दयनीय स्थिति का वर्णन है, परन्तु विद्रोह का स्वर भी। अपनी नाटकीय स्थिति से मुक्ति का संकल्प भी। बलचनमा का नारी कल्याण हेतु सक्रिय होना नई चेतना और प्रगतिशीलता का परिणाम है। गोपी का अपने भाभी को बचाना भी इसी प्रगतिशीलता के अन्तर्गत आता है।[५१] 'पानी के प्राचार' की गुलाबी अपने पति शामधारी की मृत्यु के उपरान्त बैजू पण्डित से विवाही जाती है। 'जल टूटता हुआ'[५२] की बदमी भी ऐसा ही निर्णय लेती है।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि आंचलिक उपन्यासों में व्यक्त परिवारों में नारी की स्थिति प्राचीन अवधारणाओं, संस्कारों के कारण भले ही दयनीय हो, पर प्रगतिशीलता के कारण उनकी स्थिति में सुधार आ रहा है। वे युग की नई रोशनी में चलने के लिए तैयार हो रही हैं।

वर्णित समाज का सांस्कृतिक और आर्थिक पक्ष

समाज के सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्ष का आंचलिक उपन्यासों में विशद चित्रण है। आंचलिक उपन्यास विघटन युग की उस चेतना की अभिव्यक्ति है, जिसमें अपने जातिवर्ग, धर्म संस्कृति के प्रति कट्टरता की चरमसीमा को छूने वाला मोह बढ़ जाता है, अपने अंचल विशेष की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति पक्षपात का

भाव बढ़ जाता है।' इसीलिये वहाँ का सांस्कृतिक पक्ष उभरकर सामने आता है। भले ही उसमें पक्षपात के कारण संकुचन हो। सांस्कृतिक विकास में अर्थ का प्राधान्य रहता है। इसलिए संस्कृति के साथ आर्थिक भावों और दशाओं का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ अपेक्षित है।

भौगोलिक परिवेश एवं प्राकृतिक वातावरण से किसी अंचल की बहिरंग विशिष्टताओं का पता चलता है और सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण से उसके जीवन में आंतरिक वैशिष्ट्य का। अंचल जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से समन्वित प्रभाव तथा योगायोग से ही वहाँ के निवासियों की मानसिकता का निर्माण होता है। उनके संस्कार बनते हैं। उनके विचार तथा भावनाएँ उद्भूत होती हैं—अर्थात् उनकी संपूर्ण आंतरिकता का गठन होता है। अंचलों की विशिष्टता और सांस्कृतिक पक्ष का उद्घाटन होता है। इसके पीछे लोक तत्वों का हाथ रहता है, लोक उपादानों का भी—लोक भाषा, लोक कहावतें और मुहावरे, लोक पर्व त्योहार, लोकोत्सव, लोकगीत, लोक कथाएँ, लोक नृत्य, लोक खेल तमाशे, लोक परंपराएँ, लोक-रीतियाँ, अंध-विश्वास, जादू-मंतर तथा भूत-प्रेत संबंधी विश्वास आदि।[५३]

रेणु के उपन्यासों में अंचल का सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष समग्रता में व्यक्त हुआ है। 'मैला आंचल' का मेरीगंज हो या 'परती परिकथा' का परानपुर, वहाँ वर्ण व्यवस्था का बोलबाला देखा जाता है। इतना ही नहीं सारा गाँव अलग-अलग टोलों में बँटा है—कायस्थ टोली, राजपूत टोली, यादव टोली, तंत्रिमा छत्री टोली, गहलौत छत्री टोली, कुशवाहा छत्री टोली आदि। टोलों का विभाजन वर्ग और जातियों के आधार पर हुआ है।[५४] फलतः उनकी निजी विशेषताएँ संस्कृति को प्रभावित करती हैं। नागार्जुन के 'बलचनमा', रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' में वर्णव्यवस्था का मारक जहर फैला हुआ है।[५५] इसके साथ अभिशाप है अंध-विश्वास। सामाजिक उत्थान, ग्रामीण समस्याओं के समाधान का कोई कार्य-क्रम बनाया जाए—अंध-विश्वास और बाधाओं की विशाल सेना खड़ी हो जाती है।

'जोतखी जी का विश्वास है कि डाक्टर लोग ही रोग फैलाते हैं, सुई भोंक भोंककर देह में जहर दे देते हैं, आदमी हमेशा के लिए कमजोर हो जाता है।··· पूरब मुलुक कामच्छा-हासाम से काला बुखार वालों का लहू शीशी में बंदकर यही लोग ले आए थे···आजकल घर-घर काला बुखार फैल गया है। बिलैती दवा में गाय का खून मिला रहता है।[५६] पारबती की माँ को डायन बताकर खूब पीटा जाता है।[५७]

'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' के गाँव पांडे पुरवा तथा तिवारीपुर में सांस्कृतिक-आर्थिक दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है। वस्तुतः दो गाँव केवल नाम भर को दो हैं। एक ही अंतर ध्यातव्य है—एक में स्वतंत्रता के पूर्व का जीवन चित्रित है तो दूसरे में स्वातंत्र्योत्तर जीवन का। लेखक ने स्वयं इसे समय के फलक पर एक भाग का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा है।[५८]

मनुष्य-मनुष्य का रागात्मक संबंध मरुबांतर में खोता जा रहा है। अजनबीपन का अहसास उसे सालने लगा है। वह अपने को अलग कटा-सा अनुभव करता है—'एक आदमी के लिए उसके गाँव का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड़कर कुछ नहीं है। कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव-अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक दूसरे से मुक्तप्राण होकर मिल सके? मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राणों का योग-सूत्र नहीं।'[५९] गाँव में शहरी मूल्य आ रहा है और व्यक्ति वृहत सामाजिकता से कटकर अकेला होता जा रहा है।

रेणु ने अंचल के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्षों को जितनी व्यापकता और समग्रता से उभारा है, वह अनुसंधान की सीमा तक पहुँच गई है।[६०] रेणु ने सांस्कृतिक विशिष्टताओं का जैसा चित्रण किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टि से रेणु अप्रतिम हैं, अद्वितीय भी।[६१] सांस्कृतिक अनुसंधान के लिए उन्होंने लोक उपादानों का सहारा लिया है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में अवांतर एवं प्रासंगिक प्रसंग अनेक हैं। लोक कथाएँ हैं—रानी डूबी और कोहबर रांडी की कथाएँ। लोकगीत कथा है—सुन्नरि की गीत कथा। लोक गीत में पहाड़ी लोकगीत, बरसाती लोकगीत हैं। लोक कहावत, मुहावरों की भरभार है। सबके भीतर से झाँकती है भारतीय संस्कृति की प्राणवंत धारा—अपनी सारी सीमाओं, शक्तियों के साथ।[६२]

कछार-अंचल की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है, जिसमें रेणु के समान ही लोकगीत, लोकोत्सव, रीतिरिवाज का प्राधान्य है। अंध-विश्वास, जादू-टोने, भूत-प्रेत का प्रभाव सभी गाँवों में है। रेणु के उपन्यासों में इसका बड़ा जीवंत रूप देखते बनता है। रेणु की एक विशेषता यह भी है कि वे प्राचीन परंपरा, आदर्शों, मूल्यों, धारणाओं की गहराई में जाकर उनसे उत्पन्न संस्कार और संस्कृति को रूपायित करते हैं।[६३]

सभी आंचलिक उपन्यासों में गाँवों की गरीबी, जहालत और भुखमरी का चित्रण है। आर्थिक अभाव से उत्पन्न नाना समस्याओं पर विचार-विवेचन भी।[६४] रेणु के उपन्यास के बच्चों को बथुवा साग पर पलना पड़ता है। गंगोली, परानपुर, तिवारीपुर, करैता में भी आर्थिक अभाव एवं आर्थिक वैषम्य के भयंकर परिणाम

देखे जा सकते हैं। जब आजादी के चालीस वर्षों बाद भी यहाँ की जनता गरीबी रेखा से ऊपर नहीं उठ पाई है, तो १९६० के पूर्व चित्रित गाँवों की आर्थिक अवस्था का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

उपन्यासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण वाले अध्याय में समाजशास्त्रीय पहलुओं पर विशदता के साथ विचार किया गया है। वहाँ भी आवश्यकतानुरूप तुलना का सहारा लिया गया है। परंतु वहाँ समाजशास्त्रीय पहलुओं का उद्घाटन-विवेचन जितना प्रधान है, उतना तुलनात्मक अध्ययन नहीं। इसलिए इस अध्याय में तुलना का सहारा लेते हुए इस ओर ध्यान है कि संपूर्ण भारतवर्ष (आंचलिक उपन्यासों में उपन्यस्त) का समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक समग्र एवं संश्लिष्ट चित्र बने। 'रथ के पहिये' के आदिवासी जनजाति हों या 'कब तक पुकारूँ' के करनट या बस्तर के आदिवासी (जंगल के फूल) या फिर वहाँ की धरती से जुड़े धरतीपुत्र या मनुपुत्र हों— उनकी मौलिक समस्याएँ लगभग समान हैं[६४] वर्गों, जातियों, वर्णों, कबीलों में नाना पेशा कबूलकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष। संपन्न विपन्न का संघर्ष, शासक-शासित का संघर्ष और प्रगतिशीलता के प्रवाह में नई रोशनी में आने की आतुरता भी।

'अग्नि पुराण' में कवि को अपार काव्य संसार का प्रजापति कहा गया है। रेणु को आंचलिक जीवन का प्रजापति कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। कारण, जीवन को विशिष्टता एवं समग्रता में जीने, भोगने और रूपायित करने की विलक्षण प्रतिभा उनके पास है। सच पूछिए तो आंचलिक उपन्यासकारों ने समाज को जीवंत कर दिया है— सारी सीमाओं, शक्तियों के साथ। भारतवर्ष को पूर्णता में जानना हो तो आंचलिक उपन्यास ही पर्याप्त हैं विशेषकर रेणु के आंचलिक उपन्यास।

औपन्यासिक शिल्प

आंचलिक उपन्यासों में वस्तु संगठन का आधार कथापात्र या कोई आदर्श विशेष न होकर किसी सीमित स्थान, क्षेत्र या अंचल विशेष का समग्र जीवन अथवा किसी जाति विशेष की जीवनगत समस्याएँ होती हैं। अतएव, इनके कथानक अंचल केंद्रित होते हैं। आंचलिक उपन्यासों में रचनाकार के दृष्टि-केन्द्र के इस परिवर्तन या सीमित हो जाने के कारण ही उनके शिल्प में परिवर्तन होता है। अनांचलिक और आंचलिक उपन्यासों की शैल्पिक नवीनता का भी यही कारण है। आंचलिक उपन्यास की विषयवस्तु की विशिष्ट प्रकृति और उपन्यासकार के अवलोकन-बिन्दु के इस परिसीमन के फलस्वरूप ही इसकी कथावस्तु के संयोजन-शिल्प में अन्तर आ गया है। कथावस्तु की शैल्पिक नव्यता और विशिष्टता के दो पहलू हो सकते हैं—

(क) कथावस्तु उपादानों की विशिष्टता

(ख) कथावस्तु उपादानों की संगठनात्मक विशिष्टता अर्थात् वस्तु संयोजन-शिल्पगत वैशिष्ट्य ।

'मैला आंचल' की कथाभूमि मेरीगंज अपनी कई विशिष्टताओं के कारण पूर्णिया जिले के या बिहार के अन्य गाँवों से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। 'परती परिकथा' दुलारीदाय के अंचल में फैले घूसर, वीरान, अंतहीन प्रांतर—बंध्या धरती की कथा है तो साथ-साथ उस परानपुर गाँव के व्यापक जीवन की कथा भी। 'अलग-अलग वैतरणी' का केन्द्र करैता गाँव की बहुविध समस्याओं से साक्षात्कार है, तो 'आधा गाँव' गंगोली के आधे हिस्से में बसे मुस्लिम जनजीवन की आंतरिक बाह्य सच्चाइयों, परम्परागत यौन नैतिकता का उद्घाटन। 'ब्रह्मपुत्र' दिसांगमुख के ढहते-बनते तथा वहाँ के वासियों के संघर्षशील जीवन की कथा है, तो 'माटी के लोग सोने की नैया' कोशी की धारा उदहानदी के तट पर नवटोलिया गाँव में बसने वाले मछुआरों के जुझारू जीवन का दस्तावेज।[६६]

परंतु ध्यातव्य है कि नवटोलिया गाँव कोशी के अंचल में ही बसे परानपुर गाँव की समस्याओं से सर्वथा भिन्न है। नवटोलियाँ गाँव की समस्याएँ 'सागर लहरें और मनुष्य' के बरसोवा गाँव के मछुआरों से भिन्न कोटि की हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कथानक व समस्याएँ एक होकर भी उनमें गहरा अंतर है। यही अन्तर कथावस्तु उपादानों की विशिष्टता है। वस्तुतः यही उपन्यासकारों को अलगाता है, उनकी अलग पहचान बनाता है, अंचल केंद्रित कथानक तो सबका रहता है।

कथानक में बिखराव व एकसूत्रता का अभाव आंचलिक उपन्यासकारों का दोष कहा जाता है, पर निर्मल वर्मा ने इसे कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग कहा है। उनका कहना है—'औपन्यासिक कथा-शिल्प, कथा-संयोजन एवं चरित्र-गटन के प्रति सजग हर लेखक की तरह रेणु का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण और आग्रह है, जो 'मैला आंचल', 'परती-परिकथा' तथा उनके आगामी उपन्यासों में मौजूद रहेगा। इस पर आपत्ति करना हर कलाकार के विशिष्ट कलात्मक व्यक्तित्व को ही अस्वीकार करना होगा।'[६७] 'मैला आंचल' के बाद रेणु के कथाशिल्प मे कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता। यह उनके कथाशिल्प का ही कमाल है कि समूचा उपन्यास पढ़ जाने के बाद लगता है जैसे हम किसी गांव का अद्भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आए हैं।[६८]

कथागत बिखराव एवं जीवनगत बिखराव के प्रचुर उदाहरण आंचलिक उपन्यासों के कथाशिल्प में मिलेंगे। 'अलग-अलग वैतरणी' का कथागत बिखराव लेखक की कुशल कथायोजना से दिखाई नहीं पड़ता। उसमें ऐसी बुनावट है कि गाँठ का पता ही नहीं चलता। उनके अलग-अलग पात्रों की अलग-अलग वैतरणी

भले ही हो, पर सबके बीच में बैठी है करैता गाँव के टूटन, स्खलन, अवमूल्यन और बिखराव की व्यथा भरी कहानी।[६९] नागार्जुन के उपन्यासों में कथागत बिखराव की अपेक्षा जीवनगत बिखराव ही अधिक है। वे किसी 'अंचल के संश्लिष्ट जीवन की कथा कहने के स्थान पर अंचल से लिए गये किसी पात्र की कहानी कहते हैं। यह कहानी वर्णनात्मक होती है—एक सीधी रेखा में। अंचल केवल परिवेश के रूप में होता है।'[७०] यही कारण है कि उनके 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'दुःखमोचन' और 'नई पौद' की कथायोजना में न तो आंचलिक उपन्यासों सा कथागत बिखराव है और न कथाबंध में शिथिलता।

इस प्रकार कथागत शिल्पगत बिखराव के बावजूद आंचलिक जीवन की आत्मा से साक्षात्कार कराने में सभी आंचलिक उपन्यासकार सफल हैं। वे जिस विराट लक्ष्य को लेकर चलते हैं, कथाशिल्प के कारण उन्हें लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता ही मिलती है।

चरित्र-चित्रण

आंचलिक उपन्यासों की चरित्र-योजना परंपरागत उपन्यासों से भिन्न होती है। इसका कारण है लेखकीय दृष्टि-केन्द्र या उजागरीय केन्द्र में परिवर्तनशीलता। किसी विशिष्ट अंचल की कहानी लिखना उस अंचल के निवासियों की कहानी ही है। अतः आंचलिक उपन्यासों में चरित्र-योजना की विशेषता समूह पात्र की सृष्टि है। नायक-शून्यता भी इसकी विशिष्टता है। 'यहाँ अंचल स्वयं एक जीवंत विशिष्ट पात्र समूह पात्र है और शेष सभी पात्र उसकी सामूहिकता के अंग हैं—मानो असंख्य पात्र स्वयं नहीं हैं, किसी के लिए हैं। इन असंख्य पात्रों का प्रतिनिधि प्रमुख पात्र-शास्त्रीय शब्दावली में नायक भी अंचल महानायक के अधीन रहता है। इस तरह यह अंचल-पात्र सारे कथानक पर छाया रहता है और सभी पात्रों को संचालित करता रहता है।'[७१] इसके प्रमाण हैं 'परती-परिकथा', 'मैला आंचल', 'आधा गाँव', 'अलग-अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'हौलदार' आदि उपन्यासों के असंख्य पात्र।

संकीर्णता, स्वार्थपरता, टुच्ची अधकचरी राजनीति, धूर्तता का जैसा वीभत्स प्रदर्शन लुत्तो 'परती परिकथा' और रामकुमार 'जल टूटता हुआ' ने किया है, उससे कम मुखिया 'पानी के प्राचीर', हरिया और सिरिया 'अलग-अलग वैतरणी' तथा मंगू 'धरती धन न अपना' नहीं हैं। दूसरी ओर (ठीक इसके विपरीत) ग्रामीण प्रगति के लिए प्रतिबद्ध संघर्षरत प्रगतिशील विचारों और नई मानसिकता से संपन्न पात्रों का एक दल भी है, जो विभिन्न अंचलों का प्रतिनिधित्व कर ग्रामोत्थान का स्वप्न साकार कर रहा है यथा 'दुखमोचन' का दुखमोचन, 'पानी के प्राचीर' का नीरू, 'अलग अलग वैतरणी' के जग्गन मिसिर, खलील मियाँ और विपिन, 'जल टूटता हुआ'

का सतीश, 'मैला आंचल' का डॉ० प्रशांत, कालीचरण, 'जंगल के फूल' का सुलकुसाए, झालर, ब्रह्मपुत्र का नीरद देवकांत, 'सत्ती मैया का चौरा' का मुन्ने, मन्न, 'मुक्तावली' का चंद्रावली तथा तोम्बीसना और 'वरुण के बेटे' का भोला मांझी। इन दो दलों का संघर्ष भी चलता है और इसी से कथा का विकास होता है और उपन्यास की अभीष्ट सिद्धि भी।[७२]

आंचलिक विशिष्टता के साथ चरित्रों में वैयक्तिक विशिष्टता भी है। यह एक ओर उसे अन्य पात्रों से विशिष्ट बनाती है, तो दूसरी ओर संबद्ध अंचल को अपनी अलग पहचान देती है। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में रेणु अग्रगण्य हैं। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' के पात्रों में वर्गीय और वैयक्तिक गुणों दुर्गुणों का समन्वय सर्वाधिक कलात्मक रूप में प्रकट हुआ है—'रेणु के पात्रों में वर्गीय तथा व्यक्तिगत विशेताओं का अद्भुत समन्वय हुआ है, जिससे अंचल-चित्रण के उद्देश्य साधन के साथ ये अपनी व्यक्तिगत सजीवता से भी पाठकों को प्रभावित कर सकें।'[७३]

'परती-परिकथा' के जितेन्द्र, शिवेन्द्र मिश्र तथा कामरूप नारायण सिंह, 'अलग-अलग वैतरणी' के जमींदार जैपाल सिंह, बुझारथ तथा विपिन और 'जल टूटता हुआ' तथा 'पानी के प्राचीर' के महीप सिंह तथा गजेन्द्र सिंह अपने सामन्ती सस्कारों, उच्चवर्गीय प्रवृत्तियों के कारण एक ही वर्ग में भले ही रखे जाएँ, परन्तु उनके चरित्र की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें अलग-अलग व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। उसी प्रकार 'अलग-अलग वैतरणी' के जग्गन मिसिर, दयाल पण्डित, हरखू सरदार, धनेसरी बुढ़िया तथा सरूप भगत कितने ही ऐसे पात्र हैं, जो अपने वर्ग की चारित्रिक विशेषताओं की सीमित परिधि से निकलकर अपने-अपने चरित्र की अलग पहचान बनाते हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' की रत्ना तथा 'कब तक पुकारूँ' का सुखराम अपनी इसी व्यक्तिगत विशिष्टताओं के कारण मछुआ समाज और नट समाज से काफी भिन्न दिखाई देते हैं।[७४]

चरित्र-चित्रण शिल्प में एक विशेषता की ओर सहज ही ध्यान चला जाता है—पात्रों के बहिरंग चित्रण में आंचलिकता का प्रभाव गहरा है। ऐसे पात्रों को अंचल की विशिष्ट गंध, रूप-रंगवाली मिट्टी से गढता है। आंचलिक वेश-विन्यास करता है। 'बलचनमा' में किसी के 'दाँत दनुक के फूल जैसे झकझक कर रहे हैं'[७५] और किसी का 'चेहरा एकाएक सपेता मालदह जैसा'[७६] हो जाता है, किसी की 'दिया जैसी नाक' और 'खस कूची के बाल।'[७७]

'परती परिकथा' का शिवेन्द्र मिश्र इसका विलक्षण उादहरण है—'रक्तचंपा की तरह शरीर का रंग, लाल होंठ, छोटी-छोटी किन्तु सँवरी हुई मूछें, गाढ़े लाल

रंग की धोती, केसरिया रेशमी मिर्जई, ढाकाई झीनी चादर, जिसके छोर पर सुनहरी कारीगरी।'[७८] देखते ही दूर से ही मिथिलांचल के संभ्रान्त पुरुष का पता चल जाता है।

उपन्यस्त अंचल में ग्रामीण संरचना के दो आधार हैं—अर्थ और जाति। जाति से भी अधिक वर्ग-चेतना का अर्थ प्रभावित करता है। इसीलिए 'अलग-अलग वैतरणी' के जैपाल सिंह, 'जल टूटता हुआ' के महीप सिंह, पानी के प्राचीर के गजेन्द्र बाबू, 'आधा गाँव' के ठाकुर कुँवरपाल सिंह तथा 'धरती धन न अपना' के चौधरी हरनाम सिंह के क्रिया-कलाप एक समान इसीलिए लगते हैं क्योंकि वे समृद्ध व जमींदार हैं। ठीक इसके विरोध में घृणा आक्रोश से भरे चरित्र हैं कालीचरण ('मैला आँचल'), मोहन माँझे ('वरुण के बेटे'), लुत्तो ('परती : परिकथा'), बलचनमा ('बलचनमा'), सुखराम ('कब तक पुकारूँ'), सुलकसाए ('जंगल के फूल'), सतीश ('जल टूटता हुआ'), नीरू ('पानी के प्राचीर')। ये अपने अधिकार व 'स्व' के लिए संघर्षरत हैं। शोषित, उपेक्षित निम्न वर्ग के जातीय चरित्र हैं।[७९] लगभग सब आंचलिक उपन्यासों में ऐसे चरित्र मिलेंगे।

डॉ० इन्दुप्रकाश पाण्डेय का कहना न्याय-संगत है कि 'इन उपन्यासों का विषय और प्रमुख कथानायक वह अंचल है जिसको चुनकर लेखक एक व्यवस्थित रूप दे रहा है····इन उपन्यासों में पात्रों की कुछ विशिष्ट अपनी कथाओं का होना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है वह भूखण्ड, अंचल, जो सभी तत्वों का आधार है।'[८०] उनके अनुसार उन उपन्यासों में टेठ पात्रों (टिपिकल) का बाहुल्य है जो वास्तविक परिस्थितियों में यथार्थ का प्रस्तुतीकरण करता है।[८१] ऐसे चरित्र सभी उपन्यासों में हैं। उनके चित्रण की शैली भले ही अलग-अलग हो, परन्तु उनका उद्देश्य अपने अंचल को समग्रता में रूपायित करना ही है।

भाषा-शैली

उपन्यास के अन्य तत्वों उद्देश्य, संवाद आदि पर प्रकारांतर से पहले के अध्यायों में विचार किया जा चुका है। कथा हो या चरित्र-चित्रण सबके पीछे एक ही उद्देश्य रहता है—अंचल को उसकी समग्रता में उभारना। उसकी आशा-आकांक्षा, स्वप्न-संभावना, सीमा-दुर्बलता का न केवल विवेचन, मूल्यांकन करना वरन् विराट् लक्ष्य की सिद्धि के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना। समाजशास्त्रीय और रूपगत अध्ययन के क्रम में संवाद, उद्देश्य आदि का विस्तृत विवेचन हो चुका है। भाषात्मक अध्ययन वाले अध्याय में भाषा के विविध उपादानों, अवयवों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है, परन्तु वहाँ ध्यान यह रखा गया है कि रेणु की भाषा-शैली को ही मुख्य केन्द्र बनाकर अध्ययन-विश्लेषण हो। यहाँ तुलनात्मक अध्ययन के लिए रेणु के साथ अन्य आंचलिक उपन्यासकारों की भाषा-शैली का अध्ययन वांछनीय है।

भाषा के सम्बन्ध में सबसे चिंतनीय पक्ष है पात्रानुकूलता । पात्र आते हैं अंचल से । अत: अंचल की बोली, उपभाषा, भाषा का व्यापक प्रभाव स्वाभाविक है । संस्कृत नाटकों में सेवक, स्त्री, विदूषक आदि से प्राकृत में वार्तालाप कराया जाता है । कारण, संस्कृत अभिजात वर्ग की भाषा है । इसीलिए सामान्य वर्ग उस भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता है । इसी प्रकार आंचलिक पात्र अंचल की ही बोली, भाषा में बात करते हैं । यह स्वाभाविक भी है । परन्तु इसके दुष्परिणामों से भी बचा नहीं जा सकता । डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का कहना है—"जनपदीय संस्कृतियों के विकास को जिस प्रकार राष्ट्रीयता का विकेन्द्रीकरण माना जाता है वैसे ही यह भाषा का विकेन्द्रीकरण होगा और भाषा अपना परिनिष्ठित रूप कभी प्राप्त नहीं कर सकेगी ।"[८२]

किसी उपन्यास की भाषा में अपरिचित और अटपटे शब्दों से पाठकों को उपन्यास के पढ़ने और समझने में कठिनाई हो सकती है । कथा के रस में अपरिचित शब्द पग-पग पर व्यवधान बने और पाद टिप्पणियों का सहारा लेना पड़े तो पाठक ऊब जा सकता है । रेणु ने अपने उपन्यासों की भाषा का आंचलिकता के अनुरूप मैथिलीकरण किया[८३] तो कृष्णा सोबती ने 'जिन्दगीनामा' का पंजाबीकरण ।[८४]

आंचलिक उपन्यास के लिए बोली, उपभाषा अथवा देशज या अपरिचित शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग की कोई अनिवार्यता नहीं है । यह अनिवार्य शर्त है, तो ग्रामीण बोली के प्रयोग के बावजूद शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' आंचलिक उपन्यास क्यों नहीं हो पाया ? 'बलचनमा' की भी यही हालत है । 'मैला आंचल' को परिनिष्ठित हिन्दी क्या अँग्रेजी में भी अनूदित कर दिया जाए, तो भी उसकी आंचलिकता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगेगा । मूल प्रश्न है यथार्थवादिता को कैसे प्रस्तुत किया जाता है । इसी में भाषा की सारी शक्ति का कमाल देखा जा सकता है, जिससे सत्य का भ्रम (इल्यूजन ऑफ रियलिटी) पैदा हो जाए ।

इस दृष्टि से रेणु की भाषा अतुलनीय है, अनुपमेय भी । जगह-जगह जो विचलन और विपथन दिखाई देता है (यही आलोचकों का आरोप भी है) वही भाषा की शक्ति और बुनावट की सुषमा है ।[८५] उनके भाषिक संरचना शिल्प की सबसे बड़ी उपलब्धि है (इस क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण देन भी)—लोकगीत, लोककथाएँ, लोक-मुहावरे आदि का भाव-संप्रेषण के माध्यम के रूप में कथा साहित्य में प्रथम बार विपुल प्रयोग । धनंजय वर्मा ने भी इसकी पुष्टि की है ।[८६] रेणु के समानांतर अन्य आंचलिक उपन्यासकारों ने आंचलिक भाषा, बोली का दामन थामकर अभीष्ट कथ्य प्रस्तुत किया । उन्होंने बिम्बों, प्रतीकों, ध्वनियों, संकेतों एवं रंग-योजनाओं की सघन बुनावट द्वारा एक विशिष्ट आंचलिक भाषा की संरचना तो की ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक प्रान्तों, वर्गों तथा विविध व्यवसायों में लगी विशिष्ट जातियों की

बोलियों, उपबोलियों से भी शब्द, मुहावरे आदि लेकर अपनी भाषा को समृद्ध किया है।

बलभद्र ठाकुर ने मणिपुरी और नेपाली, देवेन्द्र सत्यार्थी ने असमी, शैलेश मटियानी ने कुमाऊँनी, बलवंत सिंह और जगदीश चन्द्र ने पंजाबी, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, जवाहर सिंह तथा हिमांशु श्रीवास्तव ने भोजपुरी, राही मासूम रजा ने उर्दू और भोजपुरी, उदयशंकर भट्ट ने ब्रजी और कोली, राजेन्द्र अवस्थी ने गोंड और भीलों की बोली, जयप्रकाश भारती ने छत्तीसगढ़ी, रेणु, नागार्जुन तथा मायानन्द मिश्र ने मैथिली तथा रांगेय राघव ने नटों की बोली से शब्द लेकर हिन्दी के आंचलिक भाषा कोश में नये-नये बहुमूल्य शब्द रत्न भरे हैं। यही कारण है कि आंचलिक उपन्यासों का भाषायी संस्कार और इनका सम्पूर्ण भाषिक संरचना शिल्प हिन्दी के सामान्य उपन्यासों के भाषा-शिल्प से सर्वथा भिन्न है।

रेणु की भाषा की आधारशिला है लोकभाषा या आंचलिक बोली। इसलिए ग्रामीण पात्रों के वार्तालाप में एक साथ मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग उनकी सांकेतिकता और व्यंजनात्मकता को उभार देता है—

'अरे हाँ-हाँ, बेटा-बेटी केकरो, घी ढारी करे मंगरो। चलनी कहे सूई से कि तेरी पेंदी में छेद। हाथ में कंगना तो चमका रही हो, खलासी को एक पुरिया सिन्दूर नहीं जुटता।' (फुलियाँ की माँ)

'मुँह सँभालकर बात कर नेंगड़ी। बात बिगड़ जाएगी। बहन-बेटा लगाकर गाली देती हो? गाली हमारी देह में नहीं लगेगी। तेरे देह में तो लगी हुई है....'[८७] घी ढारी की लोक परम्परा, चलनी और सूप सम्बन्धी मुहावरा, एक पुड़िया सिन्दूर नहीं जुड़ने के साथ कई अर्थ व्यंजित हो उठते हैं। 'दंता राकस' के साथ परती धरती तोड़ने का वर्णन कितना जीवंत और स्वाभाविक हो उठा है—

'और एक सहस्त्र राकस धरती पर दाँत मारते हैं—खच्चाक
ढाक.... ढक्कर.... ढाक.... ढक्कर....
कौड़ मैर्रा-र्रा-आ-हो फोड़ मैर्रा-आ-हे।

इसकी चित्रात्मकता और ध्वन्यात्मकता की क्षमता सहज ही आकृष्ट कर लेती है। इन पंक्तियों में भाषा की सारी रूपायण शक्ति प्रकट हो गई है। रामदरश मिश्र की भाषा बिम्बात्मक है—'कि अइहो लोगवा। रोवे ले जिनिगिया। जुलुमवा की छइयाँ....।'[८८] बोलचाल की सामान्य भाषा हिन्दी होकर भी उसमें आंचलिक शब्दों (संज्ञा, विशेषण, क्रिया) का गहरा पुट है—'भूमि बहुत दिनों के बाद गेहूँ जौ की अच्छी फसलों से कसमसा रही थी'[८९] 'माघ पुज रहा था'[९०] '....उपवास पर उपवास करते हुए लोग अगोर रहे थे....फिर मटर के सत्तू और मकुनी से काम चलेगा।'[९१]

'आधा गाँव' का भाषा-शिल्प अन्य आंचलिक उपन्यासों से विशिष्ट और अलग है। वस्तुतः इस उपन्यास का कथाफलक उर्दू, हिन्दी और भोजपुरी की बेमेल खिचड़ी है। जो जीवन यहाँ उपन्यस्त हैं, वह सच्ची, खरी, स्पष्ट भाषा की माँग करती है। इसीलिए 'इसकी भाषा नग्नता की हद तक सच्ची, मिर्च की तरह तीखी, चिड़ैता की तरह कड़वी और बहुत हद तक फूहड़पन की सीमा तक खरी भी। कुछ लोग इसे निगल पाते हैं, कुछ लोग मुंह में रखते ही थू-थू कर देते हैं।'[३२] 'मन धूप लगी बरफ-सा पिघल रहा था, पत्थर पर गिरे आईने सा टूट रहा था —अब इस लूली जिन्दगी का क्या होगा'[८१] ऐसे भाषिक प्रयोग में काव्यत्व और बिम्ब की छटा देखी जा सकती है।

आंचलिक उपन्यासों में किसी विशिष्ट भूभाग की लोक-संस्कृति के चित्रण पर अधिक बल रहता है। एक अंचल विशेष के निवासियों के रहन-सहन, स्वभाव, शिष्टाचार तथा बोलचाल की यथार्थ झांकी प्रस्तुत करना ऐसे उपन्यासों का प्रमुख लक्ष्य रहता है। अंचलीय लोक संस्कृति की मौलिक विशेषताओं के सम्यक उद्घाटन के लिए भाषिक विधान में उपन्यासकार अंचल विशेष के प्रचलित टकसाली प्रयोगों का समावेश करता है, जिससे पाठक को सहज ही उस अंचल के वातावरण का सजीव बोध होने लगता है। ऐसे उपन्यासों की भाषा एक विशेष प्रकार के स्थानीय ढाँचे में ढली होती है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उपन्यास की सामान्य भाषा में एकरूपता बनी रहे, आंचलिक बोलचाल के प्रयोग इसी सीमा तक समाविष्ट हों जहाँ तक वे परिनिष्ठित भाषा के भीतर खप सकें। ऐसा संतुलन न रहने पर सारे उपन्यास की भाषा अनेक अटपटे प्रयोगों का अजायबघर हो जायगी।'[८४]

अन्य आंचलिक उपन्यासों की अपेक्षा रेणु का 'मैला आंचल' आंचलिक उपन्यास की संतुलित भाषिक संरचना प्रस्तुत करता है। सांस्कृतिक और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों की भाषा में अधिक वैविध्य और वैचित्र्य होता है। इसका प्रमुख कारण है—लेखक का यथार्थवाद के प्रति विशेष आग्रह। भाषा में भी यथार्थवादी शिल्प का प्रयोग मिलता है। इससे अंचल के साथ समग्र भारत का अखंड चित्र बनता है।

जेम्स ज्वायस ने 'यूलीसेस' में डबलिन नगर, वहाँ के नागरिक और समस्त वातावरण को समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। इसकी घटनाएँ चौबीस घंटों में घटित होती हैं। सन्निधान शैली में लिखा गया यह उपन्यास जीवन को खंडों में विभक्त कर देता है और उन्हें बातचीत के दौरान संदर्भ संकेतों के रूप में सैकड़ों पृष्ठों में बिखेर देता है, जिससे वह घटनाओं और व्यक्तियों के कार्य-कलापों के

कालक्रम को बाधित कर देता है और डब्लिन की समकालिक दृश्यात्मकता को समग्रता के साथ प्रस्तुत कर देता है। उसी प्रकार की सन्निधान शैली का उत्कृष्ट एवं अनुपम रूप हमें रेणु के मेरीगंज में मिलता है, जिसकी कथा मार्टिन की नीलकोठी से अंग्रेजों और तड़बन्ना नवाबों तक फैले हुए इतिहास के बावजूद केवल तीन वर्षों में सिमटी हुई है। डॉ० इन्दु प्रकाश पांडेय का कहना है—'मेरीगंज की कथा ततमा टोली से घूमती हुई गाँव के अनेक टोलों में भटकती हुई मठ की अनैतिकता का उद्घाटन करती हुई जहाँ एक ओर मैला आंचल को चरितार्थ करती है, वहीं डॉ० प्रशांत के कुमार नीलोत्पल के माध्यम में और बाबा बावनदास के बलिदान की आशावादी ध्वनि में सुनाई पड़ती है।'[८५]

आंचलिक उपन्यास में कालक्रम को बाधित कर कथा को—विशिष्ठ स्थान की कथा को—सन्निधान शैली में समकालिकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार औपन्यासिक आंचलिकता कथा के कालिक (टेंपोरल) विकास को बाधित कर स्थानीय (स्पेशियल) आयाम में फैलाती है। अर्थात् लेखक के लिए औपन्यासिक कार्य-व्यापार के स्थान का भौगोलिक निर्देश और निरूपण आवश्यक हो जाता है। वह इस निश्चित भौगोलिक स्थान का विशिष्टीकरण करता है। इसका सीधा सबंध समाज से है, वहाँ की जनजाति और उनकी समस्याओं से है। इसलिए इसके समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता होती है। विभिन्न आंचलिक उपन्यासकारों ने समाज का चित्रण किया है। इन दृष्टियों से उसका अध्ययन हुआ है—

(क) समाज के विविध वर्गों संस्थाओं के चित्रण में कहाँ-कहाँ साम्य और वैषम्य है।

(ख) औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से उन उपन्यासकारों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसी के अंतर्गत भाषा-शिल्प का भी अध्ययन हुआ है।

(ग) जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास की व्याख्या के समय हमें उपन्यास में कालसंगत ऐतिहासिक तथ्यों की जाँच-पडताल करनी पड़ती है, उसी प्रकार आंचलिक उपन्यास में हमें सेटिंग के अध्ययन के लिए तथाकथित भौगोलिक स्थान अथवा सामाजिक समुदाय के उपलब्ध जीवन से तालमेल बैठाना पड़ता है। आंचलिक उपन्यासकार यह तालमेल किस प्रकार बैठा पाए हैं—इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास हुआ है।

समाजशास्त्रीय एवं औपन्यासिक शिल्पगत तुलनात्मक समीक्षा से यही पता चलता है कि रेणु का स्थान दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। इसलिए कि उन्होंने अपने सेटिंग का निर्माण उपलब्ध जीवन से इस प्रकार किया है कि सत्य का भ्रम (इल्यूसन ऑफ ट्रुथ) हो जाता है। यही उपन्यासकार की सफलता का कारण है।

संदर्भ-संकेत

१. डॉ० बदरी प्रसाद : हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना, पृ० ६
२. साहित्यकोश भाग १, पृ० ८८८
३. हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना, पृ० ९
४. वही, पृ० ९-१०
५. डॉ० इन्दुप्रकाश पांडेय : औपन्यासिक आंचलिकता, विश्वभारती पत्रिका, अप्रैल १९८१, मार्च १९८२
६. उदयशंकर भट्ट : लोक और परलोक, पृ० ११७
७. शिवशंकर शुक्ल : मोंगरा, पृ० १३
८. परती परिकथा, पृ० १३५
९. आधा गाँव, पृ० ३५१
१०. पानी के प्राचीर, पृ० ६७
११. वही, पृ० ६७
१२. मैला आंचल, पृ० ५१-५२
१३. वही, पृ० १५
१४. आधा गाँव, पृ० ११२
अलग-अलग वैतरणी, पृ० १७०
१५. मैला आंचल, पृ० २८
१६. वही, पृ० २९
१७. जल टूटता हुआ, पृ० ३२५
१८. मैला आंचल, पृ० २१७
१९. वही, पृ० २११
२०. शिवशंकर शुक्ल : मोंगरा, पृ० १३
२१. परती परिकथा, पृ० २४२
२२. वही, पृ० ३४६
२३. वही, पृ० १४६
२४. सच्चिदानंद धूमकेतु : माटी की महँक, पृ० २८६
२५. वही, पृ० ४२४
२६. आधा गाँव, पृ० ३५१
२७. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० ६०२
२८. सच्चिदानंद धूमकेतु : माटी की महँक, पृ० ४०२
२९. परती परिकथा, पृ० ३७१

३०. वही, पृ० ४३२
३१. उदयशंकर भट्ट : परलोक, पृ० ३३
३२. वही, पृ० ११६
३३. अलग-अलग वैतरणी, पृ० ६६१
३४. तारा प्रकाश जोशी : संचेतना, पृ० १५
३५. जल टूटता हुआ, पृ० २६२
३६. आधा गाँव, पृ० ३२०
३७. वही, पृ० ११५
३८. पानी के प्राचीर, पृ० २६
३९. जल टूटता हुआ, पृ० १४४
४०. मैला आंचल, पृ० १५७
४१. जल टूटता हुआ, पृ० १४६
४२. परती परिकथा, पृ० १७२
४३. उदयशंकर भट्ट—सागर लहरें और मनुष्य, पृ० ७८
४४. नागार्जुन—नई पौध, पृ० ७२
४५. नागार्जुन—रतिनाथ की चाची, पृ० ८०
४६. जल टूटता हुआ, पृ० १०२
४७. बलभद्र ठाकुर : देवताओं के देश में, पृ० १६
४८. जल टूटता हुआ, पृ० ११७
४९. बलचनमा
५०. गंगा मैया
५१. जल टूटता हुआ
५२. डॉ० रणवीर रांग्रा, हिंदी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास, पृ०२१०
५३. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० १६२-१६३
५४. मैला आंचल, पृ० ११०
५५. डॉ० मृत्युंजय उपाध्याय : समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० ११७
५६. मैला आंचल, पृ० १६
५७. वही, परिच्छेद ८
५८. जल टूटता हुआ, लेखक की भूमिका
५९. परती परिकथा, पृ० ४७१
६०. डा० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ५७८

६१. डा० मृत्युंजय उपाध्याय : समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० १०३
६२. परती परिकथा, १८३-१८६
६३. डा० मृत्युंजय उपाध्याय : समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० ११८
६४. डा० ज्ञानचन्द गुप्त : आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प, पृ० १७२
६५. डा० इन्दु प्रकाश पाण्डेय, औपन्यासिक आंचलिकता
६६. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ११०
६७. विवेक के रंग—सं० देवीशंकर अवस्थी, पृ० २६३
६८. वही, पृ० २६३
६९. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ११५
७०. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, पृ० १९४
७१. डा० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ५५७
७२. डा० मृत्युंजय उपाध्याय : समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० १४२
७३. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० ५९५
७४. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० १३३
७५. बलचनमा, पृ० ५
७६. वही, पृ० १२०
७७. वही, पृ० ८
७८. परती : परिकथा, पृ० २८५
७९. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० १३६
८०. विश्वभारती पत्रिका, खण्ड २१, अंक ४, पृ० १२६
८१. वही, पृ० १२७
८२. महेन्द्र और शर्मा लिखित हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और विवेचन, अगस्त १९६३, पृ० १३२
८३. विश्वभारती पत्रिका में डा० इन्दु प्रकाश पाण्डेय का लेख 'औपन्यासिक आंचलिकता', पृ० १३२
८४. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ० १०, १५, १७, १८ एवं २७
८५. रेणु की याद में : कुमार विमल, नया प्रतीक
८६. डा० धनंजय वर्मा : परती परिकथा—एक स्वतन्त्र कलाकृति, आलोचना पूर्णाङ्क २४

८७. मैला आंचल, पृ० ६३
८८. जल टूटता हुआ, पृ० ३०८
८९. पानी के प्राचीर ,पृ० २३२
९०. वही, पृ० २३३
९१. वही, पृ० २३३
९२. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० २३१
९३. होलदार, पृ० ९
९४. भाषा की संस्कृति—आधुनिक हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में—देवकीनन्दन श्रीवास्तव, विश्वभारती पत्रिका, अप्रैल १९८१, मार्च १९८२, पृ० १४६
९५. औपन्यासिक आंचलिकता—डा० इन्दुप्रकाश पाण्डेय, उपर्युक्त पत्रिका, पृ० १२५

उपसंहार

उपन्यास मानव जीवन की गाथा है। जीवन के संघर्ष और जटिलता का आख्यान। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है, जटिलता और संघर्ष उपन्यासों में।[1] विज्ञान के विकास के फलस्वरूप जीवन में अपेक्षाकृत अधिक गुत्थियाँ और उलझनें आई हैं। इसीलिए उपन्यास आधुनिक युग की सर्वाधिक लोकप्रिय कला है। अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा गतिशील, समय में निरंतर परिवर्तनशील, जीवन-यथार्थ के अंकन के प्रति इसकी आग्रहपूर्ण प्रयत्नशीलता प्रारंभ से ही इसे अपने विषय, रूप, प्रविधियों में परिवर्तन कर नव्यता तथा प्रयोगशीलता के लिए प्रेरित करती रही है।

उपन्यास जीवन के कालिक तथा युगीन स्वरूप को व्यंजित करता है और समाजशास्त्रीय अध्ययन उपन्यस्त समाज के आंतरिक स्वरूप का, सामाजिक संस्थाओं से पड़ने वाले प्रभाव का। यह इसलिए आवश्यक है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् नवजागरण का आग्रह बढ़ा, तो देश की प्रबुद्ध चेतना का ध्यान देश के उपेक्षित भूखंडों और विस्मृत तथा तिरस्कृत वर्गों और जातियों की ओर गया। साहित्यकार अपने दायित्व को पहचानकर इस ओर सचेष्ट जागरुकता से बढ़ा और उसने ग्राम अंचल से लेकर शहर अंचल के जीवन-रूपों में स्पंदन का अनुभव किया। यद्यपि इस दिशा में कदम प्रेमचंद ने उठाया था, किन्तु इस कदम और 'देहाती दुनिया' तथा 'बलचनमा' में एक मौलिक अंतर है। यहीं से आंचलिक उपन्यास एक नई दिशा में अपनी गुणवत्ता स्थापित करता है। ग्रामीण अंचल की ओर विशेष आग्रह ने संधान के नए क्षितिज खोले और आंचलिक उपन्यास यथार्थ की भूमि पर नई दृष्टि और संवेदना के गवाक्ष बने। यह एक नया साहित्यिक प्रवर्तन है। एक नई दिशा की खोज है। फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल' लिखकर आंचलिकता को एक सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके उपन्यासों में वर्णित समाज के अध्ययन से पता चलता है कि उसमें आंचलिक समाज की विशिष्टता उपन्यस्त है। वह इस कौशल और संवेदना की संश्लिष्टता के साथ व्यक्त हुआ है कि वह संपूर्ण भारतीय समाज की आशा-आकांक्षाओं, स्वप्न-संभावनाओं, सीमा-दुर्बलताओं

की ओर संकेत करता है। इसलिए समाजशास्त्र की दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों का अध्ययन अपेक्षित हो गया है।

आंचलिक उपन्यास की प्रमुख उपलब्धि है देश, काल या परिवेश का सर्वथा नवीन रूप में ग्रहण। इन उपन्यासों में परिवेश मुख्य हो गया है। यह पृष्ठभूमि नहीं; अंचल की समग्रता का पोषक-तत्व बनकर आता है। अन्य उपन्यासों की तरह वह साधन नहीं रहकर साध्य बन गया। इनमें प्रदेश-विशेष या जाति-विशेष के जीवन-प्रश्न, रीति-रिवाजों, प्रथा, परंपरा, आस्था, संस्कृति, लोक-जीवन, बोली, गीत, लोक-कथा आदि का चित्रण विशेष कौशल और विस्तार से किया गया और देशकाल को ही नायक बनाने का प्रयास हुआ है।

समसामयिक चेतना तथा आधुनिक भावबोध इन उपन्यासों में गहराई से उभरा है। अंचल की प्राकृतिक अखंडता बाहर के प्रभावों से खंडित हो रही है। फलतः वहां के जन-जीवन पर समसामयिक जीवन-मूल्यों का प्रभाव स्वाभाविक है। उस युग को दो विचारधाराओं ने व्यापक रूप से प्रभावित किया—गांधीवादी विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधारा। फलतः अंचल के जीवन में जो परिवर्तन घटित हो रहा था, वही आंचलिक उपन्यास की विशेष प्रवृत्ति बना। आंचलिक उपन्यासकारों का ध्येय रहा सामाजिक विषमता और राजनीतिक संघर्ष के उद्घाटन द्वारा सामाजिक चेतना का उदय। इस वैषम्य और संघर्ष ने सामाजिक संस्थाओं, उपादानों एवं घटकों को भी प्रभावित किया। पारिवारिक विघटन, दाम्पत्य जीवन में बिखराव, तनाव, दरार, बंधुत्व भाव में त्याग और सहयोग के स्थान पर स्वार्थ-परता आदि प्रवृत्तियों का विकास होने लगा। आंचलिक उपन्यासकारों ने इसका स्पष्ट विवेचन किया है। आर्थिक विषमता और विद्रूपता ने न केवल सामाजिक संबंधों को विषाक्त बनाया, मनुष्य को आत्म-केन्द्रित होने को विवश किया वरन् व्यापक परिपार्श्व में मानवता के विकास पर प्रश्नचिह्न लगाने का काम किया।

दिनकर लिखते हैं—'साहित्य की अट्टालिका जीवन की आधार-शिला पर खड़ी होती है और साहित्यकार के हृदय के तार तब तक नहीं बजते जब तक उन पर जीवन का आघात नहीं होता।[2] आंचलिक उपन्यासकारों ने इस आघात का झेला और मानवता के ह्रास के विरुद्ध मानवता के उन्नयन का प्रयास प्रारंभ किया। फलतः सामाजिक कुरीतियों पर चोट, आत्म-गौरव के संचार, राजनीतिक जागरण के उदय आदि द्वारा मानवता के उत्थान की चेष्टा होने लगी। सुदूर भविष्य में राष्ट्र के नव निर्माण का जो आशाप्रद स्वप्न दिखाई दे रहा है, उसके प्रथम सोपान के रूप में इस समय विद्यमान परिस्थितियों के अनुरूप पुनर्निर्माण के कार्य को पूर्ण कर प्रगति के रथ को आगे बढ़ाना ही आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य परिलक्षित होता है।[3]

आंचलिक उपन्यासकारों ने एक ओर यथार्थ के माध्यम से भारतीय ग्रामीण एवं जनजातीय समाज के परंपरागत स्वरूप को साहित्य के आंगन में प्रस्तुत किया तथा ग्रामीण और जनजातीय जनता की विविध समस्याओं से राष्ट्र को अवगत कराया। दूसरी ओर आदर्श के माध्यम से उस समाज के विकास के लिए भरपूर प्रयास किया। उनकी समस्याओं के समुचित समाधान दिए—उनकी आशा-आकांक्षाओं का औचित्य की वाणी दी। इस प्रक्रिया द्वारा इस विधा में समसामयिक ग्रामीण एवं जनजातीय समाज के मनोभावों का जीवंत चित्रण हुआ, साथ ही परंपरागत परिवेश में प्रगति के नूतन आयामों का प्रस्तुतीकरण भी हुआ। वस्तुतः हिंदी के आंचलिक उपन्यास साहित्य के डॉ० प्रशांत 'मैला आंचल', जितेन्द्र 'परती परिकथा', सतीश 'जल टूटता हुआ', सुखराम 'कब तक पुकारूँ', विमल 'रीछ' एवं गौरी 'माटी की महँक' ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण में किसी आलोक स्तंभ से कम नहीं है। ये प्रजातांत्रिक मूल्यों के आधार पर परंपरागत सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने के लिए अपने समग्र साधनों को समर्पित करते हैं और सैकड़ों वर्षों से मानव के जर्जर मन का उद्धार करने का प्रयास करते हैं।

भाषा और शैली के प्रयोग में भी आंचलिक उपन्यासकारों ने आंचलिक अभिव्यक्ति के साधनों को वरीयता दी है। उन्होंने सदा अपने आसपास के अंचल की लोकभाषा एवं उसके नियामक तत्वों का उपयोग किया है। इसलिए सर्वसम्मत भाषा के परिनिष्ठित रूप से इसका स्वरूप अलग है। यहाँ विचलन एवं विपथन के अनेक उदाहरण मिलेंगे। परंतु वस्तुतः यही विपथनशीलता आंचलिक भाषा की विशिष्टता है। यही वहाँ के जन-जीवन की सच्ची पहचान बनाती है। लोकभाषा और लोकगीतों के प्रयोग ने भाषा को सरलता और संगीतात्मकता से युक्त किया, तो विभिन्न अंचलों के मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों, नये शब्दों ने ग्रामीण समाज के विशिष्ट अर्थों से परिचित कराया। भाषा के संगीतमय प्रयोग ने उपन्यास के गद्य में काव्यात्मकता भर दी। भावात्मक शैली का प्रयोग फोटोग्रैफिक चित्रण के साथ उसकी नई पद्धति है।

आंचलिक उपन्यासों के ग्राम-यथार्थ, सामाजिक परिस्थितियों एवं उसके अंतर्संबंधों के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमचंद के बाद ग्राम-यथार्थ की जो जीवंतधारा घोर वैयक्तिकता की अहंवादी चट्टानों और मनोवैज्ञानिकता की उलझनपूर्ण सघन झाड़ियों में फँसकर अवरुद्ध हो गई थी, उसी को आंचलिक उपन्यासकारों ने भोगे हुए ग्रामीण जीवन-यथार्थ के सच्चे अनुभवों को तरल अनुभूतियों में ढालकर इतनी गतिशीलता और तीव्रता पैदा कर दी। फलतः सारे अवरोधक

स्वयं ही रास्ते से हट गए। प्रेमचंद द्वारा प्रवाहित वह यथार्थवादी धारा और अधिक विस्तार तथा गहराई से जन-जीवन को सींचने लगी।[३] अतः यह कहना सही है कि 'आंचलिक उपन्यास सामाजिक उपन्यास की प्रतिक्रिया में नहीं, बल्कि विद्रोह में निर्मित है।' नायक-नायिका आश्रित, मध्यवर्गीय शहराती जीवन-परक मात्र सर्वहारा का नाम लेकर राजनीतिक प्रतिबद्धता वाली कथा-रचना की प्रतिक्रिया में भारतीय जन-जीवन से सीधे जुड़ने वाले और जनभाषा के मुहावरों से सराबोर जीवंत कथा प्रयोगों का विलक्षण संघटन है आंचलिक उपन्यास।

आंचलिक उपन्यासकार अनुभवहीन विराट या महत के पीछे न दौड़कर अपने अनुभव की परिधि में आने वाले जीवन तथा स्वयं जीए और भोगे हुए जीवन-यथार्थ को अंचल विशेष के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त करता है। डॉ० नंददुलारे वाजपेयी ने इसी स्थिति की ओर संकेत किया है—'उपन्यास की विषयवस्तु और लेखन प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता तथा गतिहीनता की स्थिति को देखकर कुछ लेखकों ने अपने लेखन की पुरानी परिपाटी बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण रीति-नीति वाली जातियों और स्थितियों के चित्रण को अपनाया। उनके लिए यह एक नया प्रयोग था।'[४] इस प्रयोग का प्रारंभ किया नागार्जुन ने और इसे विकसित कर चरम परिणति पर पहुँचाने का श्रेय विशेषतः फणीश्वरनाथ रेणु एवं अन्य अनेक उपन्यासकारों को है। उनके लिए यह एक औपन्यासिक रचना का नया किंतु सहज अनुभव था। रेणु ने अपने आंचलिक उपन्यासों में समाज के जिन अंगों, पक्षों और संस्थाओं का वर्णन किया है, उन पर राजनीतिक, सांस्कृतिक कारणों का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके सभी प्रभावक तत्वों का भी समानांतर रूप से उल्लेख किया है। इसलिए आंचलिक उपन्यास का बदलता हुआ यह सामाजिक परिवेश अपने हर बदलाव की प्रतीति से पाठक को आत्मीयता से भर देता है। फलस्वरूप पाठक को आंचलिक उपन्यासों की अस्मिता और ऊर्जा को स्वीकारने के लिए किसी बौद्धिक प्रक्रिया से गुजरना नहीं पड़ता अर्थात् उपन्यास का यह नया असर स्वाभाविक रूप से अपने रस में कभी पाठक को प्लावित कर देता है, कभी सराबोर। पाठकों को ऐसा भी भास नहीं होता कि वे किसी खास चौकठे में किसी खास मंसूबे से ढाले हुए कोई रचना पढ़ रहा है, बल्कि उसे ऐसा लगता है कि वह जिस परिवर्तित हो रही भारतीय जीवन शैली और लोकमानस की अभिव्यक्ति के लिए वर्षों से जिस औपन्यासिक संरचना की प्रतीक्षा कर रहा था, वह 'मैला आंचल' या तत्सदृश्य हो सकते हैं, और नहीं। उनके ढाँचे में परिवर्तन परिलक्षित होता है, फिर भी रेणु आंचलिक जीवन की मौलिकता पर आँच नहीं आने देते हैं। कारण, आंचलिकता एक प्रवृत्यात्मक विशेषता है। 'सृजन-

तत्व की प्रधानता के जरिए उपन्यास के प्रकृति-निर्णय का सिद्धांत बनाया जाए, तो आंचलिकता एक विशिष्ट औपन्यासिक दृष्टिकोण है।'[५]

यह अंचल या क्षेत्र विशेष न केवल भौगोलिक और प्राकृतिक दृष्टि से अपने आसपास के विस्तृत क्षेत्र से भिन्न और विशिष्ट होता है, बल्कि इसकी सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परिवेश, आर्थिक समस्याएँ तथा निवासियों की मानसिकता भी सामान्य से भिन्न और विशिष्ट होती है।[६] इन सभी विशिष्टताओं के प्रभाव से वहां का जन-जीवन, उनके रहन-सहन, खान-पान, उत्सव त्योहार, आचार-विचार तथा संपूर्ण जीवन-पद्धति ही अपना एक विशिष्ट रूप धारण कर लेती है।[७] यही कारण है कि रेणु के 'मैला आंचल' का मेरीगंज, 'परती परिकथा' का परानपुर अपनी आंचलिक विशेषताओं के कारण इतने विशिष्ट हो गए हैं कि इन गांवों या अंचलों की कहानी केवल इन्हीं की हो सकती है, किन्हीं अन्य गांवों या अंचलों की नहीं।

सामान्यजन की प्रतिष्ठा की पुर्नस्थापना का स्तुत्य प्रयास आंचलिक उपन्यासकारों ने किया है। समाज में मानव महत्ता की स्थापना की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं—"सच तो यह है कि समस्या चाहे अखंड-मानव-जाति से सम्बन्धित हो या राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षों से, हिंदी के साहित्यकार के सामने मूर्धन्य प्रश्न है मानव-मूल्यों का, एक ऐसी नैतिकता को जन्म देने का, जो अब तक की नैतिकता से भिन्न और नवीन हो, और जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए भी उसे रागात्मक एकता में बाँध सके। वह ऐसे मूल्यों और नैतिकता की स्थापना होते हुए देखना चाहता है जिसमें नायकों की नहीं, मठाधीशों की नहीं, अधिनायकों की नहीं, पार्टी के नियंत्रणों एवं निरंकुशता की नहीं, वरन् सामान्य जन के भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन के सर्वांगीण विकास की प्रतिष्ठा हो सके, सामान्यजन का निस्तरंग तरंगायित हो उठे और उसमें सुख के जलजात खिल उठें।" हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने समय की इस आवश्यकता को स्वीकार किया है और सामान्य जन को प्रतिष्ठा दी है। 'मैला आंचल' में डॉ० प्रशांत का दृढ़ संकल्प ही इस तथ्य को पुष्ट करता है—'ममता मैं फिर काम शुरू करूँगा, यहीं इस गांव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आंसू से भींगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहावेंगे। मैं साधना करूँगा, ग्राम्यवासिनी भारतमाता के मैले आंचल तले। कम से कम एक ही गांव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कुराहट लौटा सकूं...।[८]

'मैला आंचल' की रचना का उद्देश्य समाज के एक बड़े वर्ग जो पीड़ित, शापित, तापित, शोषित है, के अधिकतम कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। साधन वैज्ञानिक चमत्कार, प्रयोगशाला और शक्तियां हों या मानव-मन के मुरझाए

पौधों का सिंचन करना हो। रेणु के आशावाद और अथक प्रयास का ही यह परिणाम है—'यह अंधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूंजती है। पवित्र वाणी। उन्हें प्रकाश मिल गया है। प्रेम और अहिंसा की साधना सफल हो चुकी है।'[९] समाजशास्त्र हो या भाषाशास्त्र या उससे सम्बन्धित अध्ययन, मनन, अनुशीलन—सबका केंद्र मनुष्य ही है। मनुष्य की सर्जनात्मक क्षमता का सही विकास और प्रदोहन हो, समाज के समग्र विकास का द्वार उन्मुक्त हो। रेणु की इसमें गहरी आस्था है—'विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है। उसको पराजित करना असंभव है, प्रचंड शक्तिशाली बमों से भी नहीं।'[१०] मानव के प्रति इस अखंड आस्था और उसकी अदम्य शक्ति का स्वर सभी आंचलिक उपन्यासों में सुनाई पड़ता है। सच पूछिए, तो यही उसकी शक्ति है और उसकी लोकप्रियता का रहस्य भी। डॉ० शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' का शशिकांत भी डॉ० प्रशांत की तरह मानवीय आस्था की आवश्यकता पर बल देता है—'निराशा, दीनता और जहालत के कीच को फोड़कर निकले हुए अद्‌भुत कोमल-कोमल हाथीदाँत के बने छत्रक और जब ये उगते थे तो एक एहसास नसों में पारे की तरह दौड़ने लगता था कि जमीन कोई बुरी नहीं होती, इंसान के अंदर सिर्फ आस्था और विश्वास चाहिए।''[११]

एक ओर आंचलिक उपन्यासों ने अंचल विशेष को उसकी समग्रता, विशेषता में उभारकर राष्ट्रीय चेतना एवं भावात्मक एकता को प्रोत्साहित किया। एक-एक अंचल किंवा भूखंड के बोध से विशाल देश के अनेक भूखंडों का बोध होता है। फलतः एक व्यापक राष्ट्रीय भावना का प्रभात फूटता है। दूसरी ओर इसने स्वातंत्र्योत्तर भारत के समाजवादी समाज की रचना से सम्बन्धित कार्यों का अनंत विस्तार किया। इसमें सरकारी तंत्र का भी योगदान रहा है पर तन्त्र मानवीय चेतना को उद्‌बुद्ध नहीं कर पाता, उसे अपनी समस्याओं से जूझना नहीं सिखा सकता। पर आंचलिक उपन्यासकारों ने ऐसा किया—'परती परिकथा' और 'मैला आंचल' तो धरती और उसके पुत्रों की व्यथा-कथा के साथ उसके सर्वांगीण विकास की संभावनाओं का केन्द्र है। मानव के बाह्य एवं आंतरिक विकास के लिए ही सांस्कृतिक चेतना को गति मिली। लोक-संस्कृति, परंपराओं, विश्वासों, बोली, वाणी, देशभूषा, खान-पान आदि का जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया गया। इससे राष्ट्रीय संस्कृति को गति मिली। आर्थिक विकास के बिना किसी प्रकार के विकास की कल्पना अधूरी किंवा व्यर्थ है। इसलिए स्वातंत्र्योत्तर भारत में आर्थिक योजनाओं का क्रियान्वयन महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कृत्य रहा। आंचलिक उपन्यासकारों ने अंचल की आर्थिक समस्याओं और समाधानों को अभिव्यक्ति प्रदान कर राष्ट्रोत्थान में योगदान किया। इसके लिए उसने ग्रामीण अंचल चुना और उसके पिछड़ेपन के कारणों एवं निदान की ओर जन-सामान्य का ध्यान आकृष्ट किया।

आंचलिक उपन्यासकारों का लक्ष्य स्थानीयता या लोकल कलर को महत्व देकर कोई चमत्कार उत्पन्न करना या वाहवाही लूटना नहीं है । वह आंचलिकता का संस्पर्श वहीं देता है, जहां उसे आंचलिकता की विशिष्टताओं का उद्घाटन करना होता है । वहां उसका उद्देश्य नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उठते उभरते हुए नए मानव, आर्थिक सामाजिक संघर्ष एवं जीवन का चित्रण करना होता है । आंचलिक संस्पर्श समाजवादी मान्यताओं को आकर्षक और मोहक बनाने का साधन मात्र है । इसमें ग्रामीण समाज के टूटते हुए यथार्थ का विश्वसनीय चित्रण तो होता ही है, उन मानवीय संवेदनाओं और उपलब्धियों का भी चित्रण होता है, जो भविष्य के निर्माण में आस्था उत्पन्न करती हैं ।

सभी आंचलिक उपन्यासकारों का लक्ष्य अंचल जीवन के समग्र आख्यान के साथ सामाजिक पुनर्निर्माण है । रेणु को इस कार्य में सर्वाधिक सफलता मिली है । परती को उपजाऊ बनाना हो या मैले अंचल को धोना हो—उन्होंने अपने लक्ष्य का संधान निष्ठापूर्वक किया है । सभी आंचलिक उपन्यास अपने समाज एवं संस्कृति के अविकृत दर्पण हैं । उस समाज, संस्कृति एवं उनके विभिन्न उपादानों, संस्थाओं, घटकों के अध्ययन से शोध-गवेषणा को नई दिशा मिली है ।

संदर्भ-संकेत

१. हिन्दी का उपन्यास साहित्य—नलिन विलोचन शर्मा, आलोचना उपन्यास विशेषांक, १९५७
२. 'साहित्य की उपयोगिता' शीर्षक निबन्ध—रामधारी सिंह दिनकर
३. डा० मृत्युञ्जय उपाध्याय : समकालीन आलोचना और साहित्य, पृ० ११५
४. आलोचना, पूर्णाङ्क २४, पृ० ७
५. मधुकर गंगाधर—हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, आलोचना, जनवरी १९६६, पृ० ७३
६. "A region is a geographic area so unified physiographically and socially, with such likeness of customs and ideas, loyalties, fundamental assumptions and psychological traits. That it is readily distinguishable from other areas."

—The Encyclopaedia Americana, Vol. XVII, p. 473

७. डा० शशिशेखर तिवारी जी से बातचीत के आधार पर
८. फणीश्वरनाथ रेणु—मैला आँचल, पृ० ३३३-३३४
९. वही, पृ० १२२
१०. वही, पृ० १२२
११. डा० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० ५०३

परिशिष्ट 'क'

आधार ग्रंथ

आनन्द प्रकाश जैन	आठवीं भांवर, १९६९
उदयशंकर भट्ट	सागर लहरें और मनुष्य, १९६४
	लोक परलोक, १९५८
	सेठ बाँकेमल
ओम प्रकाश 'निर्मल'	बहता पानी रमता जोगी, १९६९
कृष्णा सोबती	जिन्दगीनामा
केशवप्रसाद मिश्र	कोहबर की शर्त, १९६५
गुरुदयाल सिंह	मढ़ी का दीवा, १९६६
जगदीश चन्द्र पाण्डेय	गगास के तट पर, १९६८
जगदीश चन्द्र	धरती धन न अपना
जवाहर सिंह	साँप और केंचुल
जयप्रकाश भारती	कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़
देवेन्द्र सत्यार्थी	ब्रह्मपुत्र, १९५६
	रथ के पहिये, १९५३
	दूध-गाछ
देवकीनन्दन खत्री	चन्द्रकान्ता सन्तति
धर्मवीर भारती	सूरज का सातवाँ घोड़ा
नागार्जुन	रतिनाथ की चाची, १९६७
	बलचनमा, १९६७
	बाबा बटेसरनाथ, १९६०
	दुःखमोचन, १९६६
	वरुण के बेटे, १९७१
	नई पौध, १९६९
	उग्रतारा, १९६३
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'	फागुन के दिन चार
फणीश्वरनाथ 'रेणु'	मैला आँचल, १९६९
	परती : परिकथा, १९६६
	जुलूस
	दीर्घतपा
	ठुमरी
	आदिम रात्रि की महक

(भारत यायावर द्वारा 'रेणु' की सम्पादित पुस्तकें)	वन तुलसी की गन्ध, १९८४
	श्रुत अश्रुत पूर्व, १९८४
	एक श्रावणी दोपहरी की धूप, १९८४
	एकांकी के दृश्य, १९८६
बलभद्र ठाकुर	मुक्तावती
	आदित्यनाथ
	नेपाल की वो बेटी
	देवताओं के देश में
भगवतीचरण वर्मा	चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते
भैरवप्रसाद गुप्त	सत्ती मैया का चौरा, १९५९
	गंगा मैया, १९६०
मनहर चौहान	हिरन साँवरी, १९६२
मायानन्द मिश्र	माटी के लोग सोने की नैया
योगेन्द्रप्रसाद सिन्हा	वन के मन में, १९६२
	वनलक्ष्मी, १९५६
रांगेय राघव	कब तक पुकारूँ
	काका, मुर्दों का टीला
राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'	जंगल के फूल, १९६९
	सूरज किरण की छाँव, १९५९
रामदरश मिश्र	पानी के प्राचीर, १९६१
	जल टूटता हुआ
	सूखता हुआ तालाब
राही मासूम रजा	आधा गाँव
लक्ष्मीनारायण लाल	बया का घोंसला और साँप
विवेकी राय	बबूल, १९६७
शिवप्रसाद सिंह	अलग-अलग वैतरणी, १९६७
शिवशंकर शुक्ल	मोंगरा
शैलेश मटियानी	होलदार, चौथी मुट्ठी, चिट्ठी रसैन
श्रीलाल शुक्ल	राग दरबारी
श्याम परमार	मोरझाल, १९६३
शिवपूजन सहाय	देहाती दुनिया
शिवप्रसाद 'रुद्र'	बहती गंगा
सच्चिदानन्द 'धूमकेतु'	माटी की महक, १९६९
सुरेन्द्रपाल	लोकलाज खोई, १९६३
हिमांशु श्रीवास्तव	नदी फिर बह चली, १९६१
	लोहे के पंख

(ख) सन्दर्भ-ग्रंथ हिन्दी

आदर्श सक्सेना	हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, १९७१
अज्ञेय	हिन्दी साहित्य – एक आधुनिक परिदृश्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
ओम शुक्ल	हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास, अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर, १९७४
इन्द्रनाथ मदान	आज का हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
	हिन्दी उपन्यास—एक नई दृष्टि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
कांति वर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
कुमारी नगीना जैन	आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७६
कुसुम सोफट	फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला, वसुमति, इलाहाबाद, १९६८
कामता प्रसाद गुरु	हिन्दी व्याकरण, का० ना० प्र० सभा
किशोरीदास बाजपेयी	हिन्दी शब्दानुशासन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०३३ वि०
	अच्छी हिन्दी का नमूना, जनवाणी प्रेस, कलकत्ता—२००५ वि०
कुमार विमल	सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९६७
कृष्ण नाग	हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि का विकास, लोकचेतना प्रकाशन, जबलपुर, १९६२
कृष्णकान्त त्रिवेदी	प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, किशोर विद्या निकेतन, १९८७
गणेशन	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६२
गोपाल राय	उपन्यास का शिल्प, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, १९७३
गोविन्द त्रिगुणायत	शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५९
चतुर्भुज सहाय	हिन्दी वाक्य रचना, अर्दली बाजार, वाराणसी, १९७८

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	हिन्दी की गद्य शैली का विवेचन, नागरी प्र०स०, वाराणसी
	हिन्दी गद्य शैली का विकास, नागरी प्र० स०, वाराणसी
जवाहर सिंह	हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९८६
जेकब पी० जार्ज	आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार, ग्रंथम, कानपुर, १९६६
जैनेन्द्र कुमार	साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९६१
त्रिभुवन सिंह	हिन्दी उपन्यास—शिल्प और प्रयोग, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९७३
	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचार पुस्तकालय, वाराणसी १९६५
देवराज उपाध्याय	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान
देवीशंकर अवस्थी	विवेक के रंग, भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता, १९६५
देवेन्द्रनाथ शर्मा	राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएं और समाधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
नगेन्द्र	विचार और अनुभूति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
	विचार और विश्लेषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
नामवर सिंह	इतिहास आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६२
नन्ददुलारे वाजपेयी	आधुनिक साहित्य, भारतीय भण्डार, प्रयाग
परमानन्द श्रीवास्तव	उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा
पूर्णदेव	रेणु का आंचलिक कथा-साहित्य, आशा प्रकाशन गृह, नई दिल्ली, १९७३
प्रतापनारायण टण्डन	हिन्दी उपन्यास कला
	हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, १९५९
प्रेमचन्द	प्रेमचन्द : कुछ विचार, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद १९६१

प्रेम भटनागर	हिन्दी उपन्यास-शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य, अर्चना प्रकाशन, जयपुर, १९६८
बी० डी० गुप्ता	साहित्य समाज शास्त्रीय सन्दर्भ
बदरी प्रसाद	हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८६
बेचन	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र-विकास
बद्रीदास	हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा
ब्रजबिहारी निगम	संस्कृति एवं सभ्यता, भारतीय दृष्टिकोण, १९८७
भोलानाथ	हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
भोलानाथ तिवारी	भाषा-विज्ञान, किताब महल, इलाहाबाद, १९७३
	भाषा-विज्ञान कोष
	भाषा-शास्त्र की भूमिका, भारती भण्डार, इलाहाबाद, १९७८
भगवती प्रसाद शुक्ल	आंचलिकता से आधुनिक बोध
भारत यायावर	रेणु से भेंट, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९८७
मक्खनलाल शर्मा	हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा, १९६६
महेन्द्र चतुर्वेदी	हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२
महादेवी वर्मा	भारतीय संस्कृति के स्वर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९८६
महेन्द्र शर्मा	हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन
मुकुन्द द्विवेदी	हिन्दी उपन्यास : युगचेतना और पाठकीय संवेदना
मंजुलता सिंह	हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग
मृत्युंजय उपाध्याय	ऐसी थी सुधा, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८६
	उपन्यास-विधा और प्रतापनारायण श्रीवास्तव, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, १९८६
	समकालीन आलोचना और साहित्य, ओम प्रकाशन, दिल्ली, १९८८
राधाकृष्ण	धर्म और समाज, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६१
राधेश्याम कौशिक	हिन्दी के आंचलिक उपन्यास
	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास का शिल्प विकास, मंगल प्रकाशन, जयपुर १९७६

रैल्फ फाक्स — उपन्यास और लोक जीवन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५७
रणवीर रांग्रा — हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, दिल्ली
रामगोपाल सिंह चौहान — आधुनिक हिन्दी उपन्यास
रामदरश मिश्र — हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
सामयिक हिन्दी साहित्य : उपलब्धियाँ
रामखेलावन पाण्डेय — भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, अनुपम प्रकाशन, पटना, १९६७
रामविलास शर्मा — भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७७
परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९८१
नई कविता और अस्तित्ववाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
राजेन्द्र यादव — प्रेमचन्द के पात्र, एक दुनिया : समानान्तर
रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास, न० प्र० सभा, वाराणसी
लक्ष्मण गोविन्द आव्ले — हिन्दी भाषा में उपन्यास
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ, (१९६६), साहित्य भवन, प्रयाग
हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ
लक्ष्मीनारायण लाल — हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९६७
वेदप्रकाश अमिताभ — हिन्दी कहानी के सौ वर्ष, मधुव न प्रकाशन, मथुरा, १९८७
हिन्दी साहित्य : विविध प्रसंग, उपन्यासकार राम दरश मिश्र, वाणी प्र०, दिल्ली, १९८२
विमल शंकर नागर — हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ, प्रेरणा प्रकाशन, मुरादाबाद, १९८६
विश्वंभर मानव — हिन्दी साहित्य का इतिहास
शिवप्रसाद सिंह — आधुनिक परिवेश और नवलेखन, लोक भारती, इलाहाबाद

शिवपूजन सहाय	शिवपूजन रचनावली
शशिभूषण सिंहल	हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ
श्यामसुन्दर घोष	काव्य के नये रूप
	भारतीय मध्यवर्ग, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, १९७२
श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन, इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद
	भाषा रहस्य, इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद
शिवदान सिंह चौहान	साहित्यानुशीलन
शिवशंकर प्रसाद वर्मा	हिन्दी भाषा की भूमिका, भारती भवन, पटना, १९६९
शम्भूलाल दोषी	समाजशास्त्र : सिद्धांत और विश्लेषण
	उच्च सामाजिक मानव विज्ञान, विकास पब्लिकेशन, दिल्ली
सच्चिदानन्द सिन्हा	जिंदगी सभ्यता के हाशिये पर, अभिव्यंजना, दिल्ली, १९८७
सुरेश सिन्हा	हिन्दी उपन्यास
सत्यपाल चुघ	प्रेमचन्दोतर उपन्यासों की शिल्प-विधि, लोक भारती, इलाहाबाद, १९६८
सुभाषिणी शर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर आंचलिक उपन्यासकार
स्वर्णलता	हिन्दी उपन्यास की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि
	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, १९७५
हजारीप्रसाद द्विवेदी	विचार और वितर्क, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९६१
	साहित्य सहचर, हिन्दी साहित्य
ज्ञानचन्द गुप्त	आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, १९७५

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल	मधुमती
भाषा	अभिप्राय
गगनांचल	सम्मेलन पत्रिका
आलोचना	वैचारिकी
समालोचक	पहल
नया आलोचक	साक्षात्कार
नया प्रतीक	अक्षरा

युवा रश्मि	शिखर
संचेतना	वर्तमान साहित्य
पूर्णिमा	हिन्दुस्तान
जनपद आन्दोलन अंक	नवभारत टाइम्स
विश्वभारती पत्रिका	नई दुनिया
परिषद पत्रिका	जनसत्ता
परामर्श	सारिका

संस्कृत की पुस्तकें

पाणिनि सिद्धान्त कौमुदी

वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी चौखम्बा सिरीज

छान्दोग्य उपनिषद

प्रबन्ध प्रकाश

काव्यप्रकाश—आचार्य मम्मट

लघु सिद्धान्त कौमुदो—पाणिनि

हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन

कोशादि

तुलसी शब्द-सागर—संकलनकर्ता पं० हरगोविन्द तिवारी
सम्पादक भोलानाथ तिवारी

समाजविज्ञान कोश—ओमप्रकाश गाबा

भाषाविज्ञान कोश—डा० भोलानाथ तिवारी

साहित्यकोश—भाग १, भाग २, ज्ञानमण्डल, वाराणसी

वृहत हिन्दी कोश—मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, कालिका प्रसाद एवं राजवल्लभ सहाय

मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड) सं० डा० नगेन्द्र, १९६५

भाषा शब्द-कोश—१९३७—पं० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश—१९५२—श्रीवास्तव एवं चतुर्वेदी

हलायुध कोश (सं० १८७९ शकाब्द) सं० जयशङ्कर जोशी

पाणिनीय वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (सन् १९५९)

हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग) सं० राहुल सांस्कृत्यायन और कृष्णदेव उपाध्याय

राष्ट्रीय ग्रंथ सूची—केन्द्रीय संदर्भ पुस्तकालय, कलकत्ता द्वारा सम्पादित, १—१२ भाग

(ग) अंग्रेजी की पुस्तकें

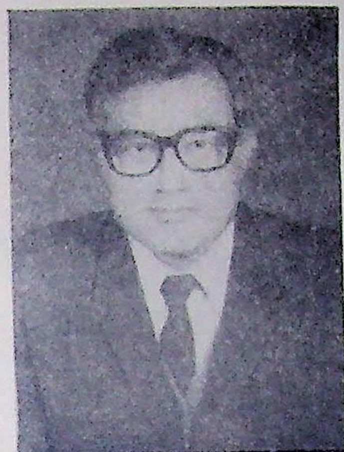
Allen Walter	Reading a novel, Phoenix Hou e Ltd., London, 1956
A. Goldenweiser	Encyclopaedia of the Social Sciences, Vol. V.
Allott, Miriam	Novelists on the Novels, Newyork, 1956
A. Kardiner	The Psychological Frontiers of Society.
Alvin L. Bertrand	An introduction to theory and Method : Basic Sociology, 1967
A. M. Carr-Saunders and P. A. Wilson	The Professions, London, 1933
A. J. Todd	Theories of Social Progress, Newyork, 1926
A. J. Toynbee	Civilization on Trial, Newyork, 1948
Beach, J. W.	20th Century Novel, Appleton-Century-Craft, Newyork, 1956
Brown, E. K.	Rhythm in 'Novel', U. S. A. University of Toronto Press, 1963
Bhowmick, K. L.	Tribal India
C. E. M. Joad	The Story of Civilization, 1956
Cary, Joyce	Art of Reading, Cambridge University Press, London, 1958
Cook, Albert	The Meaning of Fiction, Detroit, 1960
Caudwell, Christopher	Illusion and reality, Peoples Publishing House, Delhi, 1956
Count, Leo Tolstoy	What is Art.
Collins, Norman	The Craft of Fiction, Victor Gollanez Ltd., London
Cowell, F. R.	Culture
Cowley, Malcolm (Editor)	Writers at work, Mercury Books, London, 1958

C. H. Cooley	Social Process, Sociological Theory and Social Research, Newyork, 1930
C. A. Ellwood	Methods in Sociology, Durham, N. C. 1933
C. Wissler	Man and Culture, Newyork, 1938
C. C. Zimmerman and M. E. Frampton	Family and Society, Newyork, 1935
Dobree Bonamy	Modern Prose Style, 1956
Desai, A. R.	Rural Society of India
Devraj, N. K.	The Philosophy of Culture
E. M. Forster	Aspects of the Novel, Edward Arnold & Co, London, 1947
Eliot, T. S.	Note towards the Definitions of Culture
Eden & Cedar Paul	Prolectarian Culture
Fairchild	Dictionary of Sociology
Fox, Ralph	The Novel and the People, Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1958
Fraser, G. S.	The Modern Writer and his world, Curtis Brown Ltd. London, 1961
Green, A. W.	Sociology
Grabo, Carl H.	The Technique of the Novel, Charles Serilnerls & Sons, Newyork, 1933
Gardiner, Harold C.	Norms of the Novel, Newyork, 1953
George, W. H.	A novelist on Novels, W. Collins & Sons & Co. Ltd. London, 1918
Gladston, I.	Freud & Contemporary Culture
Ginsburg, M.	Sociology
Ghurey, G. S.	Caste & Race in India
Havelock Ellis	Sex and Marriage

H. Hudson	An Introduction to the Study of Literature, George C., Hopper and Company Ltd. London, 1960
Henry James	The Art of Fiction, 1960
Hicks, Granville (Editor)	The Living Novel, The Macmillan Company, Newyork
Huxley, Alduous	Point of Counterpoint, Chatto and windus Ltd, London, 1960
Humphrey, Robert	Steam of Consciousness in the Modern Novel, Benkely, 1954
I. P. Pandey	Regionalism in Hindi Novel, 1974
International Encyclopaedia of Social Science	
John R. Cuber	Sociology, A synopsis of Principles
J. Middleton Murry	The Problem of Style
Joyce, Willy Margaret	Literature and Life
Johnson, R. Brinley (Editor)	Novelists on Novels, London, 1928
Kuppuswamy, B.	Social Change in India
Krober & Clyde Kluckohn	Culture : A Critical Review of Concepts and Definitions
Lord Devil Cecil	Hardy the novelist
L. Wilson & W. L. Kolle	Sociological Analysis, Newyork Havecourt Brace, 1949
Lever Katherine	The novel and the reader, Malhuen & Co. Ltd. London, 1961
Lubbock, Percy	The Craft of Fiction, Jonathan Cape, London, 1955
Lucas, F. H.	Style, 1956
Muir, Edwin	The Structure of the Novel, Hogarth Press, London, 1942
Mendilow, A. A.	Time and the Novel, Peteonivill Ltd., London, 1952
Makhan Jha	Readings in Tribal Culture, Inter-India Publications, Delhi, 1983

Maciver, R. M. and Charles H. Page	Society, Macmillan and Co. Ltd., London, 1962
Nanavati M. B. and Anjaria	The Indian Rural Problem (1960)
Obgarn and Nimkoff	A Handbook of Sociology
O. Cawnor (Editor)	Forms of Modern Fiction, Bloomington, University Press, 1959
Powys, John C.	What is Culture
Peeper John	Leisure, The Basis of Culture
Panchandikar, K. C. & Panchandikar, J.	Determinent, Factors of Social Structure and Social Change in India
Rechard Church	The Growth of the English Novel
Raban Jonathan	The Technique of Modern Fiction (1963), Edward Arnold Publication Ltd., London
Srinivas, M. N.	Indian Villages
Scott, James R. A.	The making of Literature, Seeker and warburgh, London, 1956
Summer W. G. & Killer, A. G.	The Science of Society
Toliver, E. Harold and others (Editor)	Perspectives on Fiction
Thomas P.	Indian Women Through the Ages
Tylor E. B.	Primitive Culture
Woolf, Virginia	The Common Reader I, English University Press, London, 1951 Modern Fiction 1919

●●●



डॉ० मृत्युंजय उपाध्याय

जन्म : १ जनवरी, १९४०, कुमैठा (भागलपुर) बिहार

शिक्षा : एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्रकाशित कृतियाँ :

ऐसी थी सुधा (कहानी संग्रह)

उपन्यास विधा और प्रतापनारायण श्रीवास्तव (शोध प्रबन्ध)

समकालीन आलोचना और साहित्य (आलोचना)

प्रेमचन्द : अध्ययन विश्लेषण (सम्पादित)

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पाँच सौ से अधिक कहानियाँ, लेख, कविताएँ प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित। ढाई सौ से अधिक पुस्तकों की समीक्षा 'प्रकर', 'समीक्षा', 'भाषा', 'परिषद पत्रिका', 'हिन्दुस्तान', 'सम्मेलन पत्रिका' आदि में प्रकाशित।

सम्प्रति : विश्वविद्यालय आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, राजा शिवप्रसाद कॉलेज, झरिया।

स्थायी पता : वृन्दावन, राजेन्द्रपथ, धनबाद।